तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन
आगमों से अब तक







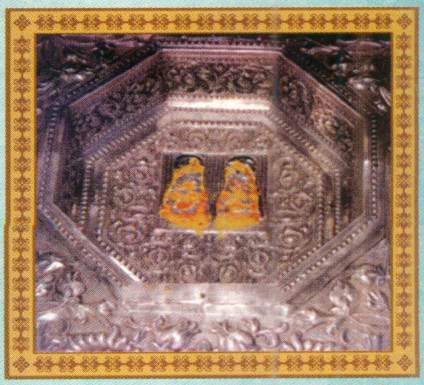
सम्बोधिका

पूज्या प्रवर्त्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा.
परम विदुषी शशिप्रभा श्रीजी म.सा.





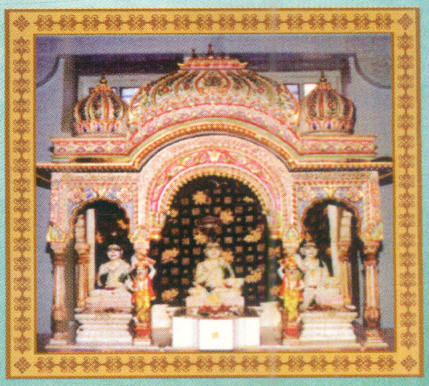
श्री जिनदत्तसूरि अजमेर दादाबाड़ी



श्री मणिधारी जिनचन्द्रसूरि दादाबाड़ी (दिल्ली)



श्री जिनकुशलसूरि मालपुरा दादाबाड़ी (जयपुर)



श्री जिनचन्द्रसूरि बिलाडा दादाबाड़ी (जोधपुर)

तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन

आगमों से अब तक

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-9

2012-13

R.J. 241 / 2007



शोधार्थी

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

निर्देशक

डॉ. सागरमल जैन

जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय

लाडनूं-341306 (राज.)

तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन

आगमों से अब तक

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-9



स्वप्न शिल्पी

आगम मर्मज्ञा प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.

संयम श्रेष्ठा पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

मूर्त्त शिल्पी

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

(विधि प्रभा)

शोध शिल्पी

डॉ. सागरमल जैन

तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन

आगमों से अब तक

कृपा वर्धक : पूज्य आचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागर सूरीश्वरजी म.सा.

मंगल वर्धक : उपाध्याय प्रवर पूज्य गुरुदेव श्री मणिप्रभसागरजी म.सा.

आनन्द वर्धक : आगमज्योति प्रवर्तिनी महोदया पूज्या सज्जन श्रीजी म.सा.

प्रेरणा वर्धक : पूज्य गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

वात्सल्य वर्धक : गुर्वाज्ञा निमग्ना पूज्य प्रियदर्शना श्रीजी म.सा.

स्नेह वर्धक : पूज्य दिव्यदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य तत्वदर्शना श्रीजी म.सा. पूज्य सम्यक्दर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य शुभदर्शना श्रीजी म.सा. पूज्य मुदितप्रज्ञाश्रीजी म.सा., पूज्य शीलगुणाश्रीजी म.सा., सुयोग्या कनकप्रभा जी, सुयोग्या संयमप्रज्ञा जी आदि भगिनी मण्डल

शोधकर्त्री : साध्वी सौम्यगुणाश्री (विधिप्रभा)

ज्ञान वृष्टि : डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक :
- प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड, शाजापुर-465001
  email : sagarmal.jain@gmail.com
- सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
  बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड, पालीताणा-364270

प्रथम संस्करण : सन् 2014

प्रतियाँ : 1000

सहयोग राशि : ₹ 100.00

(पुनः प्रकाशनार्थ)

कम्पोज : विमल चन्द्र मिश्र, वाराणसी

कॅवर सेटिंग : शम्भू भट्टाचार्य, कोलकाता

मुद्रक : Antartica Press, Kolkata

ISBN : 978-81-910801-6-2 (IX)

© All rights reserved by Sajjan Mani Granthmala.

प्राप्ति स्थान

1. श्री सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड,
पो. पालीताणा-364270 (सौराष्ट्र)
फोन : 02848-253701

2. श्री कान्तिलालजी मुकीम
श्री जिनरंगसूरि पौशाल, आड़ी बांस
तल्ला गली, 31/A, पो. कोलकाता-7
मो. 98300-14736

3. श्री भाईसा साहित्य प्रकाशन
M.V. Building, Ist Floor
Hanuman Road, PO : VAPI
Dist. : Valsad-396191 (Gujrat)
मो. 98255-09596

4. पार्श्वनाथ विद्यापीठ
I.T.I. रोड, करौंदी वाराणसी-5 (यू.पी.)
मो. 09450546617

5. डॉ. सागरमलजी जैन
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड
पो. शाजापुर-465001 (म.प्र.)
मो. 94248-76545
फोन : 07364-222218

6. श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर
तीर्थ, कैवल्यधाम
पो. कुम्हारी-490042
जिला– दुर्ग (छ.ग.)
मो. 98271-44296
फोन : 07821-247225

7. श्री धर्मनाथ जैन मन्दिर
84, अमन कोविल स्ट्रीट
कोण्डी थोप, पो. चेन्नई-79 (T.N.)
फोन : 25207936,
044-25207875

8. श्री जिनकुशलसूरि जैन दादावाडी,
महावीर नगर, केम्प रोड
पो. मालेगाँव
जिला- नासिक (महा.)
मो. 9422270223

9. श्री सुनीलजी बोथरा
टूल्स एण्ड हार्डवेयर,
संजय गांधी चौक, स्टेशन रोड
पो. रायपुर (छ.ग.)
फोन : 94252-06183

10. श्री पदमचन्द चौधरी
शिवजीराम भवन, M.S.B. का रास्ता,
जौहरी बाजार
पो. जयपुर-302003
मो. 9414075821, 9887390000

11. श्री विजयराजजी डोसी
जिनकुशल सूरि दादाबाड़ी
89/90 गोविंदप्पा रोड
बसवनगुडी, पो. बैंगलोर (कर्ना.)
मो. 093437-31869

संपर्क सूत्र

श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत
9331032777
श्री रिखबचन्दजी झाड़चूर
9820022641
श्री नवीनजी झाड़चूर
9323105863
श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख
8719950000
श्री जिनेन्द्र बैद
9835564040
श्री पन्नाचन्दजी दूगड़
9831105908

सेवार्पण

जिनके पुनीत पाद पद्मों में, बीता मेरा बचपन।
जिनकी अन्तर प्रेरणा से, पाया महाव्रतों का धन ।।

जिनकी कृपा से प्राप्त हुई, मुझको विद्या रेखा।
जिनकी निश्रा में रहकर, जीवन मूल्यों को सीखा ।।

जिनकी संयम वीणा पर, बजती तप-जप की सरगम।
ज्ञान-ध्यान की फुलवारी से, महक रहा है जीवन हरदम ।।

गुरु सज्जन की सज्जनता जिसमें, झलके विचक्षण गुणों का दर्पण।
उस गुरुवर्य्या की धूलि पाकर, महक उठा जीवन का कण-कण ।।

ऐसी

अनन्य उपकारिणी, संयम उत्कर्षिणी, उत्साह वर्धिनी
संघरत्ना पूज्य गुरुवर्य्या शशिप्रभाश्रीजी म.सा. के
आस्था प्रणीत पाद पद्मों में
अक्षय शब्दांजली



सज्जन मन की आवाज

कर्म ग्रन्थियों को जलाने के लिए
विषय-कषायों को तपाने के लिए
विदेह अवस्था को पाने के लिए
आत्म स्वरूप को संवारने के लिए
शारीरिक स्वस्थता में, मानसिक स्थिरता में
आध्यात्मिक उत्थान में, भाव रोगों के निदान में
संयम रस के पान में, मुक्ति सोपान में
तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित
गुरुजनों द्वारा सेवित
मुमुक्षुओं द्वारा आराधित
भव्य जनों द्वारा वांछित
श्रेष्ठतम तप मार्ग पर
सभी अग्रसर हों
ऐसी मंगल गूंज के साथ....



हार्दिक अनुमोदन

आगम ज्योति, प्रवर्त्तिनी पद विभूषिता,

पूज्य गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की

परम विदुषी शिष्या, अध्ययन रसिका, जैन जगत

की शारदा पुत्री

साध्वी **श्री सौम्यगुणा श्रीजी म.सा. साध्वी श्री**

स्थित प्रज्ञा श्रीजी म.सा., साध्वी श्री संवेग प्रज्ञा

श्रीजी म.सा. आदि ठाणा 3

के सन् 2011 के **कौलकाता ऐतिहासिक चातुर्मास** की

अमिट स्मृति के उपलक्ष्य में

अध्यक्ष **श्री अमरचन्दजी कोठारी** की अन्तरंग इच्छा

एवं हार्दिक सहयोग से

श्री खरतरगच्छ जैन संघ, कौलकाता

श्रुतदान की परम्परा के स्मृति पुरुष श्री अमरचंदजी कोठारी

यह संसार एक रंगमंच है। इस रंगमंच पर अनेकानेक कलाकार आते हैं और अपनी भूमिका अदा कर विदा हो जाते हैं। परन्तु कुछ कलाकार ऐसे भी होते हैं जो अपनी अमिट छवि जन मानस पर छोड़ जाते हैं। जिन शासन के मंच पर साधु-साध्वी तो आदरणीय एवं वंदनीय होते ही हैं परन्तु कुछ गृहस्थ भी ऐसे होते हैं जिन्हें समस्त संघ के द्वारा सम्माननीय दृष्टि से देखा जाता है। साधु-साध्वियों के लिए भी वे प्रेरणा रूप होते हैं। बाह्य वेश से वे भले ही साधु न हों परन्तु उनकी आंतरिक साधना किसी साधक पुरुष से कम नहीं होती। कलकत्ता समाज में एक ऐसे ही साधक पुरुष हैं श्री अमरचंदजी कोठारी।

कलकत्ता जैन समाज ही नहीं अपितु मानव सेवा से जुड़ा हुआ हर व्यक्ति अमरचंदजी को देव रूप मानता है। मन्दसौर (मध्य प्रदेश) निवासी श्री इंद्रचंदजी कोठारी के यहाँ सन् 1921 में आपका जन्म हुआ। व्यवसाय की दृष्टि से आप पारिवारिक कुछ सदस्यों के साथ कलकत्ता आए तथा आयुर्वेदिक जड़ी-बूटियों का व्यापार प्रारम्भ किया। आज उम्र के नौ दशक पार करने के बाद भी आप व्यापार करते हैं एवं अपने व्यापार में Top पर हैं। अपनी तीन पीढ़ियों को आपने एक सूत्र में संयुक्त परिवार के रूप में पिरोकर रखा है।

खरतरगच्छ जैन संघ कोलकाता के गठन होने के बाद से आप अध्यक्ष पद को अलंकृत कर रहे हैं। मानव सेवा हेतु गठित जैन कल्याण संघ के आप Founder Member हैं तथा वहाँ पर विभिन्न पदों पर भी रहे हैं। इसी के साथ आप अवध सेवा समाज के अध्यक्ष हैं। शिखरजी जैन म्यूजियम, जिनेश्वर सूरि फाउण्डेशन के मुख्य फाउण्डर मेम्बर्स में आपका भी समावेश है।

'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की भावना के साथ आप परमार्थ एवं समाज

सेवा में सदा संलग्न रहते हैं। शिक्षा एवं चिकित्सा के क्षेत्र में आपकी विशेष अभिरुचि है। आप वर्ष में अनेक बार मुफ्त नेत्र चिकित्सा आदि शिविरों का आयोजन करते हैं। अपनी जन्मभूमि में आपने मन्दिर एवं उपाश्रय का जीर्णोद्धार करवाकर भावी पीढ़ी के लिए उसे चिरंजीवी बनाया है।

आप अल्प परिग्रही जीवन जीते हुए अपनी समस्त आय का सदुपयोग जन कल्याण हेतु करते हैं। 90 वर्ष की अवस्था में भी आप नियमित सामायिक, जिनदर्शन, नवकारसी, चौविहार, मौन आदि की साधना करते हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि 'देह में रहकर भी आप देह से भिन्न हैं।'

सन् 2011 में साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी के कलकत्ता चातुर्मास के दौरान उनकी व्याख्यान शैली एवं निरपेक्ष जीवन से प्रभावित होकर आपने श्री खरतरगच्छ संघ कोलकाता द्वारा उनकी शोध कृति को प्रकाशित करवाने की भावना अभिव्यक्त की थी। आप जैसे उत्साहवर्धी, आदर्श व्यक्तित्व के धनी श्रावक वर्ग ही साधु-साध्वी एवं समाज को सत्कार्यों के लिए प्रेरित कर सकते हैं।

सज्जनमणि ग्रन्थमाला आपके उज्ज्वल एवं देदीप्यमान जीवन की भूयोभूय: अनुमोदना करता है तथा जिन शासन के लिए आप सदृश श्रावक रत्न की याचना करता है।

●

सम्पादकीय

जैन धर्म के प्राचीन ग्रन्थों में चतुर्विध मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन देखा जाता है। उसमें सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चारित्र के साथ-साथ सम्यक तप को मोक्ष मार्ग माना गया है। श्वेताम्बर परम्परावर्ती उत्तराध्ययनसूत्र में तथा दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में इसी मोक्ष मार्ग का विवेचन हुआ है। उत्तराध्ययनसूत्र तो स्पष्ट रूप से यह कहता है कि मोक्ष इच्छुक सम्यक ज्ञान के द्वारा तत्त्व के स्वरूप को जाने, सम्यक दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करे, सम्यक चारित्र के द्वारा आत्मा तत्त्वों को ग्रहण करें और सम्यक तप के द्वारा आत्मा की शुद्धि करें। इस प्रकार आत्मा की विशुद्धि का साधन तप ही माना गया है। जैन दर्शन मान्य नौ तत्त्वों की अवधारणा में पूर्व कर्मों की निर्जरा के लिए तप को ही साधन माना गया है। तत्त्वार्थसूत्र में भी इसका समर्थन किया गया है। इस प्रकार तप आत्म विशुद्धि का हेतु है और मोक्ष की उपलब्धि का अनन्तर कारण है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में तप के दो विभाग किए गए हैं– बाह्य और आन्तरिक। उपवास आदि को बाह्य तप कहा गया है जबकि स्वाध्याय, सेवा, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि को आन्तरिक तप कहते हैं। यह कहा जाता है कि सम्यक चारित्र के द्वारा नए कर्मों के आगमन को रोका जा सकता है, इससे संवर हो सकता है किन्तु पूर्व संचित कर्मों की आत्मा से विशुद्धि अर्थात निर्जरा तप के द्वारा ही होती है।

सुस्पष्ट है कि जैन धर्म तप प्रधान धर्म है। बौद्ध परम्परा ने जैनों की आलोचना इसी आधार पर की थी कि वे तप साधना पर अत्यधिक बल देते हैं। यह सत्य है कि जैन धर्म में देह दण्डन को स्थान मिला है किन्तु जैन परम्परा अज्ञान मूलक देह दण्डन की विरोधी भी रही है। कमठ की कठोर पंचाग्नि तप साधना की भगवान पार्श्व ने समालोचना की थी और कहा था कि तप ज्ञान और विवेक पूर्वक होना चाहिए। तप अपने लिए या दूसरों के लिए कष्ट अथवा कषाय का हेतु नहीं होना चाहिए।

जैन परम्परा में तप साधना के लिए जो प्रत्याख्यान या नियम करवाए जाते हैं उनमें स्पष्टत: यह कहा गया है कि तप उसी समय तक करणीय है जब तक वह हमारी आत्म विशुद्धि एवं समाधि में सहायक हो अत: तप को प्रमुखता देते हुए भी जैन चिन्तकों ने अज्ञान मूलक एवं हिंसा मूलक तप और त्याग की सदैव आलोचना की है।

जैन परम्परा में प्राचीन काल से त्याग, वैराग्य और ज्ञानमूलक तप को ही महत्त्व दिया गया है। तप आसक्ति तोड़ने का अनुपम साधन है। व्यक्ति में सबसे अधिक आसक्ति देह आसक्ति है, उस देहासक्ति की कमी का परीक्षण करने के लिए तप ही एक मात्र माध्यम है। यह सत्य है कि शरीर के बिना साधना नहीं हो सकती अत: जहाँ एक ओर जैन दर्शन उपवास आदि तप को महत्त्व देता है वहीं दूसरी ओर वह यह भी मानता है कि साधना का आधार देह है अत: देह का संरक्षण आवश्यक है।जैन आम्नाय एकान्त रूप से कठोर तपस्या की समर्थक भी नहीं है। इसके अनुसार तप आवश्यक है किन्तु वह मात्र देह को दण्ड देना नहीं है अपितु चैतसिक शुद्धि का भी अनुपम उपाय है।

जैन परम्परा के प्राचीन आगमों में विविध प्रकार के तपों का उल्लेख मिलता है। उत्तराध्ययनसूत्र के तीसवें अध्याय में छ: बाह्य तपों का स्वरूप स्पष्ट करने के पश्चात यह भी बताया गया है कि तप का प्रयोजन मात्र आत्म विशुद्धि है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि साधक ऐहिक अथवा पारलौकिक उपलब्धि के लिए तप न करें। उसे एकान्त निर्जरा के लिए तप करना चाहिए। अन्तगड़दशा के वर्तमान संस्करण में आठवें वर्ग में कनकावली, रत्नावली, लघुसिंहक्रीडित, आयंबिल वर्धमान आदि तपों का उल्लेख हुआ है। परवर्ती काल में जैन आचार्यों ने हिन्दू परम्परा से भी अनेक प्रकार के तपों का ग्रहण किया है और यह भी सत्य है कि कालान्तर में जैन परम्परा में भौतिक उपलब्धि के लिए तप किए जाने के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु मेरी दृष्टि से यह जैन परम्परा का विकृत स्वरूप ही है जो अन्य परम्पराओं के प्रभाव से जैनाचार में प्रविष्ट हो गया है। आचारदिनकर आदि परवर्ती ग्रन्थों में विविध प्रकार के तपों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैनों की तप अवधारणा कालान्तर में अन्य

परम्पराओं से प्रभावित होती रही है और उसमें तप जो एक मात्र आत्म विशुद्धि का कारण था उसे भौतिक उपलब्धि का मार्ग भी बनाया गया।

साध्वी सौम्यगुणा श्री ने मेरे निर्देशन में जैन परम्परा के विविध आयामों पर शोध कार्य किया है और उसी के अन्तर्गत उन्होंने जैन परम्परा में तप की अवधारणा विषय को लेकर भी एक ग्रन्थ के प्रणयन का प्रयत्न किया है। मुझे यह लिखते हुए प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि उन्होंने डी.लिट हेतु जो शोध महाग्रन्थ लिखा है वह मूलभूत ग्रन्थों को आधार बनाकर प्रमाणिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। सौम्यगुणाजी की श्रमशीलता एवं अध्ययन मग्नता का ही परिणाम है कि आज उन्होंने जैन विधि-विधान के प्रत्येक पृष्ठ को अनावृत्त कर दिया है। इन ग्रन्थों को यदि जैन विधि-विधानों का Encyclopedia कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। आप इसी प्रकार अन्य रहस्यमयी विषयों के पर्दों को भी उद्घाटित कर उन्हें जन सामान्य के बीच लाएं। सामाजिक जिम्मेदारियों के बीच उनका यह प्रयत्न न केवल अनुमोदनीय है अपितु अभिप्रेरक भी है।

मेरा विश्वास है कि वे इसी प्रकार प्रामाणिक साहित्य का सृजन करते हुए श्रुताराधना करती रहेंगी तथा उनका यह ग्रन्थ तप के सम्बन्ध में साधकों का सम्यक मार्गदर्शन करते हुए आत्म विशुद्धि के मार्ग पर अभिप्रेरित करेगा।

डॉ. सागरमल जैन

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

आशीर्वचन

आज मन अत्यन्त आनंदित है। जिनशासन की बगिया को महकाने एवं उसे विविध रंग-बिरंगे पुष्पों से सुरभित करने का जो स्वप्न हर आचार्य देखा करता है आज वह स्वप्न पूर्णाहुति की सीमा पर पहुँच गया है। खरतरगच्छ की छोटी सी फुलवारी का एक सुविकसित सुयोग्य पुष्प है साध्वी सौम्यगुणाजी, जिसकी महक से आज सम्पूर्ण जगत सुगन्धित हो रहा है।

साध्वीजी के कृतित्व ने साध्वी समाज के योगदान को चिरस्मृत कर दिया है। आर्या चन्दनबाला से लेकर अब तक महावीर के शासन को प्रगतिशील रखने में साध्वी समुदाय का विशेष सहयोग रहा है।

विदुषी साध्वी सौम्यगुणाजी की अध्ययन रसिकता, ज्ञान प्रौढ़ता एवं श्रुत तल्लीनता से जैन समाज अक्षरशः परिचित है। आज वर्षों का दीर्घ परिश्रम जैन समाज के समक्ष 23 खण्डों के रूप में प्रस्तुत हो रहा है।

साध्वीजी ने जैन विधि-विधान के विविध पक्षों को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से उद्घाटित कर इसकी त्रैकालिक प्रासंगिकता को सुसिद्ध किया है। इन्होंने श्रावक एवं साधु के लिए आचरणीय अनेक विधि-विधानों का ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, समीक्षात्मक, तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत करते हुए निष्पक्ष दृष्टि से विविध परम्पराओं में प्राप्त इसके स्वरूप को भी स्पष्ट किया है।

साध्वीजी इसी प्रकार जैन श्रुत साहित्य को अपनी कृतियों से रौशन करती रहे एवं अपने ज्ञान गांभीर्य का रसास्वादन सम्पूर्ण जैन समाज को करवाती रहे, यही कामना करता हूँ। अन्य साध्वी मण्डल इनसे प्रेरणा प्राप्त कर अपनी अतुल क्षमता से संघ-समाज को लाभान्वित करें एवं जैन साहित्य की अनुद्घाटित परतों को खोलने का प्रयत्न करें, जिससे आने वाली भावी पीढ़ी जैनागमों के रहस्यों का रसास्वादन कर पाएं। इसी के साथ धर्म से विमुख एवं विश्रृंखलित होता जैन समाज विधि-विधानों के महत्त्व को समझ पाए तथा वर्तमान में फैल रही भ्रान्त

मान्यताएँ एवं आडंबर सम्यक दिशा को प्राप्त कर सकें। पुनश्च मैं साध्वीजी को उनके प्रयासों के लिए साधुवाद देते हुए यह मंगल कामना करता हूँ कि वे इसी प्रकार साहित्य उत्कर्ष के मार्ग पर अग्रसर रहें एवं साहित्यान्वेषियों की प्रेरणा बनें।

आचार्य कैलास सागर सूरि
नाकोड़ा तीर्थ

हर क्रिया की अपनी एक विधि होती है। विधि की उपस्थिति व्यक्ति को मर्यादा भी देती है और उस क्रिया के प्रति संकल्प-बद्ध रहते हुए पुरुषार्थ करने की प्रेरणा भी। यही कारण है कि जिन शासन में हर क्रिया की अपनी एक स्वतंत्र विधि है।

प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन उपलब्ध होता है कि भरत महाराजा ने हर श्रावक के गले में सम्यक दर्शन,सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र रूप त्रिरत्नों की जनोई धारण करवाई थी। कालान्तर में जैन श्रावकों में यह परम्परा विलुप्त हो गई। दिगम्बर श्रावकों में आज भी यह परम्परा गतिमान है।

जिस प्रकार ब्राह्मणों में सौलह संस्कारों की विधि प्रचलित है। ठीक उसी प्रकार जैन ग्रन्थों में भी सौलह संस्कारों की विधि का उल्लेख है। आचार्य श्री वर्धमानसूरि खरतरगच्छ की रूद्रपल्लीय शाखा में हुए पन्द्रहवीं-सौलहवीं शताब्दी के विद्वान आचार्य थे। आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में इन सौलह संस्कारों का विस्तृत निरूपण किया गया है। हालांकि गहन अध्ययन करने पर मालूम होता है कि आचार्य श्री वर्धमानसूरि पर तत्कालीन ब्राह्मण विधियों का पर्याप्त प्रभाव था, किन्तु स्वतंत्र विधि-ग्रन्थ के हिसाब से उनका यह ग्रन्थ अद्भुत एवं मौलिक है।

साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन गृहस्थ के व्रत ग्रहण संबंधी विधि विधानों पर तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करके प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। यह बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ साबित होगा, इसमें कोई शंका नहीं है। साध्वी सौम्यगुणाजी सामाजिक दायित्वों में व्यस्त होने पर भी चिंतनशील एवं पुरुषार्थशील हैं। कुछ वर्ष पूर्व मैं

विधिमार्गप्रपा नामक ग्रन्थ पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर अपनी विद्वत्ता की अनूठी छाप समाज पर छोड़ चुकी हैं।

मैं हार्दिक भावना करता हूँ कि साध्वीजी की अध्ययनशीलता लगातार बढ़ती रहे और वे शासन एवं गच्छ की सेवा में ऐसे रत्न उपस्थित करती रहें।

उपाध्याय श्री मणिप्रभसागर

किसी भी धर्म दर्शन में उपासनाओं का विधान अवश्यमेव होता है। विविध भारतीय धर्म-दर्शनों में आध्यात्मिक उत्कर्ष हेतु अनेक प्रकार से उपासनाएँ बतलाई गई हैं। जीव मात्र के कल्याण की शुभ कामना करने वाले हमारे पूज्य ऋषि मुनियों द्वारा शील-तप-जप आदि अनेक धर्म आराधनाओं का विधान किया गया है।

प्रत्येक उपासना का विधि-क्रम अलग-अलग होता है। साध्वीजी ने जैन विधि विधानों का इतिहास और तत्सम्बन्धी वैविध्यपूर्ण जानकारियाँ इस ग्रन्थ में दी है। ज्ञान उपासिका साध्वी श्री सौम्यगुणा श्रीजी ने खूब मेहनत करके इसका सुन्दर संयोजन किया है।

भव्य जीवों को अपने योग्य विधि-विधानों के बारे में बहुत-सी जानकारियाँ इस ग्रन्थ के द्वारा प्राप्त हो सकती है।

मैं ज्ञान निमग्ना साध्वी श्री सौम्यगुणा श्रीजी को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ कि इन्होंने चतुर्विध संघ के लिए उपयोगी सामग्री से युक्त ग्रन्थों का संपादन किया है।

मैं कामना करता हूँ कि इसके माध्यम से अनेक ज्ञानपिपासु अपना इच्छित लाभ प्राप्त करेंगे।

आचार्य पद्मसागर सूरि

विनयाद्यनेक गुणगण गरीमायमाना विदुषी साध्वी श्री शशिप्रभा श्रीजी एवं सौम्यगुणा श्रीजी आदि सपरिवार सादर अनुवन्दना सुखशाता के साथ।

आप शाता में होंगे। आपकी संयम यात्रा के साथ ज्ञान यात्रा

अविरत चल रही होगी।

आप जैन विधि विधानों के विषय में शोध प्रबंध लिख रहे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई।

ज्ञान का मार्ग अनंत है। इसमें ज्ञानियों के तात्पर्यार्थ के साथ प्रामाणिकता पूर्ण व्यवहार होना आवश्यक रहेगा।

आप इस कार्य में सुंदर कार्य करके ज्ञानोपासना द्वारा स्वश्रेय प्राप्त करें ऐसी शासन देव से प्रार्थना है।

आचार्य राजशेखर सूरि
भद्रावती तीर्थ

महत्तरा श्रमणीवर्या श्री शशिप्रभाश्री जी
योग अनुवंदना!

आपके द्वारा प्रेषित पत्र प्राप्त हुआ। इसी के साथ 'शोध प्रबन्ध सार' को देखकर ज्ञात हुआ कि आपकी शिष्या साध्वी सौम्यगुणा श्री द्वारा किया गया बृहदस्तरीय शोध कार्य जैन समाज एवं श्रमण-श्रमणी वर्ग हेतु उपयोगी जानकारी का कारण बनेगा।

आपका प्रयास सराहनीय है।

श्रुत भक्ति एवं ज्ञानाराधना स्वपर के आत्म कल्याण का कारण बने यही शुभाशीर्वाद।

आचार्य रत्नाकरसूरि

जो कर रहे स्व-पर उपकार
अन्तर्हृदय से उनको अमृत उद्गार

मानव जीवन का प्रासाद विविधता की बहुविध पृष्ठ भूमियों पर आधृत है। यह न तो सरल सीधा राजमार्ग (Straight like highway) है न पर्वत का सीधा चढ़ाव (ascent) न घाटी का उतार (descent) है अपितु यह सागर की लहर (sea-wave) के समान गतिशील और उतार-चढ़ाव से युक्त है। उसके जीवन की गति सदैव एक जैसी नहीं रहती। कभी चढ़ाव (Ups) आते हैं तो कभी उतार (Downs) और कभी कोई अवरोध (Speed Breaker) आ जाता है तो कभी कोई (trun) भी आ

जाता है। कुछ अवरोध और मोड़ तो इतने खतरनाक (sharp) और प्रबल होते हैं कि मानव की गति-प्रगति और सन्मति लड़खड़ा जाती है, रुक जाती है इन बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अनुकूल समायोजन स्थापित करने के लिए जैन दर्शन के आप्त मनीषियों ने प्रमुखतः दो प्रकार के विधि-विधानों का उल्लेख किया है– 1. बाह्य विधि-विधान 2. आन्तरिक विधि-विधान।

बाह्य विधि-विधान के मुख्यतः चार भेद हैं– 1. जातीय विधि-विधान 2. सामाजिक विधि-विधान 3. वैधानिक विधि-विधान 4. धार्मिक विधि-विधान।

1. जातीय विधि-विधान– जाति की समुत्कर्षता के लिए अपनी-अपनी जाति में एक मुखिया या प्रमुख होता है जिसके आदेश को स्वीकार करना प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य है। मुखिया नैतिक जीवन के विकास हेतु उचित-अनुचित विधि-विधान निर्धारित करता है। उन विधि-विधानों का पालन करना ही नैतिक चेतना का मानदण्ड माना जाता है।

2. सामाजिक विधि-विधान– नैतिक जीवन को जीवंत बनाए रखने के लिए समाज अनेकानेक आचार-संहिता का निर्धारण करता है। समाज द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों की आचार-संहिता को ज्यों का त्यों चुपचाप स्वीकार कर लेना ही नैतिक प्रतिमान है। समाज में पीढ़ियों से चले आने वाले सज्जन पुरुषों का अच्छा आचरण या व्यवहार समाज का विधि-विधान कहलाता है। जो इन विधि-विधानों का आचरण करता है, वह पुरुष सत्पुरुष बनने की पात्रता का विकास करता है।

3. वैधानिक विधि-विधान– अनैतिकता-अनाचार जैसी हीन प्रवृत्तियों से मुक्त करवाने हेतु राज सत्ता के द्वारा अनेकविध विधि-विधान बनाए जाते हैं। इन विधि-विधानों के अन्तर्गत 'यह करना उचित है' अथवा 'यह करना चाहिए' आदि तथ्यों का निरूपण रहता है। राज सत्ता द्वारा आदेशित विधि-विधान का पालन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इन नियमों का पालन करने से चेतना अशुभ प्रवृत्तियों से अलग रहती है।

4. धार्मिक विधि-विधान– इसमें आप्त पुरुषों के आदेश-निर्देश, विधि-निषेध, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य निर्धारित रहते हैं। जैन दर्शन में "आणाए धम्मो" कहकर इसे स्पष्ट किया गया है। जैनागमों में साधक के लिए जो विधि-विधान या आचार निश्चित किए गये हैं, यदि उनका पालन नहीं किया जाता है तो आप्त के अनुसार यह कर्म अनैतिकता की कोटि में आता है। धार्मिक विधि-विधान जो अर्हत् आदेशानुसार है उसका धर्माचरण करता हुआ वीर साधक अकुतोभय हो जाता है अर्थात वह किसी भी प्राणी को भय उत्पन्न हो, वैसा व्यवहार नहीं करता। यही सद्व्यवहार धर्म है तथा यही हमारे कर्मों के नैतिक मूल्यांकन की कसौटी है। तीर्थंकरोपदिष्ट विधि-निषेध मूलक विधानों की नैतिकता एवं अनैतिकता का मानदण्ड माना गया है।

लौकिक एषणाओं से विमुक्त, अरहन्त प्रवाह में विलीन, अप्रमत्त स्वाध्याय रसिका साध्वी रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन वाङ्मय की अनमोल कृति खरतरगच्छाचार्य श्री जिनप्रभसूरि द्वारा विरचित **विधिमार्गप्रपा** में गुम्फित जाज्वल्यमान विषयों पर अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा से जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन को मुख्यतः चार भाग (23 खण्डों) में वर्गीकृत करने का अतुलनीय कार्य किया है। शोध ग्रन्थ के अनुशीलन से यह स्पष्टतः हो जाता है कि साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने चेतना के ऊर्ध्वीकरण हेतु प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में जिन आज्ञा का निरूपण किसी परम्परा के दायरे से नहीं प्रज्ञा की कसौटी पर कस कर किया है। प्रस्तुत कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि हर पंक्ति प्रज्ञा के आलोक से जगमगा रही है। बुद्धिवाद के इस युग में विधि-विधान को एक नव्य-भव्य स्वरूप प्रदान करने का सुन्दर, समीचीन, समुचित प्रयास किया गया है। आत्म पिपासुओं के लिए एवं अनुसन्धित्सुओं के लिए यह श्रुत निधि आत्म सम्मानार्जन, भाव परिष्कार और आन्तरिक औज्ज्वल्य की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होगी।

अल्प समयावधि में साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने जिस प्रमाणिकता एवं दार्शनिकता से जिन वचनों की परम्परा के आग्रह से रिक्त तथा

साम्प्रदायिक मान्यताओं के दुराग्रह से मुक्त रखकर सर्वग्राही श्रुत का निष्पादन जैन वाङ्मय के क्षितिज पर नव्य नक्षत्र के रूप में किया है। आप श्रुत साभिरुचि में निरन्तर प्रवहमान बनकर अपने निर्णय, विशुद्ध विचार एवं निर्मल प्रज्ञा के द्वारा सदैव सरल, सरस और सुगम अभिनव ज्ञान रश्मियों को प्रकाशित करती रहें। यही अन्तःकरण आशीर्वाद सह अनेकशः अनुमोदना... अभिनंदन।

जिनमहोदय सागर सूरि चरणरज
मुनि पीयूष सागर

जैन विधि की अनमोल निधि

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी म.सा. द्वारा "जैन-विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन" इस विषय पर सुविस्तृत शोध प्रबन्ध सम्पादित किया गया है। वस्तुतः किसी भी कार्य या व्यवस्था के सफल निष्पादन में विधि (Procedure) का अप्रतिम महत्त्व है। प्राचीन कालीन संस्कृतियाँ चाहे वह वैदिक हो या श्रमण, इससे अछूती नहीं रही। श्रमण संस्कृति में अग्रगण्य है– जैन संस्कृति। इसमें विहित विविध विधि-विधान वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अध्यात्मिक जीवन के विकास में अपनी महती भूमिका अदा करते हैं। इसी तथ्य को प्रतिपादित करता है प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध।

इस शोध प्रबन्ध की प्रकाशन वेला में हम साध्वीश्री के कठिन प्रयत्न की आत्मिक अनुमोदना करते हैं। निःसंदेह, जैन विधि की इस अनमोल निधि से श्रावक-श्राविका, श्रमण-श्रमणी, विद्वान-विचारक सभी लाभान्वित होंगे। यह विश्वास करते हैं कि वर्तमान युवा पीढ़ी के लिए भी यह कृति अति प्रासंगिक होगी, क्योंकि इसके माध्यम से उन्हें आचार-पद्धति यानि विधि-विधानों का वैज्ञानिक पक्ष भी ज्ञात होगा और वह अधिक आचार निष्ठ बन सकेगी।

साध्वीश्री इसी प्रकार जिनशासन की सेवा में समर्पित रहकर स्व-पर विकास में उपयोगी बनें, यही मंगलकामना।

मुनि महेन्द्रसागर
1.2.13 भद्रावती

विदुषी आर्या रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन विधि विधानों पर विविध पक्षीय बृहद शोध कार्य संपन्न किया है। चार भागों में विभाजित एवं 23 खण्डों में वर्गीकृत यह विशाल कार्य निःसंदेह अनुमोदनीय, प्रशंसनीय एवं अभिनंदनीय है।

शासन देव से प्रार्थना है कि उनकी बौद्धिक क्षमता में दिन दूगुनी रात चौगुनी वृद्धि हो। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ज्ञान गुण की वृद्धि के साथ आत्म ज्ञान प्राप्ति में सहायक बनें।

यह शोध ग्रन्थ ज्ञान पिपासुओं की पिपासा को शान्त करे, यही मनोहर अभिलाषा।

महत्तरा मनोहर श्री चरणरज
प्रवर्त्तिनी कीर्तिप्रभा श्रीजी

दूध को दही में परिवर्तित
करना सरल है। जामन डालिए
और दही तैयार हो जाता है।
किन्तु, दही से मक्खन निकालना
कठिन है। इसके लिए दही को
मथना पड़ता है। तब कहीं
जाकर मक्खन प्राप्त होता है।
इसी प्रकार अध्ययन एक
अपेक्षा से सरल है, किन्तु
तुलनात्मक अध्ययन कठिन है।
इसके लिए कई शास्त्रों को
मथना पड़ता है।
साध्वी सौम्यगुणा श्री ने जैन
विधि-विधानों पर रचित साहित्य
का मंथन करके एक सुंदर चिंतन
प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है
वह अत्यंत अनुमोदनीय एवं
प्रशंसनीय है।

शुभकामना व्यक्त
करती हूँ कि यह
शास्त्रमंथन अनेक साधकों
के कर्मबंधन तोड़ने में
सहायक बने।

साध्वी संवेगनिधि

सुश्रावक श्री कान्तिलालजी मुकीम द्वारा शोध प्रबंध सार संप्राप्त हुआ। विदुषी साध्वी श्री सौम्यगुणाजी के शोधसार ग्रन्थ को देखकर ही कल्पना होने लगी कि शोध ग्रन्थ कितना विराट्काय होगा। वर्षों के अथक परिश्रम एवं सतत रुचि पूर्वक किए गए कार्य का यह सुफल है।

वैदुष्य सह विशालता इस शोध ग्रन्थ की विशेषता है।

हमारी हार्दिक शुभकामना है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका बहुमुखी विकास हो! जिनशासन के गगन में उनकी प्रतिभा, पवित्रता एवं पुण्य का दिव्यनाद हो। किं बहुना!

साध्वी मणिप्रभा श्री
भद्रावती तीर्थ

अमृत नाद

प्राच्यकाल से ही भारतीय परम्परावर्त्ती बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में तप की चर्चा प्राप्त होती है। दीक्षा के पश्चात तीर्थंकर परमात्मा छद्मस्थ अवस्था का अधिकतम काल तप साधना में ही व्यतीत करते हैं। भगवान महावीर स्वयं एक दीर्घ तपस्वी थे। उन्होंने तद्युगीन प्रचलित तप प्रणालियों में क्रान्तिकारी संशोधन करते हुए देह कष्ट को प्रधानता न देकर ध्यान एवं आश्रव द्वारों के निरोध को तप से जोड़ा। इन्द्रिय लोलुपता एवं देह ममत्व का त्याग ही उपवास आदि तप का प्रधान उद्देश्य है। जैन मत में स्वशक्ति के अनुसार बाह्य एवं आभ्यंतर तप की प्ररूपणा की गई है और इन दोनों के द्वारा कर्म निर्जरा को संभव माना है।

वर्तमान में कई लोग तप को शारीरिक कष्टदायक एवं कषाय वर्धक मानते हैं परन्तु यदि तप के सम्बन्ध में वैज्ञानिक, आध्यात्मिक, शारीरिक आदि दृष्टिकोणों से विचार किया जाए तो यह एक सुसाध्य क्रिया है। आजकल अधिकांश रोगों एवं समस्याओं का मुख्य कारण अनियंत्रित और अनियमित खान-पान है। इस युग में डाइटिंग, एनिमा, विटामिन टेबलेट्स आदि की बढ़ती आवश्यकता को नियंत्रित करने में तप ही सहायक हो सकता है। आज तप के अभाव में वर्तमान पीढ़ी सत्पथ से भटक रही है। तप शारीरिक स्वस्थता के साथ आन्तरिक आनंद एवं स्फुर्ति की भी अनुभूति करवाता है अत: अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार सभी को तप साधना अवश्य करनी चाहिए।

साध्वी सौम्यगुणाजी की बाल्यकाल से ही तप साधना में रुचि रही हैं। इसी का परिणाम है कि वे अल्पायु में ही श्रेणी तप, मासक्षमण, चत्तारि अट्ठ दस दोय, बीशस्थानक, नवपद ओली आदि कई तपस्याएँ कर चुकी हैं और आज भी तप साधना में संलग्न हैं। अध्यात्म निमग्ना प्रवर्त्तिनी महोदया पूज्या गुरुवर्य्या श्री की अनायास कृपा वृष्टि इन पर शुरू से ही रही है। और उसी की फलश्रुति रूप वे उन्हीं के ज्ञान पथ का अनुसरण करते हुए

एक बृहद् कार्य को साकार रूप देने जा रही है। प्रस्तुत कृति में जैन परम्परा की सुविख्यात श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा तथा बौद्ध, वैदिक आदि परम्पराओं का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन कर शोध कार्य को सर्वजन उपादेय बनाया है।

साध्वीवर्य्या की यह प्रस्तुति युवा वर्ग में तप के महत्त्व एवं आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए उन्हें तप मार्ग पर आगे बढ़ने में नि:सन्देह सहायक बनेगी ऐसी आशा है। मैं साध्वीजी की गहन अध्ययन निष्ठा एवं संशोधक वृत्ति की सहृदय अनुमोदना करते हुए उन्हें साधुवाद देती हूँ।

शुभाकांक्षिणी

आर्य्या शशिप्रभा श्री

दीक्षा गुरु प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा. एक परिचय

रजताभ रजकणों से रंजित राजस्थान असंख्य कीर्ति गाथाओं का वह रश्मि पुंज है जिसने अपनी आभा के द्वारा संपूर्ण धरा को देदीप्यमान किया है। इतिहास के पन्नों में जिसकी पावन पाण्डुलिपियाँ अंकित है ऐसे रंगीले राजस्थान का विश्रुत नगर है जयपुर। इस जौहरियों की नगरी ने अनेक दिव्य रत्न इस वसुधा को अर्पित किए। उन्हीं में से कोहिनूर बनकर जैन संघ की आभा को दीप्त करने वाला नाम है– पूज्या प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.।

आपश्री इस कलियुग में सतयुग का बोध कराने वाली सहज साधिका थी। चतुर्थ आरे का दिव्य अवतार थी। जयपुर की पुण्य धरा से आपका विशेष सम्बन्ध रहा है। आपके जीवन की अधिकांश महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जैसे– जन्म, विवाह, दीक्षा, देह विलय आदि इसी वसुधा की साक्षी में घटित हुए।

आपका जीवन प्राकृतिक संयोगों का अनुपम उदाहरण था। जैन परम्परा के तेरापंथी आम्नाय में आपका जन्म, स्थानकवासी परम्परा में विवाह एवं मन्दिरमार्गी खरतर परम्परा में प्रव्रज्या सम्पन्न हुई। आपके जीवन का यही त्रिवेणी संगम रत्नत्रय की साधना के रूप में जीवन्त हुआ।

आपका जन्म वैशाखी बुद्ध पूर्णिमा के पर्व दिवस के दिन हुआ। आप उन्हीं के समान तत्त्ववेत्ता, अध्यात्म योगी, प्रज्ञाशील साधक थी। सज्जनता, मधुरता, सरलता, सहजता, संवेदनशीलता, परदु:खकातरता आदि गुण तो आप में जन्मत: परिलक्षित होते थे। इसी कारण आपका नाम सज्जन रखा गया और यही नाम दीक्षा के बाद भी प्रवर्त्तित रहा।

संयम ग्रहण हेतु दीर्घ संघर्ष करने के बावजूद भी आपने विनय, मृदुता, साहस एवं मनोबल डिगने नहीं दिया। अन्तत: 35 वर्ष की आयु में पूज्या प्रवर्त्तिनी ज्ञान श्रीजी म.सा. के चरणों में भागवती दीक्षा अंगीकार की।

दीवान परिवार के राजशाही ठाठ में रहने के बाद भी संयमी जीवन का हर छोटा-बड़ा कार्य आप अत्यंत सहजता पूर्वक करती थी। छोटे-बड़े सभी की

सेवा हेतु सदैव तत्पर रहती थी। आपका जीवन सद्गुणों से युक्त विद्वत्ता की दिव्य माला था। आप में विद्यमान गुण शास्त्र की निम्न पंक्तियों को चरितार्थ करते थे–

शीलं परहितासक्ति, रनुत्सेकः क्षमा धृतिः।
अलोभश्चेति विद्यायाः, परिपाकोज्ज्वलं फलः ।।

अर्थात शील, परोपकार, विनय, क्षमा, धैर्य, निर्लोभता आदि विद्या की पूर्णता के उज्ज्वल फल हैं।

अहिंसा, तप साधना, सत्यनिष्ठा, गम्भीरता, विनम्रता एवं विद्वानों के प्रति असीम श्रद्धा उनकी विद्वत्ता की परिधि में शामिल थे। वे केवल पुस्तकें पढ़कर नहीं अपितु उन्हें आचरण में उतार कर महान बनी थी। आपको शब्द और स्वर की साधना का गुण भी सहज उपलब्ध था।

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात आप 20 वर्षों तक गुरु एवं गुरु भगिनियों की सेवा में जयपुर रही। तदनन्तर कल्याणक भूमियों की स्पर्शना हेतु पूर्वी एवं उत्तरी भारत की पदयात्रा की। आपश्री ने 65 वर्ष की आयु और उसमें भी ज्येष्ठ महीने की भयंकर गर्मी में सिद्धाचल तीर्थ की नव्वाणु यात्रा कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार आदि क्षेत्रों में धर्म की सरिता प्रवाहित करते हुए भी आप सदैव ज्ञानदान एवं ज्ञानपान में संलग्न रहती थी। इसी कारण लोक परिचय, लोकैषणा, लोकाशंसा आदि से अत्यंत दूर रही।

आपश्री प्रखर वक्ता, श्रेष्ठ साहित्य सर्जिका, तत्त्व चिंतिका, आशु कवयित्री एवं बहुभाषाविद थी। विद्वदवर्ग में आप सर्वोत्तम स्थान रखती थी। हिन्दी, गुजराती, मारवाड़ी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी आदि अनेक भाषाओं पर आपका सर्वाधिकार था। जैन दर्शन के प्रत्येक विषय का आपको मर्मस्पर्शी ज्ञान था। आप ज्योतिष, व्याकरण, अलंकार, साहित्य, इतिहास, शकुन शास्त्र, योग आदि विषयों की भी परम वेत्ता थी।

उपलब्ध सहस्र रचनाएँ तथा अनुवादित सम्पादित एवं लिखित साहित्य आपकी कवित्व शक्ति और विलक्षण प्रज्ञा को प्रकट करते हैं।

प्रभु दर्शन में तन्मयता, प्रतिपल आत्म रमणता, स्वाध्याय मग्नता, अध्यात्म लीनता, निस्पृहता, अप्रमत्तता, पूज्यों के प्रति लघुता एवं छोटों के प्रति मृदुता आदि गुण आपश्री में बेजोड़ थे। हठवाद, आग्रह, तर्क-वितर्क,

अहंकार, स्वार्थ भावना का आप में लवलेश भी नहीं था। सभी के प्रति समान स्नेह एवं मृदु व्यवहार, निरपेक्षता एवं अंतरंग विरक्तता के कारण आप सर्वजन प्रिय और आदरणीय थी।

आपकी गुण गरिमा से प्रभावित होकर गुरुजनों एवं विद्वानों द्वारा आपको आगम ज्योति, शास्त्र मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, अध्यात्म योगिनी आदि सार्थक पदों से अलंकृत किया गया। वहीं सकल श्री संघ द्वारा आपको साध्वी समुदाय में सर्वोच्च प्रवर्त्तिनी पद से भी विभूषित किया गया।

आपश्री के उदात्त व्यक्तित्व एवं कर्मशील कर्तृत्व से प्रभावित हजारों श्रद्धालुओं की आस्था को 'श्रमणी' अभिनन्दन ग्रन्थ के रूप में लोकार्पित किया गया। खरतरगच्छ परम्परा में अब तक आप ही एक मात्र ऐसी साध्वी हैं जिन पर अभिनन्दन ग्रन्थ लिखा गया है।

आप में समस्त गुण चरम सीमा पर परिलक्षित होते थे। कोई सद्गुण ऐसा नहीं था जिसके दर्शन आप में नहीं होते हो। जिसने आपको देखा वह आपका ही होकर रह गया।

आपके निरपेक्ष, निस्पृह एवं निरासक्त जीवन की पूर्णता जैन एवं जैनेतर दोनों परम्पराओं में मान्य, शाश्वत आराधना तिथि **'मौन एकादशी'** पर्व के दिन हुई। इस पावन तिथि के दिन आपने देह का त्याग कर सदा के लिए मौन धारण कर लिया। आपके इस समाधिमरण को श्रेष्ठ मरण के रूप में सिद्ध करते हुए उपाध्याय मणिप्रभ सागरजी म.सा. ने लिखा है–

महिमा तेरी क्या गाये हम, दिन कैसा स्वीकार किया।
मौन ग्यारस माला जपते, मौन सर्वथा धार लिया
गुरुवर्य्या तुम अमर रहोगी, साधक कभी न मरते हैं।।

आज परम पूज्या संघरत्ना शशिप्रभा श्रीजी म.सा. आपके मंडल का सम्यक संचालन कर रही हैं। यद्यपि आपका विचरण क्षेत्र अल्प रहा परंतु आज आपका नाम दिग्दिगन्त व्याप्त है। आपके नाम स्मरण मात्र से ही हर प्रकार की Tension एवं विपदाएँ दूर हो जाती है।

●

शिक्षा गुरु पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. एक परिचय

'धोरों की धरती' के नाम से विख्यात राजस्थान अगणित यशोगाथाओं का उद्भव स्थल है। इस बहुरत्ना वसुंधरा पर अनेकश: वीर योद्धाओं, परमात्म भक्तों एवं ऋषि-महर्षियों का जन्म हुआ है। इसी रंग-रंगीले राजस्थान की परम पुण्यवंती साधना भूमि है श्री फलौदी। नयन रम्य जिनालय, दादाबाड़ियों एवं स्वाध्याय गुंज से शोभायमान उपाश्रय इसकी ऐतिहासिक धर्म समृद्धि एवं शासन समर्पण के प्रबल प्रतीक हैं। इस मातृभूमि ने अपने उर्वरा से कई अमूल्य रत्न जिनशासन की सेवा में अर्पित किए हैं। चाहे फिर वह साधु-साध्वी के रूप में हो या श्रावक-श्राविका के रूप में। वि.सं. 2001 की भाद्रकृष्णा अमावस्या को धर्मनिष्ठ दानवीर ताराचंदजी एवं सरल स्वभावी बालादेवी गोलेछा के गृहांगण में एक बालिका की किलकारियां गूंज रही थी। अमावस्या के दिन उदित हुई यह किरण भविष्य में जिनशासन की अनुपम किरण बनकर चमकेगी यह कौन जानता था? कहते हैं सज्जनों के सम्पर्क में आने से दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं तब सम्यकदृष्टि जीव तो नि:सन्देह सज्जन का संग मिलने पर स्वयमेव ही महानता को प्राप्त कर लेते हैं।

किरण में तप त्याग और वैराग्य के भाव जन्मजात थे। इधर पारिवारिक संस्कारों ने उसे अधिक उफान दिया। पूर्वोपार्जित सत्संस्कारों का जागरण हुआ और वह भुआ महाराज उपयोग श्रीजी के पथ पर अग्रसर हुई। अपने बाल मन एवं कोमल तन को गुरु चरणों में समर्पित कर 14 वर्ष की अल्पायु में ही किरण एक तेजस्वी सूर्य रश्मि से शीतल शशि के रूप में प्रवर्त्तित हो गई। आचार्य श्री कवीन्द्र सागर सूरीश्वरजी म.सा. की निश्रा में मरूधर ज्योति मणिप्रभा श्रीजी एवं आपकी बड़ी दीक्षा एक साथ सम्पन्न हुई।

इसे पुण्य संयोग कहें या गुरु कृपा की फलश्रुति? आपने 32 वर्ष के गुरु सान्निध्य काल में मात्र एक चातुर्मास गुरुवर्य्याश्री से अलग किया और वह भी पूज्या प्रवर्त्तिनी विचक्षण श्रीजी म.सा. की आज्ञा से। 32 वर्ष की सान्निध्यता में आप कुल 32 महीने भी गुरु सेवा से वंचित नहीं रही। आपके जीवन की यह

विशेषता पूज्यवरों के प्रति सर्वात्मना समर्पण, अगाध सेवा भाव एवं गुरुकुल वास के महत्त्व को इंगित करती है।

आपश्री सरलता, सहजता, सहनशीलता, सहृदयता, विनम्रता, सहिष्णुता, दीर्घदर्शिता आदि अनेक दिव्य गुणों की पुंज हैं। संयम पालन के प्रति आपकी निष्ठा एवं मनोबल की दृढ़ता यह आपके जिन शासन समर्पण की सूचक है। आपका निश्छल, निष्कपट, निर्दम्भ व्यक्तित्व जनमानस में आपकी छवि को चिरस्थापित करता है। आपश्री का बाह्य आचार जितना अनुमोदनीय है, आंतरिक भावों की निर्मलता भी उतनी ही अनुशंसनीय है। आपकी इसी गुणवत्ता ने कई पथ भ्रष्टों को भी धर्माभिमुख किया है। आपका व्यवहार हर वर्ग के एवं हर उम्र के व्यक्तियों के साथ एक समान रहता है। इसी कारण आप आबाल वृद्ध सभी में समादृत हैं। हर कोई बिना किसी संकोच या हिचक के आपके समक्ष अपने मनोभाव अभिव्यक्त कर सकता है।

शास्त्रों में कहा गया है 'सन्त हृदय नवनीत समाना'– आपका हृदय दूसरों के लिए मक्खन के समान कोमल और सहिष्णु है। वहीं इसके विपरीत आप स्वयं के लिए वज्र से भी अधिक कठोर हैं। आपश्री अपने नियमों के प्रति अत्यन्त दृढ़ एवं अतुल मनोबली हैं। आज जीवन के लगभग सत्तर बसंत पार करने के बाद भी आप युवाओं के समान अप्रमत्त, स्फुर्तिमान एवं उत्साही रहती हैं। विहार में आपश्री की गति समस्त साध्वी मंडल से अधिक होती है।

आहार आदि शारीरिक आवश्यकताओं को आपने अल्पायु से ही सीमित एवं नियंत्रित कर रखा है। नित्य एकाशना, पुरिमड्ढ प्रत्याख्यान आदि के प्रति आप अत्यंत चुस्त हैं। जिस प्रकार सिंह अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने हेतु पूर्णत: सचेत एवं तत्पर रहता है वैसे ही आपश्री विषय-कषाय रूपी शत्रुओं का दमन करने में सतत जागरूक रहती हैं। विषय वर्धक अधिकांश विगय जैसे– मिठाई, कढ़ाई, दही आदि का आपके सर्वथा त्याग है।

आपश्री आगम, धर्म दर्शन, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदि विविध विषयों की ज्ञाता एवं उनकी अधिकारिणी है। व्यावहारिक स्तर पर भी आपने एम.ए. के समकक्ष दर्शनाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की है। अध्ययन के संस्कार आपको गुरु परम्परा से वंशानुगत रूप में प्राप्त हुए हैं। आपकी निश्रागत गुरु भगिनियों एवं शिष्याओं के अध्ययन, संयम पालन तथा आत्मोकर्ष के प्रति

आप सदैव सचेष्ट रहती हैं। आपश्री एक सफल अनुशास्ता हैं यही वजह है कि आपकी देखरेख में सज्जन मण्डल की फुलवारी उन्नति एवं उत्कर्ष को प्राप्त कर रही हैं।

तप और जप आपके जीवन का अभिन्न अंग है। 'ॐ ह्रीं अर्हं' पद की रटना प्रतिपल आपके रोम-रोम में गुंजायमान रहती है। जीवन की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी आप तदनुकूल मन:स्थिति बना लेती हैं। आप हमेशा कहती हैं कि

जो-जो देखा वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

आपकी परमात्म भक्ति एवं गुरुदेव के प्रति प्रवर्धमान श्रद्धा दर्शनीय है। आपका आगमानुरूप वर्तन आपको निसन्देह महान पुरुषों की कोटी में उपस्थित करता है। आपश्री एक जन प्रभावी वक्ता एवं सफल शासन सेविका हैं।

आपश्री की प्रेरणा से जिनशासन की शाश्वत परम्परा को अक्षुण्ण रखने में सहयोगी अनेकश: जिनमंदिरों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार हुआ है। श्रुत साहित्य के संवर्धन में आपश्री के साथ आपकी निश्रारत साध्वी मंडल का भी विशिष्ट योगदान रहा है। अब तक 25-30 पुस्तकों का लेखन-संपादन आपकी प्रेरणा से साध्वी मंडल द्वारा हो चुका है एवं अनेक विषयों पर कार्य अभी भी गतिमान है।

भारत के विविध क्षेत्रों का पद भ्रमण करते हुए आपने अनेक क्षेत्रों में धर्म एवं ज्ञान की ज्योति जागृत की है। राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, छ.ग., यू.पी., बिहार, बंगाल, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, झारखंड, आन्ध्रप्रदेश आदि अनेक प्रान्तों की यात्रा कर आपने उन्हें अपनी पदरज से पवित्र किया है। इन क्षेत्रों में हुए आपके ऐतिहासिक चातुर्मासों की चिरस्मृति सभी के मानस पटल पर सदैव अंकित रहेगी। अन्त में यही कहूँगी-

चिन्तन में जिसके हो क्षमता, वाणी में सहज मधुरता हो।
आचरण में संयम झलके, वह श्रद्धास्पद बन जाता है।
जो अन्तर में ही रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।
जो भीतर में ही भ्रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।।

ऐसी विरल साधिका आर्यारत्न पूज्याश्री के चरण सरोजों में मेरा जीवन सदा भ्रमरवत् गुंजन करता रहे, यही अन्तरकामना।

साध्वी सौम्याजी की शोध यात्रा के स्वर्णिम पल

साध्वी प्रियदर्शनाश्री

आज सौम्यगुणाजी को सफलता के इस उत्तुंग शिखर पर देखकर ऐसा लग रहा है मानो चिर रात्रि के बाद अब यह मनभावन अरुणिम वेला उदित हुई हो। आज इस सफलता के पीछे रहा उनका अथक परिश्रम, अनेकश: बाधाएँ, विषय की दुरूहता एवं दीर्घ प्रयास के विषय में सोचकर ही मन अभिभूत हो जाता है। जिस प्रकार किसान बीज बोने से लेकर फल प्राप्ति तक अनेक प्रकार से स्वयं को तपाता एवं खपाता है और तब जाकर उसे फल की प्राप्ति होती है या फिर जब कोई माता नौ महीने तक गर्भ में बालक को धारण करती है तब उसे मातृत्व सुख की प्राप्ति होती है ठीक उसी प्रकार सौम्यगुणाजी ने भी इस कार्य की सिद्धि हेतु मात्र एक या दो वर्ष नहीं अपितु सत्रह वर्ष तक निरन्तर कठिन साधना की है। इसी साधना की आँच में तपकर आज 23 Volumes के बृहद् रूप में इनका स्वर्णिम कार्य जन ग्राह्य बन रहा है।

आज भी एक-एक घटना मेरे मानस पटल पर फिल्म के रूप में उभर रही है। ऐसा लगता है मानो अभी की ही बात हो, सौम्याजी को हमारे साथ रहते हुए 28 वर्ष होने जा रहे हैं और इन वर्षों में इन्हें एक सुन्दर सलोनी गुड़िया से एक विदुषी शासन प्रभाविका, गूढ़ान्वेषी साधिका बनते देखा है। एक पाँचवीं पढ़ी हुई लड़की आज D.LIt की पदवी से विभूषित होने वाली है। वह भी कोई सामान्य D.Lit. नहीं, 22-23 भागों में किया गया एक बृहद् कार्य और जिसका एक-एक भाग एक शोध प्रबन्ध (Thesis) के समान है। अब तक शायद ही किसी भी शोधार्थी ने डी.लिट् कार्य इतने अधिक Volumes में सम्पन्न किया होगा। लाडनूं विश्वविद्यालय की प्रथम डी.लिट्. शोधार्थी सौम्याजी के इस कार्य ने विश्वविद्यालय के ऐतिहासिक कार्यों में स्वर्णिम पृष्ठ जोड़ते हुए श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत किया है।

सत्रह वर्ष पहले हम लोग पूज्या गुरुवर्य्याश्री के साथ पूर्वी क्षेत्र की स्पर्शना

कर रहे थे। बनारस में डॉ. सागरमलजी द्वारा आगम ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को जानने का यह एक स्वर्णिम अवसर था अत: सन् 1995 में गुर्वाज्ञा से मैं, सौम्याजी एवं नूतन दीक्षित साध्वीजी ने भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी की ओर अपने कदम बढ़ाए। शिखरजी आदि तीर्थों की यात्रा करते हुए हम लोग धर्म नगरी काशी पहुँचे।

वाराणसी स्थित पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वहाँ के मन्दिरों एवं पंडितों के मंत्रनाद से दूर नीरव वातावरण में अद्भुत शांति का अनुभव करवा रहा था। अध्ययन हेतु मनोज्ञ एवं अनुकूल स्थान था। संयोगवश मरूधर ज्योति पूज्या मणिप्रभा श्रीजी म.सा. की निश्रावर्ती, मेरी बचपन की सखी पूज्या विद्युतप्रभा श्रीजी आदि भी अध्ययनार्थ वहाँ पधारी थी।

डॉ. सागरमलजी से विचार विमर्श करने के पश्चात आचार्य जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा पर शोध करने का निर्णय लिया गया। सन् 1973 में पूज्य गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. बंगाल की भूमि पर पधारी थी। स्वाध्याय रसिक आगमज्ञ श्री अगरचन्दजी नाहटा, श्री भँवलालजी नाहटा से पूज्याश्री की पारस्परिक स्वाध्याय चर्चा चलती रहती थी। एकदा पूज्याश्री ने कहा कि मेरी हार्दिक इच्छा है जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों का अनुवाद हो। पूज्याश्री योग-संयोग वश उसका अनुवाद नहीं कर पाई। विषय का चयन करते समय मुझे गुरुवर्य्या श्री की वही इच्छा याद आई या फिर यह कहूं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सौम्याजी की योग्यता देखते हुए शायद पूज्याश्री ने ही मुझे इसकी अन्तस् प्रेरणा दी।

यद्यपि यह ग्रंथ विधि-विधान के क्षेत्र में बहु उपयोगी था परन्तु प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में आबद्ध होने के कारण उसका हिन्दी अनुवाद करना आवश्यक हो गया। सौम्याजी के शोध की कठिन परीक्षाएँ यहीं से प्रारम्भ हो गई। उन्होंने सर्वप्रथम प्राकृत व्याकरण का ज्ञान किया। तत्पश्चात दिन-रात एक कर पाँच महीनों में ही इस कठिन ग्रंथ का अनुवाद अपनी क्षमता अनुसार कर डाला। लेकिन यहीं पर समस्याएँ समाप्त नहीं हुई। सौम्यगुणाजी जो कि राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर से दर्शनाचार्य (एम.ए.) थीं, बनारस में पी-एच.डी. हेतु आवेदन नहीं कर सकती थी। जिस लक्ष्य को लेकर आए थे वह कार्य पूर्ण नहीं होने से मन थोड़ा विचलित हुआ परन्तु विश्वविद्यालय के नियमों के कारण हम

कुछ भी करने में असमर्थ थे अत: पूज्य गुरुवर्य्याश्री के चरणों में पहुँचने हेतु पुन: कलकत्ता की ओर प्रयाण किया। हमारा वह चातुर्मास संघ आग्रह के कारण पुन: कलकत्ता नगरी में हुआ। वहाँ से चातुर्मास पूर्णकर धर्मानुरागी जनों को शीघ्र आने का आश्वासन देते हुए पूज्याश्री के साथ जयपुर की ओर विहार किया। जयपुर में आगम ज्योति, पूज्या गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की समाधि स्थली मोहनबाड़ी में मूर्ति प्रतिष्ठा का आयोजन था अत: उग्र विहार कर हम लोग जयपुर पहुँचें। बहुत ही सुन्दर और भव्य रूप में कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। जयपुर संघ के अति आग्रह से पूज्याश्री एवं सौम्यगुणाजी का चातुर्मास जयपुर ही हुआ। जयपुर का स्वाध्यायी श्रावक वर्ग सौम्याजी से काफी प्रभावित था। यद्यपि बनारस में पी-एच.डी. नहीं हो पाई थी किन्तु सौम्याजी का अध्ययन आंशिक रूप में चालू था। उसी बीच डॉ. सागरमलजी के निर्देशानुसार जयपुर संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रो. डॉ. शीतलप्रसाद जैन के मार्गदर्शन में धर्मानुरागी श्री नवरतनमलजी श्रीमाल के डेढ़ वर्ष के अथक प्रयास से उनका रजिस्ट्रेशन हुआ। सामाजिक जिम्मेदारियों को संभालते हुए उन्होंने अपने कार्य को गति दी।

पी-एच.डी. का कार्य प्रारम्भ तो कर लिया परन्तु साधु जीवन की मर्यादा, विषय की दुरूहता एवं शोध आदि के विषय में अनुभवहीनता से कई बाधाएँ उत्पन्न होती रही। निर्देशक महोदय दिगम्बर परम्परा के होने से श्वेताम्बर विधि-विधानों के विषय में उनसे भी विशेष सहयोग मिलना मुश्किल था अत: सौम्याजी को जो करना था अपने बलबूते पर ही करना था। यह सौम्याजी ही थी जिन्होंने इतनी बाधाओं और रूकावटों को पार कर इस शोध कार्य को अंजाम दिया।

जयपुर के पश्चात कुशल गुरुदेव की प्रत्यक्ष स्थली मालपुरा में चातुर्मास हुआ। वहाँ पर लाइब्रेरी आदि की असुविधाओं के बीच भी उन्होंने अपने कार्य को पूर्ण करने का प्रयास किया। तदनन्तर जयपुर में एक महीना रहकर महोपाध्याय विनयसागरजी से इसका करेक्शन करवाया तथा कुछ सामग्री संशोधन हेतु डॉ. सागरमलजी को भेजी। यहाँ तक तो उनकी कार्य गति अच्छी रही किन्तु इसके बाद लम्बे विहार होने से उनका कार्य प्राय: अवरूद्ध हो गया। फिर अगला चातुर्मास पालीताणा हुआ। वहाँ पर आने वाले यात्रीगणों की भीड़ और तप साधना-आराधना में अध्ययन नहींवत ही हो पाया। पुन: साधु जीवन

के नियमानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर कदम बढ़ाए। रायपुर (छ.ग.) जाने हेतु लम्बे विहारों के चलते वे अपने कार्य को किंचित भी संपादित नहीं कर पा रही थी। रायपुर पहुँचते-पहुँचते Registration की अवधि अन्तिम चरण तक पहुँच चुकी थी अत: चातुर्मास के पश्चात मुदितप्रज्ञा श्रीजी और इन्हें रायपुर छोड़कर शेष लोगों ने अन्य आसपास के क्षेत्रों की स्पर्शना की। रायपुर निवासी सुनीलजी बोथरा के सहयोग से दो-तीन मास में पूरे काम को शोध प्रबन्ध का रूप देकर उसे सन् 2001 में राजस्थान विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया। येन केन प्रकारेण इस शोध कार्य को इन्होंने स्वयं की हिम्मत से पूर्ण कर ही दिया।

तदनन्तर 2002 का बैंगलोर चातुर्मास सम्पन्न कर मालेगाँव पहुँचे। वहाँ पर संघ के प्रयासों से चातुर्मास के अन्तिम दिन उनका शोध वायवा संपन्न हुआ और उन्हें कुछ ही समय में पी-एच.डी. की पदवी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की गई। सन् 1995 बनारस में प्रारम्भ हुआ कार्य सन् 2003 मालेगाँव में पूर्ण हुआ। इस कालावधि के दौरान समस्त संघों को उनकी पी-एच.डी. के विषय में ज्ञात हो चुका था और विषय भी रुचिकर था अत: उसे प्रकाशित करने हेतु विविध संघों से आग्रह होने लगा। इसी आग्रह ने उनके शोध को एक नया मोड़ दिया। सौम्याजी कहती 'मेरे पास बताने को बहुत कुछ है, परन्तु वह प्रकाशन योग्य नहीं है' और सही मायने में शोध प्रबन्ध सामान्य जनता के लिए उतना सुगम नहीं होता अत: गुरुवर्य्या श्री के पालीताना चातुर्मास के दौरान विधिमार्गप्रपा के अर्थ का संशोधन एवं अवान्तर विधियों पर ठोस कार्य करने हेतु वे अहमदाबाद पहुँची। इसी दौरान पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. ने भी इस कार्य का पूर्ण सर्वेक्षण कर उसमें अपेक्षित सुधार करवाए। तदनन्तर L.D. Institute के प्रोफेसर जितेन्द्र भाई, फिर कोबा लाइब्रेरी से मनोज भाई सभी के सहयोग से विधिमार्गप्रपा के अर्थ में रही त्रुटियों को सुधारते हुए उसे नवीन रूप दिया।

इसी अध्ययन काल के दौरान जब वे कोबा में विधि ग्रन्थों का आलोडन कर रही थी तब डॉ. सागरमलजी का बायपास सर्जरी हेतु वहाँ पदार्पण हुआ। सौम्याजी को वहाँ अध्ययनरत देखकर बोले– "आप तो हमारी विद्यार्थी हो, यहाँ क्या कर रही हो? शाजापुर पधारिए मैं यथासंभव हर सहयोग देने का प्रयास करूँगा।" यद्यपि विधि विधान डॉ. सागरमलजी का विषय नहीं था परन्तु उनकी ज्ञान प्रौढ़ता एवं अनुभव शीलता सौम्याजी को सही दिशा देने हेतु

पर्याप्त थी। वहाँ से विधिमार्गप्रपा का नवीनीकरण कर वे गुरुवर्य्याश्री के साथ मुम्बई चातुर्मासार्थ गईं। महावीर स्वामी देरासर पायधुनी से विधिप्रपा का प्रकाशन बहुत ही सुन्दर रूप में हुआ।

किसी भी कार्य में बार-बार बाधाएँ आए तो उत्साह एवं प्रवाह स्वत: मन्द हो जाता है, परन्तु सौम्याजी का उत्साह विपरीत परिस्थितियों में भी वृद्धिंगत रहा। मुम्बई का चातुर्मास पूर्णकर वे शाजापुर गईं। वहाँ जाकर डॉ. साहब ने डी.लिट करने का सुझाव दिया और लाडनूं विश्वविद्यालय के अन्तर्गत उन्हीं के निर्देशन में रजिस्ट्रेशन भी हो गया। यह लाडनूं विश्व भारती का प्रथम डी.लिट. रजिस्ट्रेशन था। सौम्याजी से सब कुछ ज्ञात होने के बाद मैंने उनसे कहा– प्रत्येक विधि पर अलग-अलग कार्य हो तो अच्छा है और उन्होंने वैसा ही किया। परन्तु जब कार्य प्रारम्भ किया था तब वह इतना विराट रूप ले लेगा यह अनुमान भी नहीं था। शाजापुर में रहते हुए इन्होंने छ:सात विधियों पर अपना कार्य पूर्ण किया। फिर गुर्वाज्ञा से कार्य को बीच में छोड़ पुन: गुरुवर्य्या श्री के पास पहुँची। जयपुर एवं टाटा चातुर्मास के सम्पूर्ण सामाजिक दायित्वों को संभालते हुए पूज्याश्री के साथ रही।

शोध कार्य पूर्ण रूप से रूका हुआ था। डॉ.साहब ने सचेत किया कि समयावधि पूर्णता की ओर है अत: कार्य शीघ्र पूर्ण करें तो अच्छा रहेगा वरना रजिस्ट्रेशन रद्द भी हो सकता है। अब एक बार फिर से उन्हें अध्ययन कार्य को गति देनी थी। उन्होंने लघु भगिनी मण्डल के साथ लाइब्रेरी युक्त शान्त-नीरव स्थान हेतु वाराणसी की ओर प्रस्थान किया। इस बार लक्ष्य था कि कार्य को किसी भी प्रकार से पूर्ण करना है। उनकी योग्यता देखते हुए श्री संघ एवं गुरुवर्य्या श्री उन्हें अब समाज के कार्यों से जोड़े रखना चाहते थे परंतु कठोर परिश्रम युक्त उनके विशाल शोध कार्य को भी सम्पन्न करवाना आवश्यक था। बनारस पहुँचकर इन्होंने मुद्रा विधि को छोटा कार्य जानकर उसे पहले करने के विचार से उससे ही कार्य को प्रारम्भ किया। देखते ही देखते उस कार्य ने भी एक विराट रूप ले लिया। उनका यह मुद्रा कार्य विश्वस्तरीय कार्य था जिसमें उन्होंने जैन, हिन्दू, बौद्ध, योग एवं नाट्य परम्परा की सहस्राधिक हस्त मुद्राओं पर विशेष शोध किया। यद्यपि उन्होंने दिन-रात परिश्रम कर इस कार्य को 6-7 महीने में एक बार पूर्ण कर लिया, किन्तु उसके विभिन्न कार्य तो अन्त तक

चलते रहे। तत्पश्चात उन्होंने अन्य कुछ विषयों पर और भी कार्य किया। उनकी कार्यनिष्ठा देख वहाँ के लोग हतप्रभ रह जाते थे। संघ-समाज के बीच स्वयं बड़े होने के कारण नहीं चाहते हुए भी सामाजिक दायित्व निभाने ही पड़ते थे।

सिर्फ बनारस में ही नहीं रायपुर के बाद जब भी वे अध्ययन हेतु कहीं गई तो उन्हें ही बड़े होकर जाना पड़ा। सभी गुरु बहिनों का विचरण शासन कार्यों हेतु भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होने से इस समस्या का सामना भी उन्हें करना ही था। साधु जीवन में बड़े होकर रहना अर्थात संघ-समाज-समुदाय की समस्त गतिविधियों पर ध्यान रखना, जो कि अध्ययन करने वालों के लिए संभव नहीं होता परंतु साधु जीवन यानी विपरीत परिस्थितियों का स्वीकार और जो इन्हें पार कर आगे बढ़ जाता है वह जीवन जीने की कला का मास्टर बन जाता है। इस शोधकार्य ने सौम्याजी को विधि-विधान के साथ जीवन के क्षेत्र में भी मात्र मास्टर नहीं अपितु विशेषज्ञ बना दिया।

पूज्य बड़े म.सा. बंगाल के क्षेत्र में विचरण कर रहे थे। कोलकाता वालों की हार्दिक इच्छा सौम्याजी को बुलाने की थी। वैसे जौहरी संघ के पदाधिकारी श्री प्रेमचन्दजी मोघा एवं मंत्री मणिलालजी दुसाज शाजापुर से ही उनके चातुर्मास हेतु आग्रह कर रहे थे। अत: न चाहते हुए भी कार्य को अर्ध विराम दे उन्हें कलकत्ता आना पड़ा। शाजापुर एवं बनारस प्रवास के दौरान किए गए शोध कार्य का कम्पोज करवाना बाकी था और एक-दो विषयों पर शोध भी। परंतु "जिसकी खाओ बाजरी उसकी बजाओ हाजरी" अत: एक और अवरोध शोध कार्य में आ चुका था। गुरुवर्य्या श्री ने सोचा था कि चातुर्मास के प्रारम्भिक दो महीने के पश्चात इन्हें प्रवचन आदि दायित्वों से निवृत्त कर देंगे परंतु समाज में रहकर यह सब संभव नहीं होता।

चातुर्मास के बाद गुरुवर्य्या श्री तो शेष क्षेत्रों की स्पर्शना हेतु निकल पड़ी किन्तु उन्हें शेष कार्य को पूर्णकर अन्तिम स्वरूप देने हेतु कोलकाता ही रखा। कोलकाता जैसी महानगरी एवं चिर-परिचित समुदाय के बीच तीव्र गति से अध्ययन असंभव था अत: उन्होंने मौन धारण कर लिया और सप्ताह में मात्र एक घंटा लोगों से धर्म चर्चा हेतु खुला रखा। फिर भी सामाजिक दायित्वों से पूर्ण मुक्ति संभव नहीं थी। इसी बीच कोलकाता संघ के आग्रह से एवं अध्ययन हेतु अन्य सुविधाओं को देखते हुए पूज्याश्री ने इनका चातुर्मास कलकत्ता घोषित

कर दिया। पूज्याश्री से अलग हुए सौम्याजी को करीब सात महीने हो चुके थे। चातुर्मास सम्मुख था और वे अपनी जिम्मेदारी पर प्रथम बार स्वतंत्र चातुर्मास करने वाली थी।

जेठ महीने की भीषण गर्मी में उन्होंने गुरुवर्य्याश्री के दर्शनार्थ जाने का मानस बनाया और ऊपर से मानसून सिना ताने खड़ा था। अध्ययन कार्य पूर्ण करने हेतु समयावधि की तलवार तो उनके ऊपर लटक ही रही थी। इन परिस्थितियों में उन्होंने 35-40 कि.मी. प्रतिदिन की रफ्तार से दुर्गापुर की तरफ कदम बढ़ाए। कलकत्ता से दुर्गापुर और फिर पुनः कोलकाता की यात्रा में लगभग एक महीना पढ़ाई नहींवत हुई। यद्यपि गुरुवर्य्याश्री के साथ चातुर्मासिक कार्यक्रमों की जिम्मेदारियाँ इन्हीं की होती है फिर भी अध्ययन आदि के कारण इनकी मानसिकता चातुर्मास संभालने की नहीं थी और किसी दृष्टि से उचित भी था। क्योंकि सबसे बड़े होने के कारण प्रत्येक कार्यभार का वहन इन्हीं को करना था अतः दो माह तक अध्ययन की गति पर पुनः ब्रेक लग गया। पूज्या श्री हमेशा फरमाती है कि–

जो जो देखा वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

सौम्याजी ने भी गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर संघ-समाज को समय ही नहीं अपितु भौतिकता में भटकते हुए मानव को धर्म की सही दिशा भी दिखाई। वर्तमान परिस्थितियों पर उनकी आम चर्चा से लोगों में धर्म को देखने का एक नया नजरिया विकसित हुआ। गुरुवर्य्याश्री एवं हम सभी को आन्तरिक आनंद की अनुभूति हो रही थी किन्तु सौम्याजी को वापस दुगुनी गति से अध्ययन में जुड़ना था। इधर कोलकाता संघ ने पूर्ण प्रयास किए फिर भी हिन्दी भाषा का कोई अच्छा कम्पोजर न मिलने से कम्पोजिंग कार्य बनारस में करवाया गया। दूरस्थ रहकर यह सब कार्य करवाना उनके लिए एक विषम समस्या थी। परंतु अब शायद वे इन सबके लिए सध गई थी, क्योंकि उनका यह कार्य ऐसी ही अनेक बाधाओं का सामना कर चुका था।

उधर सैंथिया चातुर्मास में पूज्याश्री का स्वास्थ्य अचानक दो-तीन बार बिगड़ गया। अतः वर्षावास पूर्णकर पूज्य गुरूवर्य्या श्री पुनः कोलकाता की ओर पधारी। सौम्याजी प्रसन्न थी क्योंकि गुरूवर्य्या श्री स्वयं उनके पास पधार रही थी।

गुरुजनों की निश्रा प्राप्त करना हर विनीत शिष्य का मनेच्छित होता है। पूज्या श्री के आगमन से वे सामाजिक दायित्वों से मुक्त हो गई थी। अध्ययन के अन्तिम पड़ाव में गुरूवर्य्या श्री का साथ उनके लिए सुवर्ण संयोग था क्योंकि प्राय: शोध कार्य के दौरान पूज्याश्री उनसे दूर रही थी।

शोध समय पूर्णाहुति पर था। परंतु इस बृहद कार्य को इतनी विषमताओं के भंवर में फँसकर पूर्णता तक पहुँचाना एक कठिन कार्य था। कार्य अपनी गति से चल रहा था और समय अपनी धुरी पर। सबमिशन डेट आने वाली थी किन्तु कम्पोजिंग एवं प्रूफ रीडिंग आदि का काफी कार्य शेष था।

पूज्याश्री के प्रति अनन्य समर्पित श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा को जब इस स्थिति के बारे में ज्ञात हुआ तो उन्होंने युनिवर्सिटी द्वारा समयावधि बढ़ाने हेतु अर्जी पत्र देने का सुझाव दिया। उनके हार्दिक प्रयासों से 6 महीने का एक्सटेंशन प्राप्त हुआ। इधर पूज्या श्री तो शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा सम्पन्न कर अन्य क्षेत्रों की ओर बढ़ने की इच्छुक थी। परंतु भविष्य के गर्भ में क्या छुपा है यह कोई नहीं जानता। कुछ विशिष्ट कारणों के चलते कोलकाता भवानीपुर स्थित शंखेश्वर मन्दिर की प्रतिष्ठा चातुर्मास के बाद होना निश्चित हुआ। अत: अब आठ-दस महीने तक बंगाल विचरण निश्चित था। सौम्याजी को अप्रतिम संयोग मिला था कार्य पूर्णता के लिए।

शासन देव उनकी कठिन से कठिन परीक्षा ले रहा था। शायद विषमताओं की अग्नि में तपकर वे सौम्याजी को खरा सोना बना रहे थे। कार्य अपनी पूर्णता की ओर पहुँचता इसी से पूर्व उनके द्वारा लिखित 23 खण्डों में से एक खण्ड की मूल कॉपी गुम हो गई। पुन: एक खण्ड का लेखन और समयावधि की अल्पता ने समस्याओं का चक्रव्यूह सा बना दिया। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। जिनपूजा क्रिया विधानों का एक मुख्य अंग है अत: उसे गौण करना या छोड़ देना भी संभव नहीं था। चांस लेते हुए एक बार पुन: Extension हेतु निवेदन पत्र भेजा गया। मुनि जीवन की कठिनता एवं शोध कार्य की विशालता के मद्देनजर एक बार पुन: चार महीने की अवधि युनिवर्सिटी के द्वारा प्राप्त हुई।

शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा निमित्त सम्पूर्ण साध्वी मंडल का चातुर्मास बकुल बगान स्थित लीलीजी मणिलालजी सुखानी के नूतन बंगले में होना निश्चित हुआ।

पूज्याश्री ने खडगपुर, टाटानगर आदि क्षेत्रों की ओर विहार किया। पाँच-छह साध्वीजी अध्ययन हेतु पौशाल में ही रूके थे। श्री जिनरंगसूरि पौशाल कोलकाता बड़ा बाजार में स्थित है। साधु-साध्वियों के लिए यह अत्यंत शाताकारी स्थान है। सौम्याजी को बनारस से कोलकाता लाने एवं अध्ययन पूर्ण करवाने में पौशाल के ट्रस्टियों की विशेष भूमिका रही है। सौम्याजी ने अपना अधिकांश अध्ययन काल वहाँ व्यतीत किया।

ट्रस्टीगण श्री कान्तिलालजी, कमलचंदजी, विमलचंदजी, मणिलालजी आदि ने भी हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की। संघ-समाज के सामान्य दायित्वों से बचाए रखा। इसी अध्ययन काल में बीकानेर हाल कोलकाता निवासी श्री खेमचंदजी बांठिया ने आत्मीयता पूर्वक सेवाएँ प्रदान कर इन लोगों को निश्चिन्त रखा। इसी तरह अनन्य सेवाभावी श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत (लालाबाबू) जो सौम्याजी को बहनवत मानते हैं उन्होंने एक भाई के समान उनकी हर आवश्यकता का ध्यान रखा। कलकत्ता संघ सौम्याजी के लिए परिवारवत ही हो गया था। सम्पूर्ण संघ की एक ही भावना थी कि उनका अध्ययन कोलकाता में ही पूर्ण हो।

पूज्याश्री टाटानगर से कोलकाता की ओर पधार रही थी। सुयोग्या साध्वी सम्यग्दर्शनाजी उग्र विहार कर गुरुवर्य्याश्री के पास पहुँची थी। सौम्याजी निश्चिंत थी कि इस बार चातुर्मासिक दायित्व सुयोग्या सम्यग दर्शनाजी महाराज संभालेंगे। वे अपना अध्ययन उचित समयावधि में पूर्ण कर लेंगे। परंतु परिस्थिति विशेष से सम्यगजी महाराज का चातुर्मास खडगपुर ही हो गया।

सौम्याजी की शोधयात्रा में संघर्षों की समाप्ति ही नहीं हो रही थी। पुस्तक लेखन, चातुर्मासिक जिम्मेदारियाँ और प्रतिष्ठा की तैयारियाँ कोई समाधान दूर-दूर तक नजर नहीं आ रहा था। अध्ययन की महत्ता को समझते हुए पूज्याश्री एवं अमिताजी सुखानी ने उन्हें चातुर्मासिक दायित्वों से निवृत्त रहने का अनुनय किया किन्तु गुरु की शासन सेवा में सहयोगी बनने के लिए इन्होंने दो महीने गुरुवर्य्या श्री के साथ चातुर्मासिक दायित्वों का निर्वाह किया। फिर वह अपने अध्ययन में जुट गई।

कई बार मन में प्रश्न उठता कि हमारी प्यारी सौम्या इतना साहस कहाँ से लाती है। किसी कवि की पंक्तियाँ याद आ रही है–

सूरज से कह दो बेशक वह, अपने घर आराम करें।
चाँद सितारे जी भर सोएं, नहीं किसी का काम करें।
अगर अमावस से लड़ने की जिद कोई कर लेता है।
तो सौम्य गुणा सा जुगनु सारा, अंधकार हर लेता है।।

जिन पूजा एक विस्तृत विषय है। इसका पुनर्लेखन तो नियत अवधि में हो गया परंतु कम्पोजिंग आदि नहीं होने से शोध प्रबंध के तीसरे एवं चौथे भाग को तैयार करने के लिए समय की आवश्यकता थी। अब तीसरी बार लाडनूं विश्वविद्यालय से Extension मिलना असंभव प्रतीत हो रहा था।

श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा समस्त परिस्थितियों से अवगत थे। उन्होंने पूज्य गुरूवर्य्या श्री से निवेदन किया कि सौम्याजी को पूर्णत: निवृत्ति देकर कार्य शीघ्रातिशीघ्र करवाया जाए। विश्वविद्यालय के तत्सम्बन्धी नियमों के बारे में पता करके डेढ़ महीने की अन्तिम एवं विशिष्ट मौहलत दिलवाई। अब देरी होने का मतलब था Rejection of Work by University अत: त्वरा गति से कार्य चला।

सौम्याजी पर गुरुजनों की कृपा अनवरत रही है। पूज्य गुरूवर्य्या सज्जन श्रीजी म.सा. के प्रति वह विशेष श्रद्धा प्रणत हैं। अपने हर शुभ कर्म का निमित्त एवं उपादान उन्हें ही मानती हैं। इसे साक्षात गुरु कृपा की अनुश्रुति ही कहना होगा कि उनके समस्त कार्य स्वत: ग्यारस के दिन सम्पन्न होते गए। सौम्याजी की आन्तरिक इच्छा थी कि पूज्याश्री को समर्पित उनकी कृति पूज्याश्री की पुण्यतिथि के दिन विश्वविद्यालय में Submit की जाए और निमित्त भी ऐसे ही बने कि Extension लेते-लेते संयोगवशात पुन: वही तिथि और महीना आ गया।

23 दिसम्बर 2012 मौन ग्यारस के दिन लाडनूं विश्वविद्यालय में 4 भागों में वर्गीकृत 23 खण्डीय Thesis जमा की गई। इतने विराट शोध कार्य को देखकर सभी हतप्रभ थे। 5556 पृष्ठों में गुम्फित यह शोध कार्य यदि शोध नियम के अनुसार तैयार किया होता तो 11000 पृष्ठों से अधिक हो जाते। यह सब गुरूवर्य्या श्री की ही असीम कृपा थी।

पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. की हार्दिक इच्छा थी कि सौम्याजी के इस ज्ञानयज्ञ का सम्मान किया जाए जिससे जिन शासन की प्रभावना हो और जैन संघ गौरवान्वित बने।

भवानीपुर–शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा का पावन सुयोग था। श्रुतज्ञान के बहुमान रूप 23 ग्रन्थों का भी जुलूस निकाला गया। सम्पूर्ण कोलकाता संघ द्वारा उनकी वधामणी की गई। यह एक अनुमोदनीय एवं अविस्मरणीय प्रसंग था।

बस मन में एक ही कसक रह गई कि मैं इस पूर्णाहुति का हिस्सा नहीं बन पाई।

आज सौम्याजी की दीर्घ शोध यात्रा को पूर्णता के शिखर पर देखकर नि:सन्देह कहा जा सकता है कि पूज्या प्रवर्त्तिनी म.सा. जहाँ भी आत्म साधना में लीन है वहाँ से उनकी अनवरत कृपा दृष्टि बरस रही है। शोध कार्य पूर्ण होने के बाद भी सौम्याजी को विराम कहाँ था? उनके शोध विषय की त्रैकालिक प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। पुस्तक प्रकाशन सम्बन्धी सभी कार्य शेष थे तथा पुस्तकों का प्रकाशन कोलकाता से ही हो रहा था। अत: कलकत्ता संघ के प्रमुख श्री कान्तिलालजी मुकीम, विमलचंदजी महमवाल, श्राविका श्रेष्ठा प्रमिलाजी महमवाल, विजयेन्द्रजी संखलेचा आदि ने पूज्याश्री के सम्मुख सौम्याजी को रोकने का निवेदन किया। श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत, श्री मणिलालजी दूसाज आदि भी निवेदन कर चुके थे। यद्यपि अजीमगंज दादाबाड़ी प्रतिष्ठा के कारण रोकना असंभव था परंतु मुकिमजी के अत्याग्रह के कारण पूज्याश्री ने उन्हें कुछ समय के लिए वहाँ रहने की आज्ञा प्रदान की।

गुरूवर्य्या श्री के साथ विहार करते हुए सौम्यागुणाजी को तीन Stop जाने के बाद वापस आना पड़ा। दादाबाड़ी के समीपस्थ शीतलनाथ भवन में रहकर उन्होंने अपना कार्य पूर्ण किया। इस तरह इनकी सम्पूर्ण शोध यात्रा में कलकत्ता एक अविस्मरणीय स्थान बनकर रहा।

क्षणै: क्षणै: बढ़ रहे उनके कदम अब मंजिल पर पहुँच चुके हैं। आज जो सफलता की बहुमंजिला इमारत इस पुस्तक श्रृंखला के रूप में देख रहे हैं वह मजबूत नींव इन्होंने अपने उत्साह, मेहनत और लगन के आधार पर रखी है। सौम्यगुणाजी का यह विशद् कार्य युग-युगों तक एक कीर्तिस्तम्भ के रूप में स्मरणीय रहेगा। श्रुत की अमूल्य निधि में विधि-विधान के रहस्यों को उजागर करते हुए उन्होंने जो कार्य किया है वह आने वाली भावी पीढ़ी के लिए आदर्श रूप रहेगा। लोक परिचय एवं लोकप्रसिद्धि से दूर रहने के कारण ही आज वे इस

बृहद् कार्य को सम्पन्न कर पाई हैं। मैं परमात्मा से यही प्रार्थना करती हूँ कि वे सदा इसी तरह श्रुत संवर्धन के कल्याण पथ पर गतिशील रहे। अंतत: उनके अडिग मनोबल की अनुमोदना करते हुए यही कहूँगी–

प्रगति शिला पर चढ़ने वाले बहुत मिलेंगे,
कीर्तिमान करने वाला तो विरला होता है।
आंदोलन करने वाले तो बहुत मिलेंगे,
दिशा बदलने वाला कोई निराला होता है।
तारों की तरह टिम-टिमाने वाले अनेक होते हैं,
पर सूरज बन रोशन करने वाला कोई एक ही होता है।
समय गंवाने वालों से यह दुनिया भरी है,
पर इतिहास बनाने वाला कोई सौम्य सा ही होता है।
प्रशंसा पाने वाले जग में अनेक मिलेंगे,
प्रिय बने सभी का ऐसा कोई सज्जन ही होता है ।।

●

हार्दिक अनुमोदना

किसी कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है–

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सो घड़ा, ऋतु आवत फल होय।।

हर कार्य में सफलता समय आने पर ही प्राप्त होती है। एक किसान बीज बोकर साल भर तक मेहनत करता है तब जाकर उसे फसल प्राप्त होती है। चार साल तक College में मेहनत करने के बाद विद्यार्थी Doctor, Engineer या MBA होता है।

साध्वी सौम्यगुणाजी आज सफलता के जिस शिखर पर पहुँची है उसके पीछे उनकी वर्षों की मेहनत एवं धैर्य नींव रूप में रहे हुए हैं। लगभग 30 वर्ष पूर्व सौम्याजी का आगमन हमारे मण्डल में एक छोटी सी गुड़िया के रूप में हुआ था। व्यवहार में लघुता, विचारों में सरलता एवं बुद्धि की श्रेष्ठता उनके प्रत्येक कार्य में तभी से परिलक्षित होती थी। ग्यारह वर्ष की निशा जब पहली बार पूज्याश्री के पास वैराग्यवासित अवस्था में आई तब मात्र चार माह की अवधि में प्रतिक्रमण, प्रकरण, भाष्य,कर्मग्रन्थ, प्रात:कालीन पाठ आदि कंठस्थ कर लिए थे। उनकी तीव्र बुद्धि एवं स्मरण शक्ति की प्रखरता के कारण पूज्य छोटे म.सा. (पूज्य शशिप्रभा श्रीजी म.सा.) उन्हें अधिक से अधिक चीजें सिखाने की इच्छा रखते थे।

निशा का बाल मन जब अध्ययन से उक्ता जाता और बाल सुलभ चेष्टाओं के लिए मन उत्कंठित होने लगता, तो कई बार वह घंटों उपाश्रय की छत पर तो कभी सीढ़ियों में जाकर छुप जाती ताकि उसे अध्ययन न करना पड़े। परंतु यह उसकी बाल क्रीड़ाएँ थी। 15-20 गाथाएँ याद करना उसके लिए एक सहज बात थी। उनके अध्ययन की लगन एवं सीखने की कला आदि के अनुकरण की प्रेरणा आज भी छोटे म.सा. आने वाली नई मंडली को देते हैं। सूत्रागम अध्ययन, ज्ञानार्जन, लेखन, शोध आदि के कार्य में उन्होंने जो श्रृंखला प्रारम्भ की है आज सज्जनमंडल में उसमें कई कड़ियाँ जुड़ गई हैं परन्तु मुख्य कड़ी तो

मुख्य ही होती है। ये सभी के लिए प्रेरणा बन रही हैं किन्तु इनके भीतर जो प्रेरणा आई वह कहीं न कहीं पूज्य गुरुवर्य्या श्री की असीम कृपा है।

उच्च उड़ान नहीं भर सकते
तुच्छ बाहरी चमकीले पर
महत कर्म के लिए चाहिए
महत प्रेरणा बल भी भीतर

यह महत प्रेरणा गुरु कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। विनय, सरलता, शालीनता, ऋजुता आदि गुण गुरुकृपा की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

सौम्याजी का मन शुरू से सीधा एवं सरल रहा है। सांसारिक कपट-माया या व्यवहारिक औपचारिकता निभाना इनके स्वभाव में नहीं है। पूज्य प्रवर्तिनीजी म.सा. को कई बार ये सहज में कहती **'महाराज श्री!' मैं तो आपकी कोई सेवा नहीं करती, न ही मुझमें विनय है, फिर मेरा उद्धार कैसे होगा, मुझे गुरु कृपा कैसे प्राप्त होगी?' तब पूज्याश्री फरमाती– 'सौम्या! तेरे ऊपर तो मेरी अनायास कृपा है, तूं चिंता क्यों करती है? तूं तो महान साध्वी बनेगी।'** आज पूज्याश्री की ही अन्तस शक्ति एवं आशीर्वाद का प्रस्फोटन है कि लोकैषणा, लोक प्रशंसा एवं लोक प्रसिद्धि के मोह से दूर वे श्रुत सेवा में सर्वात्मना समर्पित हैं। जितनी समर्पित वे पूज्या श्री के प्रति थी उतनी ही विनम्र अन्य गुरुजनों के प्रति भी। गुरु भगिनी मंडल के कार्यों के लिए भी वे सदा तत्पर रहती हैं। चाहे बड़ों का कार्य हो, चाहे छोटों का उन्होंने कभी किसी को टालने की कोशिश नहीं की। चाहे प्रियदर्शना श्रीजी हो, चाहे दिव्यदर्शना श्रीजी, चाहे शुभदर्शनाश्रीजी हो, चाहे शीलगुणा जी आज तक सभी के साथ इन्होंने लघु बनकर ही व्यवहार किया है। कनकप्रभाजी, संयमप्रज्ञाजी आदि लघु भगिनी मंडल के साथ भी इनका व्यवहार सदैव सम्मान, माधुर्य एवं अपनेपन से युक्त रहा है। ये जिनके भी साथ चातुर्मास करने गई हैं उन्हें गुरुवत सम्मान दिया तथा उनकी विशिष्ट आन्तरिक मंगल कामनाओं को प्राप्त किया है। पूज्या विनीता श्रीजी म.सा., पूज्या मणिप्रभाश्रीजी म.सा., पूज्या हेमप्रभा श्रीजी म.सा., पूज्या सुलोचना श्रीजी म.सा., पूज्या विद्युतप्रभाश्रीजी म.सा. आदि की इन पर विशेष कृपा रही है। पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा., आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी म.सा., आचार्य श्री कीर्तियशसूरिजी आदि ने इन्हें अपना

स्नेहाशीष एवं मार्गदर्शन दिया है। आचार्य श्री राजयशसूरिजी म.सा., पूज्य भ्राता श्री विमलसागरजी म.सा. एवं पूज्य वाचंयमा श्रीजी (बहन) म.सा. इनका Ph.D. एवं D.Litt. का विषय विधि-विधानों से सम्बन्धित होने के कारण इन्हें 'विधिप्रभा' नाम से ही बुलाते हैं।

पूज्या शशिप्रभाजी म.सा. ने अध्ययन काल के अतिरिक्त इन्हें कभी भी अपने से अलग नहीं किया और आज भी हम सभी गुरु बहनों की अपेक्षा गुरु निश्रा प्राप्ति का लाभ इन्हें ही सर्वाधिक मिलता है। पूज्याश्री के चातुर्मास में अपने विविध प्रयासों के द्वारा चार चाँद लगाकर ये उन्हें और भी अधिक जानदार बना देती हैं।

तप-त्याग के क्षेत्र में तो बचपन से ही इनकी विशेष रुचि थी। नवपद की ओली का प्रारम्भ इन्होंने गृहस्थ अवस्था में ही कर दिया था। इनकी छोटी उम्र को देखकर छोटे म.सा. ने कहा– देखो! तुम्हें तपस्या के साथ उतनी ही पढ़ाई करनी होगी तब तो ओलीजी करना अन्यथा नहीं। ये बोली– मैं रोज पन्द्रह नहीं बीस गाथा करूंगी आप मुझे ओलीजी करने दीजिए और उस समय ओलीजी करके सम्पूर्ण प्रातःकालीन पाठ कंठाग्र किये। बीसस्थानक, वर्धमान, नवपद, मासक्षमण, श्रेणी तप, चत्तारि अट्ठ दस दोय, पैंतालीस आगम, ग्यारह गणधर, चौदह पूर्व, अट्ठाईस लब्धि, धर्मचक्र, पखवासा आदि कई छोटे-बड़े तप करते हुए इन्होंने अध्ययन एवं तपस्या दोनों में ही अपने आपको सदा अग्रसर रखा।

आज उनके वर्षों की मेहनत की फलश्रुति हुई है। जिस शोध कार्य के लिए वे गत 18 वर्षों से जुटी हुई थी उस संकल्पना को आज एक मूर्त्त स्वरूप प्राप्त हुआ है। अब तक सौम्याजी ने जिस धैर्य, लगन, एकाग्रता, श्रुत समर्पण एवं दृढ़निष्ठा के साथ कार्य किया है वे उनमें सदा वृद्धिंगत रहे। पूज्य गुरुवर्य्या श्री के नक्षे कदम पर आगे बढ़ते हुए वे उनके कार्यों को और नया आयाम दें तथा श्रुत के क्षेत्र में एक नया अवदान प्रस्तुत करें। इन्हीं शुभ भावों के साथ–

गुरु भगिनी मण्डल

अनुभूति की रश्मियां

जैन संस्कृति का मूल तत्त्व तप है, जैन साधना का प्राण तत्त्व तप है, जैन वाङ्मय का मुख्य सत्त्व तप है। जिस तरह पुष्प की कली-कली में सुगन्ध समायी हुई है, ईख के पौर-पौर में माधुर्य सन्निविष्ट है, तिल के कण-कण में द्रवता संचरित है, उसी प्रकार जैन धर्म के प्रत्येक चिन्तन में तप परिव्याप्त है।

निश्चयत: तप एक आध्यात्मिक शक्ति का स्रोत है। इसलिए तपश्चरण के द्वारा अधोवाहिनी ऊर्जा को ऊर्ध्वगामिनी किया जा सकता है। तीर्थंकर पुरुषों एवं पूर्वाचार्यों ने तप की साधना से जो कुछ उपार्जित किया, वही वीतराग दर्शन की कोटि में गिना जाता है। इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि वीतरागता प्राप्ति का अद्‌भुत साधन तप ही है। जैन परम्परा द्वारा आचरित एवं सम्मानित तप का दायरा इतना विस्तृत और व्यापक है कि उसमें एक सुव्यवस्थित जीवन से लेकर मोक्ष प्राप्ति के सभी साधनों का समावेश हो जाता है।

तप जीवन की ऊर्जा है, सृष्टि का मूल चक्र है, आत्मा का निजी गुण है, साधना की यथार्थ पूर्णता है, आरोग्यता की औषधि है, सद्‌भावनाओं का दीपक है, श्रेष्ठ विचारों की ज्योति है, सम्यक आचरण की मिशाल है। संक्षेप में कहें तो तप ही जीवन है। तप के बिना जीवन का अस्तित्व ही कुछ नहीं रहता। तप साधना के द्वारा मनुष्य जीवन जीने से लेकर मोक्ष सुख के सभी आयामों को प्रत्यक्षगत कर सकता है।

बाह्य दृष्टि से देखें तो तप का सीधा प्रभाव शरीर पर पड़ता है। तप से देह कृश, निर्बल एवं कमजोर दिखती है। आधुनिक युवा पीढ़ी कहती भी है कि पाप कर्मों को विनष्ट करने हेतु शरीर को कष्ट देना कहाँ की समझदारी है? इस तरह काया को कष्ट देने से धर्म कैसे हो सकता है? एक युवक किसी संन्यासी महात्मा के चरणों में पहुँचा। सन्त को प्रणाम कर उसने प्रश्न किया– हे भगवन्! आत्म सुख को पाने के लिए शरीर

को तपाने या सुखाने की जरूरत क्यों है? आत्म स्वरूप की अनुभूति के लिए तो आत्मध्यान और आत्मज्ञान आवश्यक है फिर शरीर को कृश करने से आत्मा का शुद्धिकरण कैसे संभव है? महात्मा ने युवक की समस्या को शान्त चित्त से सुना और फिर दूध की ओर इशारा करते हुए उससे कहा– भाई! ऐसा करो यह तपेली में दूध रखा है, पहले इसे गर्म कर ले आओ। अपन दोनों थोड़ा दूध पी लें, फिर तेरे प्रश्न का जवाब दूंगा। वह युवक भी दूध की तपेली लेकर चल दिया और थोड़ी देर में ही दूध गर्म करके ले आया। महात्माजी से बोला– लीजिए यह गर्म दूध, अब मेरे प्रश्न का जवाब दीजिए। महात्मा ने जान-बूझकर दूध की गर्म तपेली को हाथ से छूआ और तत्क्षण हाथ हटाते हुए जोर से चिल्लाये– अरे मूर्ख! मैंने तुझे दूध गर्म करने को कहा था और तुम तपेली गर्म कर ले आये? तूने यह क्या किया?

वह युवक आश्चर्य में पड़ गया। सोचा, कहीं महात्माजी पागल तो नहीं है? मैं भी कहाँ चला आया इनके पास। उसने कहा– महात्मन्! आप कैसी बात कर रहे हो? तपेली गर्म किये बिना दूध कैसे गर्म हो सकता है? दूध गर्म करने के लिए तपेली को तो गर्म होना ही पड़ेगा। उस वक्त महात्माजी ने जवाब दिया– समझ लो, शरीर को तपाये बिना आत्मा भी कैसे तपेगी? दूध के पहले तपेली गर्म होती है ठीक वैसे ही आत्मा को निर्मल बनाने के पहले शरीर तपेगा ही। तप के द्वारा शरीर को तपाकर ही आत्म प्रदेशों पर अवस्थित कर्म रूपी कचरा को जलाया जाता है। जब सम्पूर्ण कर्म जलकर राख हो जाते हैं तभी इस जीव को मोक्ष पद की प्राप्ति होती है।

इस उदाहरण का अभिप्राय यह है कि तप से देह, देह से मन और मन से आत्मा प्रभावित होती है। तप का साक्षात प्रभाव शरीर पर पड़ता है। इससे विषय-वासना के कीचड़ की ओर उत्प्रेरित करने वाली पाँच इन्द्रियों का स्वत: निग्रह हो जाता है। आत्मा के ऊर्ध्वगमन के लिए इन्द्रियों का दमन आवश्यक है और इन्द्रिय दमन के लिए तप जरूरी है।

एक जगह कहा गया है कि 'तन जीते मन जीत'। अक्सर कहा जाता है कि मन को वश में कर लिया तो काया वश में हो जायेगी। मगर यह

भी नितान्त सत्य है कि यदि काया को वश में कर लिया तो मन स्वयमेव स्थिर हो जायेगा। यह कार्य तप द्वारा ही साध्य है क्योंकि तप से काया कसने लगती है।

जैन वाङ्मय में मोक्ष प्राप्ति के लिए क्रमशः द्विविध, त्रिविध एवं चतुर्विध मार्गों का प्रतिपादन है। द्विविध मार्ग में ज्ञान और क्रिया, त्रिविध मार्ग में सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र तथा चतुर्विध मार्ग में दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप का समावेश होता है। भगवान महावीर ने उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यगदर्शन आदि चतुः मार्गों को आत्मशुद्धि हेतु अत्यावश्यक कहा है। आचार्यों ने इससे बढ़कर यह भी कहा है कि भले ही चारित्र सम्यक चारित्र हो फिर भी तप के बिना मोक्ष नहीं हो सकता अर्थात रत्नत्रयी की आराधना भी तप के बिना अधूरी है, क्योंकि समस्त कर्मों के क्षय हेतु तप करना जरूरी हो जाता है। स्वयं तीर्थंकर परमात्मा भी कर्मों से मुक्त होने के लिए उग्र तश्चरण करते हैं। नवपद पूजा के तपपद स्तवन में कहा गया है कि

जाणंता तिहुं ज्ञाने संयुत, ते भव मुक्ति जिणंद।
जेह आदरे कर्म खपेवा, ते तप सुरतरू कंद।।

मति, श्रुत और अवधि इन तीनों ज्ञान से युक्त भगवान स्वयं जानते हैं कि मैं इसी भव में मोक्ष जाऊँगा, फिर भी वे अपने कर्मों के क्षय हेतु तप धर्म की आराधना करते हैं, कठोर तप करते हैं। प्रभु वीर ने साढ़े बारह वर्ष तक जो तप किया, उसकी तो कल्पना भी हम नहीं कर सकते।

तप की आवश्यकता को पुष्ट करते हुए आगमकारों ने यह भी कहा है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र की आराधना से घाती कर्मों का क्षय हो जाता है किन्तु अघाती कर्मों का नाश करने के लिए तो तप का ही आलम्बन लेना पड़ता है। चार घाती कर्मों के क्षय होने से तो केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है जबकि निर्वाण पद की प्राप्ति अघाती कर्मों के नष्ट होने पर ही सम्भव है और इन अघाती कर्मों को तप के आचरण से ही खत्म किया जा सकता है।

जैसे हाथी की सूंड़ में बड़ी-बड़ी वस्तुएँ तो आ सकती है किन्तु एक सुई यदि जमीन पर से उठाना हो, तो वह नहीं उठा सकता। उसके लिए

तो हाथ की अंगुलियों का सहारा लेना जरूरी हो जाता है। ठीक वैसे ही चार घाती कर्म के सम्पूर्ण क्षय के पश्चात शेष रहे चार अघाती कर्म सुई जैसे हैं। उनके लिए तप ही करना होता है और इसीलिए तप की आराधना सभी करते हैं।

यह शोध कृति तपाचार एवं तपोधर्म से ही सम्बन्धित है। इसमें तप विषयक समग्र पहलुओं पर मंथन किया गया है जो कि सात अध्यायों में निम्न प्रकार उल्लिखित है–

प्रथम अध्याय में तप का स्वरूप एवं उसकी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ बताई गई हैं जिससे 'तप' शब्द के अनेक अर्थों का बोध होता है और उसका रहस्यगत भावार्थ भी स्पष्ट हो जाता है।

द्वितीय अध्याय में तप के भेद-प्रभेद एवं प्रकारों का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है। इस अध्याय के मंथन से तप के विविध पक्षों को सुगमता से समझा जा सकता है।

तृतीय अध्याय में तप की महिमा को उजागर करने वाले कई विषयों पर प्रकाश डाला गया है। जैसे कि तप अन्तराय कर्म का उदय नहीं, तप साधना का उद्देश्य, तप की आवश्यकता क्यों, विविध दृष्टियों से तप की मूल्यवत्ता आदि का सारगर्भित एवं सटीक विवेचन किया है।

चतुर्थ अध्याय श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में प्रचलित तप विधियों से सम्बन्धित है। इसमें मुख्यतया श्वेताम्बर प्रवर्त्तित तपों का सविधि एवं सोद्देश्य वर्णन करते हुए उनके मूल पाठ भी दिये गये हैं। तपाराधकों के लिए यह अध्याय अत्यन्त उपयोगी है।

पंचम अध्याय भारतीय परम्पराओं में प्रचलित व्रतों से सम्बन्धित है। इसमें मुख्यतया हिन्दू, बौद्ध, ईसाई और मुस्लिम धर्म के व्रतों एवं पर्वोत्सवों का संक्षेप में वर्णन करते हुए जैन परम्परा से तुलना की गई है।

षष्ठम अध्याय में तप का ऐतिहासिक अनुशीलन एवं उसका तुलनात्मक पक्ष प्रस्तुत किया गया है। इसी के साथ तप को शोभित करने हेतु एवं तप पूर्णाहुति की अनुमोदना निमित्त उद्यापन करना चाहिए तथा उसके महत्त्व आदि को दर्शाया गया है।

सप्तम अध्याय उपसंहार के रूप में प्रस्तुत है। इस अन्तिम अध्याय में तप साधना को सार्वकालिक सिद्ध करते हुए उसे आधुनिक समस्याओं के निवारण, मनोविज्ञान, जीवन प्रबंधन, समाज विकास आदि के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है।

इस तपोसाधना के माध्यम से हम असत्य से सत्य, अंधकार से प्रकाश, मृत्यु से अमरत्व, तलहटी से शिखर की यात्रा करते हुए परमोच्च अणाहारी पद को उपलब्ध करें, यही ईष्ट से अभ्यर्थना है।

●

वन्दना की सरगम

आज से सत्रह वर्ष पूर्व एक छोटे से लक्ष्य को लेकर लघु यात्रा प्रारंभ हुई थी। उस समय यह अनुमान कदापि नहीं था कि वह यात्रा विविध मोड़ों से गुजरते हुए इतना विशाल स्वरूप धारण कर लेगी। आज इस दुरुह मार्ग के अन्तिम पड़ाव पर पहुँचने में मेरे लिए परम आधारभूत बने जगत के सार्थवाह, तीन लोक के सिरताज, अखिल विश्व में जिन धर्म की ज्योत को प्रदीप्त करने वाले, मार्ग दिवाकर, अरिहंत परमात्मा के पाद प्रसूनों में अनेकशः श्रद्धा दीप प्रज्वलित करती हूँ। उन्हीं की श्रेयस्कारी वाणी इस सम्यक ज्ञान की आराधना में मुख्य आलंबन बनी है।

रत्नत्रयी एवं तत्त्वत्रयी के धारक, समस्त विघ्नों के निवारक, सकारात्मक ऊर्जा के संवाहक, सिद्धचक्र महायंत्र को अन्तर्हृदय से वंदना करती हूँ। इस श्रुतयात्रा के क्रम में परम हेतुभूत, भाव विशुद्धि के अधिष्ठाता, अनंत लब्धि निधान गौतम स्वामी के चरणों में भी हृदयावनत हो वंदना करती हूँ।

धर्म-स्थापना करके जग को, सत्य का मार्ग बताया है ।
दिवाकर बनकर अखिल विश्व में, ज्ञान प्रकाश फैलाया है।
सर्वज्ञ अरिहंत प्रभु ने, पतवार बन पार लगाया है।
सिद्धचक्र और गुरु गौतम ने, विषमता में साहस बढ़ाया है।।

जिनशासन के समुद्धारक, कलिकाल में महान प्रभावक, जन मानस में धर्म संस्कारों के उन्नायक, चारों दादा गुरुदेव के चरणों में सश्रद्धा समर्पित हूँ। इन्हीं की कृपा से मैं रत्नत्रयात्मक साधना पथ पर अग्रसर हो पाई हूँ। इसी श्रृंखला में मैं आस्था प्रणत हूँ उन सभी आचार्य एवं मुनि भगवंतों की, जिनका आगम आलोडन एवं शस्त्र गुंफन इस कार्य के संपादन में अनन्य सहायक बना।

दत्त-मणिधर-कुशल-चन्द्र गुरु, जैन गगनांगण के ध्रुव सितारे हैं।
लक्षाधिक को जैन बनाकर, लहरायी धर्म ध्वजा हर द्वारे हैं।
श्रुत आलोडक सूरिजन मुनिजन, आगम रहस्यों को प्रकटाते हैं ।
अध्यात्म योगियों के शुभ परमाणु, हर बिगड़े काज संवारे हैं।।

जिनके मन, वचन और कर्म में सत्य का तेज आप्लावित है। जिनके आचार, विचार और व्यवहार में जिनवाणी का सार समाहित है ऐसे शासन के सरताज, खरतरगच्छाचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागरसूरीश्वरजी म.सा. के चरणारविन्द में भाव प्रणत वंदना। उन्हीं की अन्तर प्रेरणा से यह कार्य ऊँचाईयों पर पहुँच पाया है।

श्रद्धा समर्पण के इन क्षणों में प्रतिपल स्मरणीय, पुण्य प्रभावी, ज्योतिर्विद, प्रौढ़ अनुभवी , इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों पर शासन प्रभावना की यशोगाथाएँ अंकित कर रहे पूज्य उपाध्याय भगवन्त श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. के पाद पद्मों में श्रद्धायुक्त नमन करती हूँ। आपश्री द्वारा प्रदत्त प्रेरणा एवं अनुभवी ज्ञान इस यात्रा की पूर्णता में अनन्य सहायक रहा है।

इसी श्रृंखला में असीम उपकारों का स्मरण करते हुए श्रद्धानत हूँ अनुभव के श्वेत नवनीत, उच्च संकल्पनाओं के स्वामी, राष्ट्रसंत पूज्य पद्मसागरसूरीश्वर जी म.सा. के पादारविन्द में। आपश्री द्वारा प्रदत्त सहज मार्गदर्शन एवं कोबा लाइब्रेरी से पुस्तकों का भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ। आपश्री के निश्रारत सहजमना पूज्य गणिवर्य प्रशांतसागरजी म.सा. एवं सरस्वती उपासक, भ्राता मुनि श्री विमलसागरजी म.सा. ने भी इस ज्ञान यात्रा में हर तरह का सहयोग देते हुए कार्य को गति प्रदान की।

मैं हृदयावनत हूँ प्रभुत्वशील एवं स्नेहशील व्यक्तित्व के नायक, छत्तीस गुणों के धारक, युग प्रभावक पूज्य कीर्तियशसूरीश्वरजी म.सा. के चरण कमलों में, जिनकी असीम कृपा से इस शोध कार्य में नवीन दिशा प्राप्त हुई। आप श्री के विद्वद् शिष्य पूज्य रत्नयश विजयजी म.सा. द्वारा प्राप्त दिशानिर्देश कार्य पूर्णता में विशिष्ट आलम्बनभूत रहे।

कृतज्ञता ज्ञापन की इस कड़ी में विनयावनत हूँ शासन प्रभावक पूज्य राजयश सूरीश्वरजी म.सा. एवं मृदु व्यवहारी पूज्य वाचंयमा श्रीजी म.सा. (बहन महाराज) के चरणों में, जिन्होंने अहमदाबाद प्रवास के दौरान हृदयगत शंकाओं का सम्यक समाधान किया।

मैं भावप्रणत हूँ संयम अनुपालक, जग वल्लभ, नव्य अन्वेषक पूज्य आचार्य श्री गुणरत्नसागर सूरीश्वरजी म.सा. के चरणों में, जिन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से जिज्ञासाओं को उपशांत किया एवं अचलगच्छ परम्परा सम्बन्धी सूक्ष्म विधानों के रहस्यों से अवगत करवाया।

मैं आस्था प्रणत हूँ लाडनूं विश्व भारती के स्वर्ण पुरुष, श्रुत सागर के गूढ़ अन्वेषक, कुशल अनुशास्ता, आचार्य श्री महाप्रज्ञजी एवं आचार्य श्री महाश्रमणजी के पद पंकजों में, आप श्री की सृजनात्मक संरचनाओं के माध्यम से यह कार्य अथ से इति तक पहुँच पाया है।

इसी क्रम में मैं नतमस्तक हूँ शासन उन्नायक, संघ प्रभावक, त्रिस्तुतिक गच्छाधिपति पूज्य आचार्यप्रवर श्री जयंतसेन सूरीश्वरजी म.सा. के चरण पुंज में, जिन्होंने यथायोग्य सहायता देकर कार्य पूर्णाहुति में सहयोग दिया।

मैं श्रद्धाप्रणत हूँ शासक प्रभावक, क्रान्तिकारी संत श्री तरुणसागरजी म.सा. के चरण सरोज में, जिन्होंने अपने व्यस्त कार्यक्रमों में भी मुझे अपना अमूल्य समय देकर यथायोग्य समाधान दिए।

मैं अंत:करण पूर्वक आभारी हूँ शासन प्रभावक, मधुर गायक प.पू. पीयूषसागरजी म.सा. एवं प्रखर वक्ता प.पू. सम्यकरत्न सागरजी म.सा. के प्रति, जिन्होंने हर समय समुचित समस्याओं का समाधान देने में रुचि एवं तत्परता दिखाई। सच कहूं तो

जिनके सफल अनुशासन में, वृद्धिंगत होता जिनशासन।
माली बनकर जो करते हैं, संघ शासन का अनुपालन॥
कैलास गिरी सम जो करते रक्षा, भौतिकता के आंधी तूफानों से।
अमृत पीयूष बरसाते हरदम, मणि अपने शांत विचारों से॥
कर संशोधन किया कार्य प्रमाणित, दिया सद्ग्रन्थों का ज्ञान।
कीर्तियश है रत्न सम जग में, पद्म कृपा से किया ज्ञानामृत पान॥
सकल विश्व में गूंज रहा है, राजयश जयंतसेन का नाम।
गुणरत्न की तरुण स्फूर्ति से, महाप्रज्ञ बने श्रमण वीर समान॥

इस श्रुत गंगा में चेतन मन को सदा आप्लावित करते रहने की परोक्ष प्रेरणा देने वाली, जीवन निर्मात्री, अध्यात्म गंगोत्री, आशु कवयित्री, चौथे कालखण्ड में जन्म लेने वाली भव्य आत्माओं के समान प्राज्ञ एवं ऋजुस्वभावधारिणी, प्रवर्त्तिनी महोदया, गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. के पाद-प्रसूनों में अनन्तानन्त वंदन करती हूँ, क्योंकि यह जो कुछ भी लिखा गया है वह सब उन्हीं के कृपाशीष की फलश्रुति है अत: उनके पवित्र चरणों में पुनश्च श्रद्धा के पुष्प अर्पित करती हूँ।

उपकार स्मरण की इस कड़ी में मैं आस्था प्रणत हूँ वात्सल्य वारिधि, महतरा पद विभूषिता पूज्या विनिता श्रीजी म.सा., पूज्या प्रवर्त्तिनी चन्द्रप्रभा श्रीजी म.सा., स्नेह पुंज पूज्य कीर्तिप्रभा श्रीजी म.सा., ज्ञान प्रौढ़ा पूज्य दिव्यप्रभा श्रीजी म.सा., सरलमना पूज्य चन्द्रकलाश्रीजी म.सा., मरुधर ज्योति पूज्य मणिप्रभा श्रीजी म.सा., स्नेह गंगोत्री पूज्य मनोहर श्रीजी म.सा., मंजुल स्वभावी पूज्य सुलोचना श्रीजी म.सा., विद्या वारिधि पूज्य विद्युतप्रभा श्रीजी म.सा. आदि सभी पूज्यवर्य्याओं के चरणों में, जिनकी मंगल कामनाओं ने मेरे मार्ग को निष्कंटक बनाने एवं लक्ष्य प्राप्ति में सेतु का कार्य किया।

गुरु उपकारों को स्मृत करने की इस वेला में अथाह श्रद्धा के साथ कृतज्ञ हूँ त्याग-तप-संयम की साकार मूर्ति, श्रेष्ठ मनोबली, पूज्या सज्जनमणि श्री शशिप्रभा श्रीजी म.सा. के प्रति, जिनकी अन्तर प्रेरणा ने ही मुझे इस महत् कार्य के लिए कटिबद्ध किया और विषम बाधाओं में भी साहस जुटाने का आत्मबल प्रदान किया। चन्द शब्दों में कहूँ तो

आगम ज्योति गुरुवर्य्या ने, ज्ञान पिपासा का दिया वरदान।
अनायास कृपा वृष्टि ने जगाया, साहस और अंतर में लक्ष्य का भान।।
शशि चरणों में रहकर पाया, आगम-ग्रन्थों का सुदृढ़ ज्ञान।
स्नेह आशीष पूज्यवर्य्याओं का, सफलता पाने में बना सौपान।।

कृतज्ञता ज्ञापन के इस अवसर पर मैं अपनी समस्त गुरु बहिनों का भी स्मरण करना चाहती हूँ, जिन्होंने मेरे लिए सदभावनाएँ ही संप्रेषित नहीं की, अपितु मेरे कार्य में यथायोग्य सहयोग भी दिया।

मेरी निकटतम सहयोगिनी ज्येष्ठ गुरुबहिना पू. प्रियदर्शना श्रीजी म.सा., संयमनिष्ठा पू. जयप्रभा श्रीजी म.सा., सेवामूर्ति पू. दिव्यदर्शना श्रीजी म.सा. जाप परायणी पू. तत्वदर्शना श्रीजी म.सा., प्रवचनपटु पू. सम्यकदर्शना श्रीजी म.सा., सरलहृदयी पू. शुभदर्शना श्रीजी म.सा., प्रसन्नमना पू. मुदितप्रज्ञा श्रीजी म.सा., व्यवहार निपुणा शीलगुणा जी, मधुरभाषी कनकप्रभा श्रीजी, हंसमुख स्वभावी संयमप्रज्ञा श्रीजी, संवेदनहृदयी श्रुतदर्शना जी आदि सर्व के अवदान को भी विस्मृत नहीं कर सकती हूँ।

साध्वीद्वया सरलमना **स्थितप्रज्ञाजी** एवं मौन साधिका **संवेगप्रज्ञाजी** के प्रति विशेष आभार अभिव्यक्त करती हूँ क्योंकि इन्होंने प्रस्तुत शोध कार्य के दौरान व्यावहारिक औपचारिकताओं से मुक्त रखने, प्रूफ संशोधन करने

एवं हर तरह की सेवाएँ प्रदान करने में अद्वितीय भूमिका अदा की। साथ ही गुर्वाज्ञा को शिरोधार्य कर ज्ञानोपासना के पलों में निरन्तर मेरी सहचरी बनी रही।

इसी के साथ अल्प भाषिणी सुश्री मोनिका बैराठी (जयपुर) एवं शान्त स्वभावी सुश्री सीमा छाजेड़ (मालेगाँव) को साधुवाद देती हुई उनके उज्ज्वल भविष्य की तहेदिल से कामना करती हूँ क्योंकि शोध कार्य के दौरान दोनों मुमुक्षु बहिनों ने हर तरह की सेवाएँ प्रदान की।

अन्तर्विश्वास भगिनी मंडल का, देती दुआएँ सदा मुझको।
प्रिय का निर्देशन और सम्यक बुद्धि, मुदित करे अन्तर मन को।
स्थित संवेग की श्रुत सेवाएँ, याद रहेगी नित मुझको।
इस कार्य में नाम है मेरा, श्रेय जाता सज्जन मण्डल को।।

इस शोध प्रबन्ध के प्रणयन काल में जिनका मार्गदर्शन अहम् स्थान रखता है ऐसे जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्मदर्शन के निष्णात विद्वान, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर के संस्थापक, पितृ वात्सल्य से समन्वित, आदरणीय डॉ. सागरमलजी जैन के प्रति अन्तर्भावों से हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करती हूँ। आप श्री मेरे सही अर्थों में ज्ञान गुरु हैं। यही कारण है कि आपकी निष्काम करुणा मेरे शोध पथ को आद्यंत आलोकित करती रही है। आपकी असीम प्रेरणा, नि:स्वार्थ सौजन्य, सफल मार्गदर्शन और सुयोग्य निर्माण की गहरी चेष्टा को देखकर हर कोई भावविह्वल हो उठता है। आपके बारे में अधिक कुछ कह पाना सूर्य को दीपक दिखाने जैसा है।

दिवाकर सम ज्ञान प्रकाश से, जागृत करते संघ समाज
सागर सम श्रुत रत्नों के दाता, दिया मुझे भी लक्ष्य विराट।
मार्गदर्शक बनकर मुझ पथ का, सदा बढ़ाया कार्योल्लास।।

इस दीर्घ शोधावधि में संघीय कर्त्तव्यों का निर्वहन करते हुए अनेक स्थानों पर अध्ययनार्थ प्रवास हुआ। इन दिनों में हर प्रकार की छोटी-बड़ी सेवाएँ देकर सर्व प्रकारेण चिन्ता मुक्त रखने के लिए शासन समर्पित सुनीलजी मंजुजी बोथरा (रायपुर) के भक्ति भाव की अनुशंसा करती हूँ।

अपने सद्भावों की ऊर्जा से जिन्होंने मुझे सदा स्फुर्तिमान रखा एवं दूरस्थ रहकर यथोचित सेवाएँ प्रदान की ऐसी स्वाध्याय निष्ठा, श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख (जगदलपुर) भी साधुवाद के पात्र हैं।

सेवा स्मृति की इस कड़ी में परमात्म भक्ति रसिक, सेवाभावी श्रीमती शकुंतलाजी चन्द्रकुमारजी (लाला बाबू) मुणोत (कोलकाता) की अनन्य सेवा भक्ति एवं आत्मीय स्नेहभाव की स्मृति सदा मानस पटल पर बनी रहेगी।

इसी कड़ी में श्रीमति किरणजी खेमचंदजी बांठिया (कोलकाता) तथा श्रीमती नीलमजी जिनेन्द्रजी बैद (टाटा नगर) की निस्वार्थ सेवा भावना एवं मुद्राओं के चित्र निर्माण में उनके अथक प्रयासों के लिए मैं उनकी सदा ऋणी रहूँगी।

बनारस अध्ययन के दौरान वहाँ के भेलुपुर श्री संघ, रामघाट श्री संघ तथा निर्मलचन्दजी गांधी,कीर्तिभाई ध्रुव, अश्विन भाई शाह, ललितजी भंसाली, धर्मेन्द्रजी गांधी, दिव्येशजी शाह आदि परिवारों ने अमूल्य सेवाएँ दी, एतदर्थ उन सभी को सहृदय साधुवाद है।

इसी प्रवास के दरम्यान कलकत्ता, जयपुर, मुम्बई, जगदलपुर, मद्रास, बेंगलोर, मालेगाँव, टाटानगर, वाराणसी आदि के संघों एवं तत् स्थानवर्ती कान्तिलालजी मुकीम, मणिलालजी दुसाज, विमलचन्दजी महमवाल, महेन्द्रजी नाहटा, अजयजी बोथरा, पन्नालाल दुगड़, नवरतनमलजी श्रीमाल, मयूर भाई शाह, जीतेशमलजी, नवीनजी झाड़चूर, अश्विनभाई शाह, संजयजी मालू, धर्मचन्दजी बैद आदि ने मुझे अन्तप्रेरित करते हुए अपनी सेवाएँ देकर इस कार्य की सफलता का श्रेय प्राप्त किया है अतएव सभी गुरु भक्तों की अनुमोदना करती हुई उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करती हूँ।

इस श्रेष्ठतम शोध कार्य को पूर्णता देने और उसे प्रामाणिक सिद्ध करने में L.D. Institute अहमदाबाद श्री कैलाशसागरसूरि ज्ञानमंदिर-कोबा, प्राच्य विद्यापीठ-शाजापुर, खरतरगच्छ संघ लायब्रेरी-जयपुर, पार्श्वनाथ विद्यापीठ-वाराणसी के पुस्तकालयों का अनन्य सहयोग प्राप्त हुआ, एतदर्थ कोबा संस्थान के केतन भाई, मनोज भाई, अरूणजी आदि एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के ओमप्रकाश सिंह को बहुत-बहुत धन्यवाद और शुभ भावनाएँ प्रेषित करती हूँ।

प्रस्तुत शोध कार्य को जनग्राह्य बनाने में जिनकी पुण्य लक्ष्मी सहयोगी बनी है उन सभी श्रुत संवर्धक लाभार्थियों का मैं अनन्य हृदय से आभार अभिव्यक्त करती हूँ।

इस बृहद शोध खण्ड को कम्प्यूटराईज्ड करने एवं उसे जन उपयोगी बनाने हेतु मैं अंतर हृदय से आभारी हूँ मितभाषी श्री विमलचन्द्रजी मिश्रा

(वाराणसी) की, जिन्होंने इस कार्य को अपना समझकर कुशलता पूर्वक संशोधन किया। उनकी कार्य निष्ठा का ही परिणाम है कि यह कार्य आज साफल्य के शिखर पर पहुँच पाया है।

इसी क्रम में ज्ञान रसिक, मृदुस्वभावी श्रीरंजनजी कोठारी, सुपुत्र रोहितजी कोठारी एवं पुत्रवधु ज्योतिजी कोठारी का भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ कि उन्होंने जिम्मेदारी पूर्वक सम्पूर्ण साहित्य के प्रकाशन एवं कंवर डिजाईनिंग में सजगता दिखाई तथा उसे लोक रंजनीय बनाने का प्रयास किया। शोध प्रबन्ध की समस्त कॉपियों के निर्माण में अपनी पुण्य लक्ष्मी का सदुपयोग कर श्रुत उन्नयन में निमित्तभूत बने हैं।

Last but not the least के रूप में उस स्थान का उल्लेख भी अवश्य करना चाहूँगी जो मेरे इस शोध यात्रा के प्रारंभ एवं समापन की प्रत्यक्ष स्थली बनी। सन् १९९६ के कोलकाता चातुर्मास में जिस अध्ययन की नींव डाली गई उसकी बहुमंजिल इमारत सत्रह वर्ष बाद उसी नगर में आकर पूर्ण हुई। इस पूर्णाहुति का मुख्य श्रेय जाता है श्री जिनरंगसूरि पौशाल के ट्रस्टी श्री विमलचंदजी महमवाल, कान्तिलालजी मुकीम, कमलचंदजी धांधिया, मणिलालजी दुसाज आदि को जिन्होंने अध्ययन के लिए यथायोग्य स्थान एवं सुविधाएँ प्रदान की तथा संघ समाज के कार्यभार से मुक्त रखने का भी प्रयास किया।

इस शोध कार्य के अन्तर्गत जाने-अनजाने में किसी भी प्रकार की त्रुटि रह गई हो अथवा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में सहयोगी बने हुए लोगों के प्रति कृतज्ञ भाव अभिव्यक्त न किया हो तो सहृदय मिच्छामि दुक्कडम् की प्रार्थी हूँ।

प्रतिबिम्ब इन्दू का देख जल में, आनंद पाता है बाल ज्यों।
आप्त वाणी मनन कर, आज प्रसन्नचित्त मैं हूँ।
सत्गुरु जनों के मार्ग का, यदि सत्प्ररूपण ना किया।
क्षमत्व हूँ मैं सुज्ञ जनों से, हो क्षमा मुझ गल्तियाँ।।

●

मिच्छामि दुक्कडं

आगम मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, जैन जगत की अनुपम साधिका, प्रवर्त्तिनी पद सुशोभिता, खरतरगच्छ दीपिका पू. गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की अन्तरंग कृपा से आज छोटे से लक्ष्य को पूर्ण कर पाई हूँ।

यहाँ शोध कार्य के प्रणयन के दौरान उपस्थित हुए कुछ संशय युक्त तथ्यों का समाधान करना चाहूँगी–

सर्वप्रथम तो मुनि जीवन की औत्सर्गिक मर्यादाओं के कारण जानते-अजानते कई विषय अनछुए रह गए हैं। उपलब्ध सामग्री के अनुसार ही विषय का स्पष्टीकरण हो पाया है अतः कहीं-कहीं सन्दर्भित विषय में अपूर्णता भी प्रतीत हो सकती है।

दूसरा जैन संप्रदाय में साध्वी वर्ग के लिए कुछ नियत मर्यादाएँ हैं जैसे प्रतिष्ठा, अंजनशलाका, उपस्थापना, पदस्थापना आदि करवाने एवं आगम शास्त्रों को पढ़ाने का अधिकार साध्वी समुदाय को नहीं है। योगोद्वहन, उपधान आदि क्रियाओं का अधिकार मात्र पदस्थापना योग्य मुनि भगवंतों को ही है। इन परिस्थितियों में प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या एक साध्वी अनधिकृत एवं अननुभूत विषयों पर अपना चिन्तन प्रस्तुत कर सकती है?

इसके जवाब में यही कहा जा सकता है कि 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' यह शोध का विषय होने से यत्किंचित लिखना आवश्यक था अतः गुरु आज्ञा पूर्वक विद्वद्वर आचार्य भगवंतों से दिशा निर्देश एवं सम्यक जानकारी प्राप्तकर प्रामाणिक उल्लेख करने का प्रयास किया है।

तीसरा प्रायश्चित्त देने का अधिकार यद्यपि गीतार्थ मुनि भगवंतों को है किन्तु प्रायश्चित्त विधि अधिकार में जीत (प्रचलित) व्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त योग्य तप का वर्णन किया है। इसका उद्देश्य मात्र यही है कि भव्य जीव पाप भीरु बनें एवं दोषकारी क्रियाओं से परिचित होवें। कोई भी आत्मार्थी इसे देखकर स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण न करें।

इस शोध के अन्तर्गत कई विषय ऐसे हैं जिनके लिए क्षेत्र की दूरी के कारण यथोचित जानकारी एवं समाधान प्राप्त नहीं हो पाए, अतः तद्विषयक पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं कर पाई हूँ।

कुछ लोगों के मन में यह शंका भी उत्पन्न हो सकती है कि मुद्रा विधि के अधिकार में हिन्दू, बौद्ध, नाट्य आदि मुद्राओं पर इतना गूढ़ अध्ययन क्यों?

मुद्रा एक यौगिक प्रयोग है। इसका सामान्य हेतु जो भी हो परंतु इसकी अनुश्रुति आध्यात्मिक एवं शारीरिक स्वस्थता के रूप में ही होती है।

प्रायः मुद्राएँ मानव के दैनिक चर्या से सम्बन्धित है। इतर परम्पराओं का जैन परम्परा के साथ पारस्परिक साम्य-वैषम्य भी रहा है अतः इनके सद्पक्षों को उजागर करने हेतु अन्य मुद्राओं पर भी गूढ़ अन्वेषण किया है।

यहाँ यह भी कहना चाहूँगी कि शोध विषय की विराटता, समय की प्रतिबद्धता, समुचित साधनों की अल्पता, साधु जीवन की मर्यादा, अनुभव की न्यूनता, व्यावहारिक एवं सामान्य ज्ञान की कमी के कारण सभी विषयों का यथायोग्य विश्लेषण नहीं भी हो पाया है। हाँ, विधि-विधानों के अब तक अस्पृष्ट पन्नों को खोलने का प्रयत्न अवश्य किया है। प्रज्ञा सम्पन्न मुनि वर्ग इसके अनेक रहस्य पटलों को उद्घाटित कर सकेंगे। यह एक प्रारंभ मात्र है।

अन्ततः जिनवाणी का विस्तार करते हुए एवं शोध विषय का अन्वेषण करते हुए अल्पमति के कारण शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा की हो, आचार्यों के गूढ़ार्थ को यथारूप न समझा हो, अपने मत को रखते हुए जाने-अनजाने अर्हतवाणी का कटाक्ष किया हो, जिनवाणी का अपलाप किया हो, भाषा रूप में उसे सम्यक अभिव्यक्ति न दी हो, अन्य किसी के मत को लिखते हुए उसका संदर्भ न दिया हो अथवा अन्य कुछ भी जिनाज्ञा विरुद्ध किया हो या लिखा हो तो उसके लिए त्रिकरण-त्रियोगपूर्वक श्रुत रूप जिन धर्म से मिच्छामि दुक्कड़म् करती हूँ।

●

विषयानुक्रमणिका

अध्याय-1 : तप का स्वरूप एवं परिभाषाएँ 1-20

1. तप शब्द के विभिन्न अर्थ 2. तप की शास्त्रीय परिभाषाएँ 3. तप करने का अधिकार किसे? 4. तपस्वी कौन? 5. तप प्रारम्भ हेतु शुभ दिन 6. तप प्रारम्भ की पूर्व विधि 7. प्रत्याख्यान पारने की विधि 8.प्रत्येक तप में करने योग्य सामान्य विधि 9. सर्व तपस्या ग्रहण करने की विधि।

अध्याय-2 : तप के भेद-प्रभेद एवं प्रकारों का वैशिष्ट्य 21-102

1. बाह्य और आभ्यन्तर तप भेद के हेतु 2. बाह्य एवं आभ्यन्तर तप में श्रेष्ठ कौन? 3. तप का वर्गीकरण– बाह्य एवं आभ्यन्तर द्विविध रूप में।

• बाह्य तप के छह प्रकार– (i) अनशन (ii) ऊनोदरी (iii) भिक्षाचर्या (iv) वृत्तिसंक्षेप (v) रसपरित्याग और (vi) कायक्लेश का स्वरूप एवं उसके लाभ।

• आभ्यन्तर तप के छह प्रकार– (i) प्रायश्चित्त (ii) विनय (iii) वैयावृत्य (iv) स्वाध्याय (v) ध्यान और (vi) व्युत्सर्ग का स्वरूप एवं विविध लाभ।

4. तप के अन्य प्रकार–

• निक्षेप की अपेक्षा (i) नाम तप (ii) स्थापना तप (iii) द्रव्य तप।

• अनाहार की अपेक्षा– (i) ओजाहार त्याग (ii) रोमाहार त्याग (iii) कवलाहार त्याग।

• कवलाहार त्याग की अपेक्षा– (i) अक्षुधा तप (ii) स्वभाव तप (iii) इहलोक तप (iv) परलोक तप (v) वीतराग तप (vi) सराग तप (vii) बाल तप (viii) अकाम तप।

• अन्य तप भेदों की अपेक्षा– (i) सूर्योदय सापेक्ष (ii) सूर्यास्त सापेक्ष

(iii) काल सापेक्ष (iv) आहार सापेक्ष।

अध्याय-3 : तप साधना की उपादेयता एवं उसका महत्त्व **103-166**

1. तप साधना की आवश्यकता क्यों? 2. तप अन्तराय कर्म का उदय नहीं 3. तपस्या का फल 4. तप साधना का उद्देश्य 5. तप साधना के प्रत्यक्ष लाभ 6. तप और आसन 7. तप और प्राणायाम 8. तप और ध्यान 9. विविध दृष्टियों से तप साधना की मूल्यवत्ता

• जैन धर्म की दृष्टि से • तीर्थंकर की दृष्टि से • ग्रन्थों की दृष्टि से • आयुर्वेद की दृष्टि से • प्राकृतिक चिकित्सा की दृष्टि से • वैज्ञानिक दृष्टि से • श्रुतज्ञान आराधना की दृष्टि से • उत्कृष्ट मंगल की दृष्टि से • कर्मक्षय की दृष्टि से • इन्द्रिय नियंत्रण की दृष्टि से • मनोबल वर्धन की दृष्टि से • गृहस्थ धर्म की दृष्टि से • भौतिक सुख-समृद्धियों की दृष्टि से • देव सान्निध्य की दृष्टि से • आध्यात्मिक लब्धियों एवं सिद्धियों की दृष्टि से • वैदिक धर्म की दृष्टि से • बौद्ध धर्म की दृष्टि से • व्यावहारिक दृष्टि से • वर्तमान युग की दृष्टि से • विविध पहलुओं की दृष्टि से।

10. तप विधियों के रहस्य–

• तप काल में बाह्य कार्यों से निवृत्ति आवश्यक क्यों? • तपस्या में साथिया, कायोत्सर्ग, जाप आदि क्यों? • तपस्या में देववन्दन कब और क्यों?

11. आधुनिक युग में बढ़ता आडम्बर और प्रदर्शन कितना प्रासंगिक? 12. बाह्य तप अधिक आवश्यक है या आभ्यन्तर तप?

अध्याय–4 : जैन धर्म की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में प्रचलित तप-विधियाँ **167-194**

1. श्वेताम्बर ग्रन्थों में वर्णित तपश्चर्या सूची–

(i) अन्तकृतदशा सूत्र में उल्लिखित तप (ii) उत्तराध्ययन सूत्र में निर्दिष्ट तप (iii) पंचाशक प्रकरण में उपदिष्ट तप (iv) प्रवचनसारोद्धार में

निरूपित तप (v) तिलकाचार्य सामाचारी में वर्णित तप (vi) सुबोधासामाचारी में प्रतिपादित तप (vii) विधिमार्गप्रपा में प्ररूपित तप (viii) आचारदिनकर में निर्दिष्ट तप।

2. तप विधियाँ– • केवलज्ञानी तीर्थंकर पुरुषों द्वारा प्ररूपित तप–

1. भिक्षु प्रतिमा-तप 2. सप्त सप्तमिका भिक्षु प्रतिमा-तप 3. अष्टअष्टमिका भिक्षु प्रतिमा-तप 4. नवनवमिका भिक्षु प्रतिमा-तप 5. दशदशमिका भिक्षु प्रतिमा-तप 6. भद्रप्रतिमा-तप 7. महाभद्र प्रतिमा-तप 8. भद्रोत्तर प्रतिमा-तप 9. सर्वतोभद्र प्रतिमा-तप 10. गुणरत्नसंवत्सर-तप 11. लघुसिंह निष्क्रीडित-तप 12. महासिंह निष्क्रीडित-तप 13. कनकावली-तप 14. मुक्तावली-तप 15. रत्नावली-तप 16. एकावली-तप 17. आयंबिल वर्धमान-तप 18. श्रेणी-तप 19. प्रतर-तप 20. घन-तप 21. महाघन-तप 22. वर्ग-तप 23. वर्ग वर्ग-तप 24. प्रकीर्ण-तप 25. इन्द्रियजय-तप 26. कषायजय-तप 27. योगशुद्धि-तप 28. धर्मचक्र-तप 29. लघुअष्टाह्निका-तपद्वय 30. अष्टकर्मसूदन-तप 31. उपासकप्रतिमा-तप।

• गीतार्थ मुनियों द्वारा प्ररुपित तप–

1. कल्याणक-तप 2. तीर्थंकर दीक्षा-तप 3. तीर्थंकर केवलज्ञान-तप 4. तीर्थंकर निर्वाण-तप 5. ज्ञान दर्शन चारित्र-तप 6. चान्द्रायण-तप 7. वर्धमान-तप 8. परमभूषण-तप 9. ऊनोदरिका-तप 10. सल्लेखना-तप 11. सर्वसंख्या श्री महावीर-तप 12. ग्यारह अंग-तप 13. द्वादशांग-तप 14. चतुर्दशपूर्व-तप 15. ज्ञानपंचमी-तप 16. चतुर्विध संघ-तप 17. संवत्सर (वर्षी) तप 18. संवत्सर-तप 19. बारहमासिक-तप 20. अष्टमासिक-तप 21. छहमासिक-तप 22. पुण्डरीक-तप 23. नन्दीश्वर-तप 24. माणिक्य प्रस्तारिका-तप 25. पद्मोत्तर-तप 26. समवशरण-तप 27. एकादश गणधर-तप 28. अशोकवृक्ष-तप 29. एक सौ सित्तरजिन-तप 30. नवकार-तप 31. पंच परमेष्ठी-तप 32. दशविध यतिधर्म-तप 33. मेरू-तप 34. बत्तीस कल्याणक-तप 35. च्यवन-तप 36. सूर्यायण-तप 37. लोकनाली-तप 38. कल्याणक अष्टाह्निका-तप 39. माघमाला-तप 40. महावीर-तप 41. लक्षप्रतिपद-तप 42. अष्टापद पावड़ी-तप 43. मोक्षदण्ड-तप 44. अदुःखदर्शी-तप 45. गौतमपात्र-तप 46. निर्वाणदीप

(दीपावली)-तप 47. अखण्डदशमी-तप 48. कर्मचूर्ण-तप 49. लघुनंद्यावर्त्त-तप 50. बृहत्नंद्यावर्त्त-तप 51. बीस स्थानक-तप 52. अष्टकर्मोत्तर प्रकृति-तप।

- **फल की आकांक्षा से किये जाने वाले तप–**

1. सर्वाङ्गसुन्दर-तप 2. निरूजशिखा-तप 3. सौभाग्य कल्पवृक्ष-तप 4. दमयन्ती-तप 5. आयतिजनक-तप 6. अक्षयनिधि-तप 7. मुकुटसप्तमी-तप 8. अम्बा-तप 9. रोहिणी-तप 10. श्रुतदेवता-तप 11. श्री तीर्थंकर मातृ-तप 12. सर्वसुख सम्पत्ति-तप 13. लघु पखवासा-तप 14. अमृताष्टमी-तप 15. परत्रपाली-तप 16. नमस्कार फल-तप 17. अविधवा दशमी-तप।

- **अर्वाचीन परम्परा में प्रचलित लौकिक तप–**

1. अशुभ निवारण-तप 2. दारिद्रय निवारण-तप 3. कलंक निवारण-तप 4. स्वर्ण करण्डक-तप 5. अष्ट महासिद्धि-तप।

- **अर्वाचीन परम्परा में प्रचलित लोकोत्तर तप–**

1. मेरुत्रयोदशी-तप 2. पौषदशमी-तप 3. मौन एकादशी-तप 4. दस प्रत्याख्यान-तप 5. अट्ठाईस लब्धि-तप 6. अष्ट प्रवचन मातृ-तप 7. चत्तारि अट्ठ दस दोय-तप 8. कण्ठाभरण-तप 9. क्षीरसमुद्र-तप 10. पैंतालीस आगम-तप 11. तेरह काठिया-तप 12, देवलइंडा-तप 13. नवनिधि-तप 14. नव ब्रह्मचर्य गुप्ति-तप 15. निगोद आयुक्षय-तप 16. श्री पार्श्व गणधर-तप 17. रत्नरोहण-तप 18. बृहत् संसारतारण-तप 19. चिन्तामणि-तप 20. शत्रुञ्जय मोदक-तप 23. शत्रुञ्जय छट्ठ-अट्ठम-तप 24. सिद्धि-तप 25. परदेशी राजा-तप 26. बावन जिनालय-तप 27. तीर्थ-तप 28. पचरंगी-तप 29. चन्दनबाला-तप 30. नवपद ओली-तप 31. एक सौ आठ पार्श्वनाथ-तप 32. बीस विहरमान-तप 33. अष्टमी-तप 34. सहस्रकूट-तप।

3. दिगम्बर परम्परा में प्रचलित तप

(i) हरिवंश पुराण में वर्णित तप सूची (i) चारित्रसार में निर्दिष्ट तप (iii) वसुनन्दिश्रावकाचार में उल्लेखित तप सूची (iv) व्रतविधान संग्रह में कथित तप सूची।

अध्याय–5 : भारतीय परम्पराओं में प्रचलित व्रतों (तपों) का सामान्य स्वरूप 195-213

1. हिन्दू धर्म में मान्य व्रतों का निर्देश 2. बौद्ध धर्म में व्रत पर्वोत्सव 3. मसीही (ईसाई) धर्म के पर्वोत्सव 4. मुस्लिम धर्म में व्रतोत्सव।

अध्याय-6 : तप का ऐतिहासिक अनुशीलन एवं तुलनात्मक अध्ययन 214-226

1. तप साधना की ऐतिहासिक विकास यात्रा 2. उद्यापन क्या, क्यों और कब? 3. उद्यापन सम्बन्धी सामग्री 4. उद्यापन कर्त्ता को कुछ निर्देश 5. तुलनात्मक अध्ययन।

अध्याय–7 : उपसंहार 227-235

सहायक ग्रन्थ सूची 236-244

●

अध्याय-1

तप का स्वरूप एवं परिभाषाएँ

श्रमण संस्कृति में तप योग का गौरवपूर्ण स्थान है। भारतीय सन्त-साधकों ने तो इसे तप प्रधान संस्कृति से ही उपमित किया है। तपस्या श्रमण संस्कृति का प्राण है, क्योंकि श्रमण ही तपोसाधना के निर्वाहक होते हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने तप का दूसरा नाम श्रमण दिया है। जो साधक आत्म कार्यों में श्रम करता है, तप की साधना करता है, वह श्रमण है।[1] शीलांकाचार्य ने स्थानांग टीका में इसी बात को पुष्ट करते हुए कहा है कि जो क्षीणकाय है, तप द्वारा शरीर को खेद-खिन्न करता है, वह श्रमण है।[2] वस्तुत: 'श्रमण' शब्द तपस्वी का वाचक है। मुनि जीवन का मूल मन्त्र तप है, तप ही उसका परम धर्म है। इसीलिए श्रमण संस्कृति ने तप को धर्म की संज्ञा दी है। पूर्वाचार्यों ने इसी मत का अनुसरण करते हुए दशवैकालिकसूत्र में कहा है[3]–

''धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो'' अर्थात अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है। इस आगम पाठ के आधार पर कहा जा सकता है कि तप के बिना धर्म का कोई अस्तित्व ही नहीं है। कोई भी साधना पद्धति तपःशून्य नहीं हो सकती।

तप दो वर्णों का अत्यन्त लघु शब्द है, किन्तु इसकी शक्ति अचिन्त्य है। जैसे– 'अणु' शब्द छोटा है लेकिन उसकी शक्ति विराट् है। आज बड़े-बड़े राष्ट्र भी अणु (परमाणु) शक्ति से भयभीत हैं, वैसे ही तपःशक्ति भी असीम और विराट् है। पूर्वाचार्यों ने इस शब्द की अनेक व्याख्याएँ की हैं तथा भिन्न-भिन्न व्युत्पत्तियों के माध्यम से 'तप' को सम्यक् रूप से विश्लेषित किया है। यद्यपि तप शब्द की व्याख्याओं में अर्थत: एकरूपता है, किन्तु बोध की दृष्टि से नवीनता परिलक्षित होती है। जिज्ञासु वर्ग के लिए वह स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है –

तप शब्द के विभिन्न अर्थ

जैन टीकाओं एवं प्राचीन ग्रन्थों में तप के कई अर्थ उल्लिखित हैं। संस्कृत व्युत्पत्ति के अनुसार **"तप्यतेऽनेनेति तपः"** अर्थात जिसके द्वारा तपा जाता है अथवा शरीर को तपाया जाता है, वह तप है। शब्द-रचना की दृष्टि से तप शब्द तप् धातु से बना है जिसका अर्थ तपना है।[4]

• आचार्य अभयदेवसूरि ने तप का निरुक्त (शाब्दिक अर्थ) करते हुए कहा है– **"रस-रुधिर-मांस-मेदास्थि-मज्जा-शुक्राव्यनेन तप्यन्ते, कर्माणि वाऽशुभानीत्यतस्तपो नाम निरुक्तः।"**

जिस साधना के द्वारा शरीर के रस, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा और शुक्र – ये धातुएँ और अशुभ कर्म क्षीण होते हैं, सूख जाते हैं, जल जाते हैं, वह तप है।[5]

• शास्त्रों में तपस्वियों के सम्बन्ध में वर्णन आता है– "सुक्खे, लुक्खे, निम्मंसे" अर्थात तपस्वी का शरीर लूखा– सूखा, मांस-रक्त रहित हड्डियों का ढांचा मात्र बन जाता है और उनके कर्म तो तपकर क्षीण होते ही हैं। इस प्रकार तप की उक्त व्याख्या भौतिक और आध्यात्मिक उभय दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है।

• जैन वाङ्मय के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने तप का निरूक्त इस प्रकार बतलाया है[6]– **"तापयति अष्टप्रकारं कर्म इति तपः।"**

जो अष्टविध कर्मों को तपाता है अथवा अष्टकर्मों को विनष्ट करने में समर्थ हो, वह तप है।[6]

• जैन आगमों के प्रसिद्ध चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर ने तप की व्याख्या में कहा है– **"तप्पते अणेण पावं कम्ममिति तपो।"** जिस साधना या आराधना से पाप कर्म तप्त-विनष्ट होता है, वह तप है।[7]

• दशवैकालिकचूर्णि में जिनदासगणि ने तप का विश्लेषण करते हुए कहा है– **"तवो णाम तावयति अट्ठविहं कम्मगंठि नासेतित्ति वुत्तं भवइ।"** जो आठ प्रकार की कर्म ग्रन्थियों को तपाता है, उसका नाश करता है, वह तप है।[8]

हम देखते हैं कि शरद् ऋतु में पहाड़ों पर बर्फ जमती है, पानी की चट्टानें बन जाती हैं। उन पर चलें तो फिसलन की पूर्ण संभावना रहती है, किन्तु ग्रीष्मकाल में वही चट्टानें पानी बनकर बह जाती हैं या सूख जाती हैं। उसी प्रकार

संसारी आत्मा के शुद्ध प्रदेशों पर पाप कर्मों की चट्टानें जमी हुई हैं। वह तपाग्नि से पिघल कर सूख जाती हैं या चेतना केन्द्र से निःसृत हो जाती हैं। कहने का तात्पर्य है कि तप आचरण कर्म रूपी हिमखण्डों को भी चूर-चूर करने की ताकत रखता है।

• उत्तराध्ययनसूत्र की टीका के अनुसार **"तपति पुरोपात्त कर्माणि क्षपणेनेति तपो ..... यदर्हद्वचनानुसारि तदेव समीचीनमुपादीयते।"** अर्थात जो पूर्व उपार्जित कर्मों को क्षीण करता है, वह तप है। अर्हत वचन के अनुसार तप ही सम्यक् है और वही उपादेय है।[9]

• आवश्यक हारिभद्रीयटीका एवं दशवैकालिक हारिभद्रीयटीका में तप का मर्म बताते हुए कहा गया है– **"तपयत्यनेकभवोपात्तमष्टप्रकारं कर्मेति तपः।"** जो अनेक भवों में उपार्जित आठ प्रकार के कर्मों को जलाता है, नष्ट करता है, वह तप है।[10]

• दिगम्बर परम्परा के पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में पृथक्-पृथक् प्रसंगों के अनुसार तप की अनेक व्याख्याएँ उल्लिखित की हैं। वे कहते हैं– **"अनिगूहित्त वीर्यस्य मार्गाविरोधिकाय क्लेशतपः"** आत्मशक्ति को न छिपाते हुए मोक्ष मार्ग के अनुकूल शरीर को क्लेश अर्थात कष्ट देना तप है।[11] **"कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः।"** कर्म क्षय के लिए जो तपा जाता है, वह तप है।[12] **"अनशनाव-मौदर्यादि लक्षणं तपः"** अनशन, अवमौदर्य आदि करना तप है।[13] पूज्यपाद की उक्त सभी व्याख्याएँ तप के आध्यात्मिक अर्थ को सूचित करती हैं।

• तत्त्वार्थवार्तिककार ने तप की व्याख्या करते हुए समझाया है कि **"कर्मनिर्दहनात्तपः"** कर्म को विशेष रूप से दहन कर देना, जला देना तप है। जैसे– अग्नि सचित तृण आदि ईंधन को भस्म कर देती है वैसे ही अनशन आदि तप मिथ्यादर्शन आदि कर्मों का दाह करते हैं, इसलिए तप कहे जाते हैं।[14]

• इसी क्रम में आचार्य अकलंक यह भी कहते हैं कि – **"देहेन्द्रिय तापाद्वा।"** अर्थात अनशन आदि बाह्य तप देह और इन्द्रियों की विषय प्रवृत्ति को रोककर उन्हें तपा देते हैं, अतः इन्हें तप संज्ञा प्राप्त है। आशय यह है कि बाह्य तप से इन्द्रियों का निग्रह सहज हो जाता है।

• तत्त्वसार में देवसेन ने कहा है– **"परं कर्मक्षयार्थं यत्तप्यते तत्तपः स्मृतम्।"** विशिष्ट कर्मों का क्षय करने के लिए जिस शरीर आदि को तपाया जाता है, वह तप रूप में स्मृत होना चाहिए।[15]

• चारित्रसार में तप का अर्थ कुछ अलग हटकर किया गया है। यहाँ चामुण्डराय कहते हैं कि **"रत्नत्रयाविर्भावार्थभिच्छानिरोधस्तपः।" अथवा "कर्मक्षयार्थं मार्गाविरोधेन तप्यते इति तपः।"** रत्नत्रय का आविर्भाव करने के लिए मिथ्यात्व भाव का निरोध करना, उसे रोकना तप है अथवा जिसके द्वारा पाप कर्मों का क्षय करने के लिए उन्मार्ग को अविरोध (प्रबल शक्ति) पूर्वक तपाया जाता है, वह तप है।[16]

• मूलाचार टीका में आचार्य वट्टकेर ने तप का निम्न लक्षण बतलाते हुए कहा है- **"तपति दहति शरीरेन्द्रियाणि तपः बाह्याभ्यन्तरलक्षणं कर्मदहन समर्थम्।"** जिसमें शरीर और इन्द्रियाँ तपती हैं, दहकती हैं वह बाह्य तप है और जो कर्मों को जलाने में समर्थ है, वह तप का आभ्यन्तर लक्षण है।[17]

• जयसेनाचार्यकृत प्रवचनसारवृत्ति के उल्लेखानुसार **"समस्त रागादि भावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः।"** समस्त रागादि भाव का स्वेच्छा पूर्वक त्यागकर स्व स्वरूप को प्राप्त करना एवं विजयी बनना तप है।[18]

• पद्मनन्दि पंचविंशति में तप का गूढ़ार्थ बतलाते हुए मुनि पद्मनन्दि ने कहा है- **"कर्ममलविलयहेतोर्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम्।"** अर्थात सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र को धारण करने वाले साधु के द्वारा जो कर्म रूपी मैल को दूर करने के लिए तपा जाता है, उसे तप कहा गया है। वह बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का तथा अनशन आदि के भेद से बारह प्रकार का है। यह तप जन्म रूपी समुद्र से पार होने के लिए जहाज के समान है।[19]

• आचार्य वादीभसिंह ने अहिंसा को तप कहा है। वे क्षत्रचूड़ामणि में लिखते हैं कि **"तत्तपो यत्र जन्तूनां सन्तापो नैव जातुचित।"**– जिसमें किसी भी जीव को किञ्चित मात्र भी सन्ताप या क्लेश नहीं होता, वही सच्चा तप है।[20]

• आचार्य हेमचन्द्र ने टीका ग्रन्थों का अनुसरण करते हुए कर्मों को परितप्त करने वाली क्रिया को तप कहा है।[21]

• पंचाशक टीका के अनुसार भी जो क्रिया कर्मों को तपाती है, जलाती है, वह तप है।[22] धर्मसंग्रह के निर्देशानुसार जिस आचरण के द्वारा रस आदि धातुओं को क्षीण किया जाता है अथवा कर्ममल को नष्ट किया जाता है, वह तप है।[23]

उपर्युक्त अर्थों से निष्कर्ष पाते हैं कि जिस सम्यक् कर्म के द्वारा पाप कर्मों को विनष्ट, शरीर और इन्द्रियों को प्रक्षीण एवं मिथ्या भावों का निरोध किया जाता है, वह तप कहलाता है।

तप की शास्त्रीय परिभाषाएँ

जैसे सूर्य और अग्नि के ताप से बाह्य मल दूर हो जाता है, वैसे ही तप के द्वारा अन्तर मलों का शोधन होता है। जैन-साहित्य में इस तरह की अनेक परिभाषाएँ उल्लिखित हैं। जैनागमों में तप शब्द का प्रयोग तो देखा जाता है किन्तु वहाँ तप के फलादेश पर ही अधिक चर्चा है, जबकि टीका ग्रन्थों एवं परवर्ती ग्रन्थों में यह वर्णन समुचित रूप से प्राप्त होता है। जो इस प्रकार है–

तप की भाव प्रधान परिभाषा करते हुए एक आचार्य ने कहा है– **''इच्छा निरोधस्तपः''** इच्छाओं का निरोध करना ही तप है। इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं। उन अनन्त लिप्साओं को दूर करने का सम्यक् उपक्रम करना ही तप है। तपो योग से समग्र आकांक्षाएँ सहज नष्ट हो जाती हैं।

आचार्य शिवकोटि तप की विशुद्ध व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि

चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य, आउंजणा य जो होई ।
सो चेव जिणेहिं, तवो भणिदो असढं चरंतस्स ।।

चारित्र में जो उद्योग और उपयोग किया जाता है, जिनेश्वर परमात्मा ने उसे ही तप कहा है तथा यह तप आराधना मायारहित मुनि के लिए ही सम्भव है। यहाँ सम्यक् चारित्र को ही सम्यक् तप कहा गया है।[24]

आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्म निमग्नता की स्थिति को तप बतलाया है। वे द्वादशानुप्रेक्षा में निर्दिष्ट करते हैं–

विसय-कसाय विणिग्गह भावं, काऊण झाण-सज्झाए ।
जो भावइ अप्पाणं, तस्स तवं होदि णियमेण ।।

विषय-कषायों का निग्रह करके ध्यान और स्वाध्याय में निरत होते हुए जो आत्मा को ध्याता है अर्थात आत्मचिन्तन करता है उसके ही नियम से तप होता है।[25]

उपाध्याय यशोविजयजी ने बाह्याभ्यन्तर तपों को अभीष्ट मानते हुए कहा है–

ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः, कर्मणां तापनात तपः ।
तदाभ्यन्तरमेवेष्टं, बाह्यं तदुपबृंहकम् ।।

जो कर्मों को तपाता है वह ज्ञानरूप क्रिया ही तप है।[26]

धवला पुस्तक के अनुसार मोक्ष मार्ग के तीन साधनों को आविर्भूत करने

के लिए मिथ्यात्व का निरोध करना तप है। **''तिण्हं रयणाणमाविब्भाव-ट्ठमिच्छाणिरोहो तवो।''**

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक में मोक्षमार्ग के अनुकूल कायिक कष्ट को तप कहा गया है।[27]

आचार्य विद्यानन्द जी ने इस सम्बन्ध में शास्त्रीय परिभाषा उपदिष्ट की है–

अनिगूहित वीर्यस्य सम्यग्मार्गाविरोधतः ।
कायक्लेशः समाख्यातं, विशुद्धं शक्तितस्तपः ।।

अपनी आत्म-शक्ति को छिपाये बिना मोक्षमार्ग के अनुरूप शरीर को कष्ट देना, वही विशुद्ध तप है।[28]

भगवती आराधना में एक जगह कहा गया है कि अपेक्षा और फल की कामना के बिना अनशन आदि के परित्याग रूप जो क्रिया है, वह तप है।[29] यहाँ बारह प्रकार की तपस्या को तप संज्ञा दी गई है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्वामीकुमार ने विविध कष्टों के साथ समत्व भाव को तप कहा है–

इह-परलोयसुहाणं, णिरवेक्खो जो करेदि समभावो ।
विविहं कायकिलेसं, तवधम्मो णिम्मलो तस्स ।।

जो इहलौकिक - पारलौकिक सुख की कामना के बिना अनेक प्रकार के दैहिक कष्टों को समभावपूर्वक झेलता है, वही निर्मल तप है।[30]

उपासकाध्ययन में आत्मशुद्धि में निमित्तभूत कर्म को तप बतलाया है। आचार्य सोमदेवसूरि इस सम्बन्ध में अपना अभिप्राय बताते हैं कि–

अन्तर्बहिर्मलप्लोषादात्मनः शुद्धिकारणम् ।
शारीरं मानसं कर्म, तपः प्राहुस्तपोधनाः ।।

शारीरिक और मानसिक कर्म जो आत्मा के अन्तर एवं बाह्य मलों को निष्कासित करता हुआ उसकी शुद्धि में कारणभूत बनता है, उसे तप कहा गया है।[31]

आचार्य सोमदेव ने नीतिवाक्यामृत में पांच इन्द्रियों और मन को नियन्त्रित रखने वाले अनुष्ठान को तप कहा है। **''इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं तपः।''**[32]

सैद्धान्तिक चक्रवर्ती वीरनन्दी ने भी आचारसार में इन्द्रिय एवं मन के नियामक अनुष्ठान को ही तप कहा है।[33]

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार छेद ग्रन्थ अथवा जीतकल्प में वर्णित तप आचरण द्वारा जितनी भाव विशुद्धि होती है, उसे सच्चा तप जानना चाहिए।[34]

पं. आशाधर रचित अनगारधर्मामृत में तप का विशिष्ट स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है–

तपो मनोऽक्ष कायाणां, तपनात तन्निरोधनात।
निरुच्यते दृमाद्यावि, र्भावायेच्छा निरोधनम्।।
यद्वा मार्गा विरोधेन, कर्मोच्छेदाय तप्यते।
अर्जयत्यक्ष-मनसोस्तत्तपो नियम क्रिया।।

मन, इन्द्रियाँ और शरीर को तपाने पर अथवा इन्हें सम्यक् रूप से नियन्त्रित करने पर सम्यग्दर्शन आदि का प्रादुर्भाव होना तथा इच्छाओं का निरोध होना तप कहलाता है। प्रकारान्तर से रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग में किसी प्रकार की हानि न पहुँचाते हुए शुभ-अशुभ कर्मों का निर्मूल विनाश करने के लिए जो तपा जाता है, वह तप है।[35]

पं. आशाधरजी ने पूर्वाचार्यों का अनुसरण करते हुए इन्द्रिय, मन एवं शरीर को कृश करने पर ही अधिक बल दिया है। उनका मन्तव्य है कि देह आदि को तपाने से इच्छाओं का दमनीय परिशीलन होता है तथा इच्छाओं के अवरुद्ध होने से रत्नत्रय की प्राप्ति होती है।

इसी तरह महापुराण, तत्त्वार्थभाष्य, चारित्रसार, आराधनासार, अमितगतिश्रावकाचार, तत्त्वार्थसार आदि कई ग्रन्थों में तप का मौलिक स्वरूप उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि जो परम्पराएँ सिर्फ देह दमन मात्र को तप मानती हैं, वे तप के सम्पूर्ण स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। तप वास्तव में देह दमन तक सीमित नहीं है, उसका अंकुश इच्छा और वासना पर रहता है। ऊपर वर्णित ग्रन्थकारों ने तप के बाह्य और आभ्यन्तर द्विविध तप कोटियों को महत्त्व दिया है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि शास्त्रों में जहाँ कहीं संयम का वर्णन है वहाँ तप का वर्णन अवश्य किया गया है, क्योंकि जैसे जल के बिना मछली जीवित नहीं रह सकती, हवा के बिना अग्नि प्रज्वलित नहीं हो सकती, वैसे ही संयम के बिना तप की साधना भी चल नहीं सकती। यथार्थत: संयम और तप

शाब्दिक दृष्टि से भिन्न हैं, किन्तु भाव एक ही है। इन्द्रिय संयम, मन संयम, वचन संयम ये सब तप के ही अन्तर्गत आते हैं। भगवान महावीर ने धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा है – **''अहिंसा संजमो तवो''**

धर्म– अहिंसा, संयम एवं तप रूप है। इन तीनों शब्दों के अर्थ बाह्यत: पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु गहराई में उतरने पर उनमें अभेदपना प्रतीत होता है। प्राचीन ग्रन्थों में संयम, नियम, इच्छा-निरोध आदि को तप की ही कोटि में गिना गया है। जैन आगमों के अनुशीलन से यह निश्चित हो जाता है कि जैन धर्म की समस्त साधना जो आचारप्रधान और ज्ञानप्रधान है, वह सब तपोमय ही है। तप का क्षेत्र इतना व्यापक है कि स्वाध्याय, सेवा, भक्ति, अनशन, प्रायश्चित्त, कायक्लेश, इन्द्रियदमन, ध्यान, विनय आदि धर्म की समस्त क्रियाएँ उसके अन्तर्गत आती हैं।

तप करने का अधिकार किसे?

जैन दर्शन की मान्यतानुसार मानव मात्र अनन्त शक्ति का पुंज है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने का सामर्थ्य विद्यमान है। अन्तर इतना भर है कि किन्हीं की शक्तियाँ अभिव्यक्त हो चुकी हैं तथा किन्हीं की शक्तियाँ अनभिव्यक्त हैं। जिस आत्मा की मूल शक्तियाँ न्यूनाधिक रूप से भी जागृत हो जाती हैं वह स्व लक्ष्य को शीघ्र पा लेती हैं। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए जैनाचार्यों ने तप-साधना हेतु योग्य अधिकारी का निर्देश किया है। नाम मात्र का तप कर लेना मुश्किल नहीं है। तामली तापस आदि कईयों ने हजारों वर्षों की तपश्चर्याएँ की, किन्तु सम्यक् तप करना दुर्भर है। योग्यता प्राप्त साधक तपोयोग की आराधना समझ पूर्वक करता है। आचार्य वर्धमानसूरि ने निम्नोक्त लक्षणयुक्त जीवों को तप-साधना का अधिकारी माना है।

आचारदिनकर के अनुसार जो शान्त हो, अल्प निद्रालु हो, अल्पाहारी हो, कामना रहित हो, कषाय वर्जित हो, धैर्यवान हो, अनिन्दक हो, गुरुजनों की शुश्रुषा में तत्पर हो, कर्म क्षय का अर्थी हो, राग एवं द्वेष का विच्छेद हो, दयालु हो, विनीत हो, इहलौकिक-पारलौकिक सुख कामना से मुक्त हो, क्षमावान हो, निरोगी हो और उत्कण्ठारहित हो - ऐसे जीव तप करने के योग्य होते हैं। इन गुणों से युक्त जीव की तपश्चर्या मोक्षफलदायी एवं शाश्वत सुखप्रदायी होती है।[36]

उपाध्याय यशोविजयजी ने कहा है कि मूलगुण एवं उत्तरगुण के धारक श्रेष्ठ मुनि बाह्य और अन्तरंग तप का आचरण करते हैं। इसका हार्द यह है कि

निश्चयत: चारित्रनिष्ठ मुनि ही तप के अधिकारी होते हैं। पूर्वोक्त लक्षण व्यवहार अपेक्षा से बतलाये गये हैं। मुनि का शास्त्रीय नाम 'श्रमण' है। टीकाकारों ने श्रमण का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ करते हुए उसे एक जगह तपस्वी ही कहा है। इससे स्पष्ट है कि तप के मुख्य अधिकारी मुनि होते हैं।[37]

तपस्वी कौन ?

अनशन, ऊनोदरी, आतापना आदि करने वाला तपस्वी होता है, यह कथन सर्वत्र सिद्ध नहीं होता। तपस्वी द्वारा तप-साधना किस ध्येय से की जा रही है, यह बिन्दु महत्त्वपूर्ण है। यदि तपश्चर्या के प्रतिफल के रूप में सांसारिक या भौतिक सुख की इच्छाएँ मौजूद हैं तो वह तप, तपस्वी पद को लज्जित और तप की अक्षुण्ण परम्परा को धूमिल करता है। इस तरह के मनोभाव से की गयी तप-साधनाएँ तपस्वी के लिए कल्याणकारी नहीं होती, प्रत्युत दुर्गति की ओर उन्मुख करती हैं।

उपाध्याय यशोविजयजी महाराज ने इस सम्बन्ध में मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए कहा है कि लोकप्रवाह का अनुसरण करते हुए तपस्या करने वाला साधक अज्ञानवृत्ति को सूचित करता है तथा उसकी वह तपस्या सुखशीलता का प्रतीक है जबकि ज्ञानी पुरुष लौकिक जगत के विरुद्ध प्रवाह में अनुगमन करते हुए उत्कृष्ट तप आचरते हैं और वे ही तपस्वी की संज्ञा से अभिहित होते हैं।[38]

ज्ञानीजन तपश्चर्या करते हुए मन में चिन्तन करते हैं कि "तीर्थङ्कर परमात्मा स्वयं भी दीक्षा ग्रहण कर तप करते हैं, अलबत्ता उन्हें भलीभाँति यह ज्ञात होता है कि वे केवलज्ञान के अधिकारी बनेंगे, फिर भी घोर तपश्चर्या का आलम्बन स्वीकार करते हैं। तब हे जीव ! तुम्हें तो तप करना ही चाहिए।" इस प्रकार पूर्व पुरुषों के मार्ग को आत्मोपकारी मानते हुए उसका आचरण करते हैं, अत: ऐसे साधक ही सच्चे तपस्वी की कोटि में गिने जा सकते हैं।

जिस तरह धनार्थी के लिए सर्दी-गर्मी आदि कष्ट दुस्सह नहीं होते ठीक उसी तरह संसार विरक्त, कर्म निर्जरा के चाहक साधक को भी तप दुस्सह नहीं लगता। आत्मविशुद्धि के लक्ष्य से तप करने वाली आत्माएँ ही 'तपस्वी' कही जाती हैं।[39]

उपाध्याय यशोविजय जी कहते हैं कि तपस्वी को ज्ञान दृष्टि से युक्त होना चाहिए क्योंकि ज्ञानदृष्टिवान तपस्वी ही साध्य का सामीप्य पा सकते हैं। ज्ञान

उसे साध्य-मोक्ष सुख की कल्पना देता है, जैसे-जैसे मोक्ष सन्निकट होता है, शाश्वत माधुर्य में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है और वे अपूर्व आनन्द का अनुभव करते हैं। यही आनन्द उसकी कठोर तपश्चर्या को जीवन देता है।[40] वस्तुत: मधुरता के बिना आनन्द नहीं होता और बिना आनन्द के कठोर धर्म क्रियाएँ दीर्घावधि तक टिक नहीं सकती। इस तरह ज्ञानयुक्त तपश्चर्या तपस्वी को अक्षुण्ण सुख का उपभोक्ता बनाती है। हमें ऐसे तपस्वी बनने का आदर्श सम्मुख रखना चाहिए।

तप प्रारम्भ हेतु शुभ दिन

तप साधना जैसा मंगल अनुष्ठान शुभ समय में प्रारम्भ करना चाहिए। यों तो जब भी शुभ भावना का उदय हो, सुकृत किया जा सकता है तदुपरान्त किन्हीं अनुष्ठानों के लिए मंगल वेला को आवश्यक माना गया है। आचार्य वर्धमानसूरि ने इस सम्बन्ध में सम्यक् प्रकाश डाला है। उनके अभिमतानुसार –

प्रतिष्ठा और दीक्षा में जो काल त्याज्य बताया गया है वही काल छहमासी तप, वर्षीतप तथा एक मास से अधिक समय वाले तप को प्रारम्भ करने में भी वर्जित मानना चाहिए।

शुभ मुहूर्त्त में तप प्रारम्भ कर लेने के पश्चात दिवस, पक्ष, मास या वर्ष अशुभ आ जाए, तो उसमें कोई दोष नहीं है।

प्रव्रज्या के बाद प्रथम विहार करने, सामान्य तप का प्रारम्भ करने, उपधान आदि के समय नन्दी रचना करने एवं आलोचना करने में मृदु, ध्रुव, चर, क्षिप्र संज्ञा वाले नक्षत्र तथा मंगल और शनिवार के सिवाय शेष वार शुभ माने गये हैं।

तिथि की मुख्यता वाले तप में सूर्योदय के समय जो तिथि हो, वह तिथि लेना श्रेष्ठ है, किन्तु तिथि का क्षय हो, तो पूर्व दिवस में और तिथि की वृद्धि हो तो दूसरे वृद्धि के दिन उस तिथि का तप करना चाहिए।[41]

इस प्रकार तपस्या का प्रारम्भ करने के लिए उपरोक्त शुद्धि का ध्यान रखना चाहिए।

तप प्रारम्भ करने की पूर्व विधि

आचार्य वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर में कहा गया है कि तपस्वी को तपोयोग की निर्विघ्न समाप्ति के लिए तप के प्रारम्भ में कुछ सदनुष्ठान करने चाहिए। आचार्य वर्धमानसूरि के मन्तव्यानुसार– 1. तीर्थङ्कर परमात्मा की

अष्टप्रकारी पूजा करनी चाहिए 2. विधिपूर्वक पौष्टिक कर्म करना चाहिए। उस पौष्टिक कर्म में नवग्रह, दशदिक्पाल एवं यक्ष-यक्षणियों का नैवेद्य और उत्तम फलों से बृहत पूजन किया जाता है 3. तप के प्रारम्भ में सद्गुरु को निर्दोष पुस्तक, वस्त्र, पात्र और अन्न का दान देना चाहिए 4. संघपूजा करनी चाहिए 5. क्षेत्र देवता और नगर देवता की पूजा करनी चाहिए।[42]

तप वहन सम्बन्धी आवश्यक नियम

आचारदिनकर के अनुसार तपस्या के दरम्यान निम्नोक्त सामाचारी का ख्याल रखना चाहिए–

1. तप करते वक्त बीच में यदि पर्व तिथि का तप आता हो, तो प्रवर्त्तमान बृहद् तप को न करके उस पर्व तिथि के तप को अवश्य करना चाहिए और फिर पूर्व से आराधित उस बड़े तप को भी करना चाहिए, क्योंकि सत्पुरुष का नियम दुर्लंघ्य होता है।

2. एक तपस्या के मध्य कोई दूसरा तप भी करणीय हो, तो ऐसी स्थिति में जो तप बड़ा हो वह करना चाहिए तथा शेष रहा हुआ लघु तप उसके बाद करना चाहिए। इसका स्पष्टार्थ यह है कि किसी तप को एकासन से प्रारम्भ किया हो और उसमें किसी दूसरे तप का उपवास आ जाए, तो उस समय उपवास करना चाहिए तथा एकासन बाद में करना चाहिए।

3. अनाभोग आदि (अचानक या विस्मृतिवश) कारणों से यदि तप बीच में खण्डित हो जाये तो उसकी उसी तप से आलोचना कर लेनी चाहिए और बाद में वह आलोचना सम्बन्धी तप करना चाहिए।

4. अनुक्रम वाले तप में प्राय: करके तिथियों के क्रम को नहीं गिनना चाहिए अर्थात विशिष्ट तिथि के दिन खाना पड़े और सामान्य तिथि के दिन उपवास आदि करना पड़े तो उसे उसी प्रकार से करना चाहिए।

5. गृहस्थों को प्रत्येक तप का उद्यापन तप-विधि में बताये गये नियमानुसार करना चाहिए। साधुओं ने तपस्या की हो तो उसका उद्यापन श्रावक से करवाना चाहिए अथवा ऐसा संभव न हो तो मानसिक उद्यापन करना चाहिए।[43]

6. पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी आदि तिथियों की वृद्धि होने पर उस तिथि विषयक आराधना के लिए पहली तिथि ग्राह्य मानी गई है। तदुपरान्त स्वगच्छ

में जैसी प्रवृत्ति हो वैसा करना अधिक उचित है क्योंकि परम्परागत समाचारी का श्रद्धापूर्वक पालन करने से चित्त सुस्थिर एवं असंदिग्ध रहता है और उसी में आराधना की सफलता है।

7. कुछ परम्पराओं में मलमास, अधिक मास, चैत्र-आसोज की नवपद ओली- इन दिनों में बीशस्थानक आदि कुछ विशिष्ट तपों की आराधना का निषेध किया गया है उसमें किसी तरह का विवाद या तर्क नहीं करते हुए स्वपरम्परा का अनुसरण करना अधिक लाभदायी है। इस निषेध का मूलभूत कारण आज भी अस्पष्ट है।

8.खरतर परम्परा में चतुर्दशी का क्षय होने पर जो चौदस तप कर रहा हो उसके लिए उपवास तो उसी दिन, किन्तु पाक्षिक प्रतिक्रमण अमावस्या या पूनम के दिन करने की सामाचारी है। परन्तु कई लोग अपनी सुविधा के अनुसार क्षय तिथि के दिन भी पाक्षिक प्रतिक्रमण कर लेते हैं जो अनुचित है। शास्त्रों में गीतार्थ आचरणा (आचार्य या योग्य मुनि द्वारा प्रवर्त्तित परम्परा) अनुलंघनीय कही गयी है।

प्रत्याख्यान पारने की विधि

उपवास वगैरह में पानी पीना हो, एकासना वगैरह में भोजन करना हो अथवा किसी तप का पारणा करना हो, तो उसके पूर्व निम्न विधि करनी चाहिए। आचार्य जिनप्रभसूरि (14वीं शती) ने इस विधि का उल्लेख किया है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्पराओं की वर्तमान सामाचारी में प्राय: यह विधि इस प्रकार प्रचलित है-

ईर्यापथ प्रतिक्रमण- आहार-पानी ग्रहण करने से पहले स्थापनाचार्यजी के समक्ष एक खमासमण देकर इरियावहियं०, तस्सउत्तरी०, अन्नत्थ सूत्र बोलकर एक लोगस्ससूत्र अथवा चार नमस्कारमन्त्र का स्मरण (कायोत्सर्ग) करे। फिर कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र कहे।

प्रत्याख्यान पारण विधि- फिर एक खमासमण देकर **"इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! प्रत्याख्यान पारने की मुँहपत्ति पडिलेहुँ?"** ऐसा आदेश लेकर 'इच्छं' शब्द पूर्वक मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करे।

फिर एक खमासमण देकर बोले- **"इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! पच्चक्खाण पारूं?"** गुरु कहे- **"यथाशक्ति"**। गुरु न हो तो स्वयं ही

''यथाशक्ति'' कहे। पुनः एक खमासमण देकर बोले – **''इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! पच्चक्खाण पारेमि?''** फिर गुरु के अन्तर्भावों को धारण करता हुआ **'तहत्ति'** शब्द कहे। तत्पश्चात सुखासन में बैठकर बन्द मुट्ठी पूर्वक एक नवकार मन्त्र गिने। फिर पहले दिन जो प्रत्याख्यान धारण किया गया था, उस प्रत्याख्यान का नाम लेकर निम्न पाठ बोले।

''पच्चक्खाणं फासियं, पालियं, सोहियं, तीरियं, किट्टियं आराहियं जं च न आराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।''

उसके बाद एक नवकार मन्त्र गिने।

चैत्यवन्दन एवं स्वाध्याय– तदनन्तर एक खमासमण देकर **''इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! चैत्यवन्दन करूँ?** इच्छं कहकर जयउसामिय० (तपागच्छ परम्परानुसार जग चिन्तामणि०) जंकिंचि०, णमुत्थुणं०, जावंति चेइआइं०, जावंतकेविसाहू०, उवस्सग्गहरं०, जयवीयराय० तक सूत्रपाठ कहें। पश्चात गुरु भगवन्त हो तो उनके मुखारविन्द से दशवैकालिकसूत्र का प्रथम अध्ययन 'धम्मोमंगलमुक्किट्ठं' की पाँच गाथा का स्वाध्याय सुनें, अन्यथा स्वाध्याय रूप में तीन नवकारमन्त्र का स्मरण करें। तपागच्छ परम्परा में स्वाध्यायार्थ 'भरत बाहुबली' का पाठ बोलते- सुनते हैं। उसके बाद भोजन-पानी जो भी ग्रहण करना हो, करें।

यदि एकासना या आयंबिल आदि का प्रत्याख्यान पूर्ण किया हो तो एकासन आदि करने के पश्चात उसी आसन में बैठे हुए दिवसचरिम तिविहार का प्रत्याख्यान ग्रहण करे तथा ईर्यापथिक प्रतिक्रमण कर पूर्ववत चैत्यवन्दन भी करें। यह अन्तिम चैत्यवन्दन आहार संवरण के उद्देश्य से किया जाता है।

प्रस्तुत विधि एक बार गुरुमुख से समझ लेनी चाहिए।

हर एक तप में करने की सामान्य विधि

तीर्थङ्कर पुरुषों ने भिन्न-भिन्न रुचि एवं सामर्थ्य के अनुरूप तपश्चरण के अनेक प्रकार निरूपित किये हैं। उनमें कुछ सुगम तो कुछ दुर्गम, कितने ही अल्प अवधि वाले तो कई दीर्घ अवधि से सम्बन्धित हैं। इन प्रत्येक तपों में अधोलिखित नियमों का यथाशक्य परिपालन करना चाहिए।

1. उभय संध्याओं में (दोनों वक्त) प्रतिक्रमण करना चाहिए।

2. प्राय: सर्व तपस्याओं में एक समय तथा नवपद, बीशस्थानक आदि कुछ तपों में तीन समय देववंदन करना चाहिए।
3. अरिहन्त परमात्मा की पूजा करनी चाहिए।
4. यदि अनुकूलता हो तो वीतराग परमात्मा के तीन बार दर्शन करना चाहिए।
5. सम्यक् ज्ञान की पूजा-भक्ति करना चाहिए।
6. उपवास आदि का प्रत्याख्यान विधिपूर्वक ग्रहण और उसे प्रतिपूर्ण करना चाहिए।
7. यदि नगर में गुरु भगवन्त विराजमान हो तो उनके मुख से प्रत्याख्यान लेना चाहिए।
8. प्रत्येक तप में बतलाये अनुसार 20 माला गिननी चाहिए।
9. प्रत्येक तप में निर्धारित संख्या के अनुसार खमासमण और प्रदक्षिणा देनी चाहिए।
10. प्रत्येक तप में निश्चित संख्या के अनुसार लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।
11. तपस्या के दिन विशेष रूप से ध्यान-स्वाध्याय आदि करना चाहिए।
12. इन दिनों ब्रह्मचर्य का पालन एवं भूमि शयन करना चाहिए।
13. साधु-साध्वी की वैयावृत्य करना चाहिए।
14. तप पारणे के दिन में यथाशक्ति साधर्मीवात्सल्य अथवा अधिक न बन सके तो समान तप करने वाले एक, दो, चार आदि श्रावक या श्राविकाओं को यथाशक्ति भोजन करवाना चाहिए।
15. प्रत्येक तप में अचित्त पानी ही उपयोग में लेना चाहिए।
16. प्रत्येक तप की रात्रि में चतुर्विध आहार का त्याग (चउव्विहार का प्रत्याख्यान) करना चाहिए।
17. दीर्घ अवधि वाले या कठिन तप के अन्त या मध्य में उसका महोत्सव पूर्वक उद्यापन करना चाहिए। सामान्य तपों में बताये अनुसार उद्यापन करना चाहिए।
18. कोई भी तप सांसारिक कामना या इच्छापूर्ति से नहीं करना चाहिए।
19. तपस्या शुरू करने के मुहूर्त्त, विधि-विधान, तिथि-मिति आदि के सम्बन्ध में साधु-साध्वी से समझकर करना अधिक लाभदायक है।

20. तपस्या में क्षमाभाव रहना अत्यावश्यक है, क्योंकि क्षमायुक्त किया गया तप ही कर्म निर्जरा का कारण बनता है।
21. जिनालय में बतलाई संख्या के अक्षत से स्वस्तिक बनाकर उस पर यथाशक्ति फल, नैवेद्य और रुपया चढ़ाना चाहिए।

उपाध्याय यशोविजयजी महाराज ने उपर्युक्त नियम-विधि का समर्थन करते हुए लिखा है कि जिस तप में ब्रह्मचर्य का पालन हो, जिनेश्वर परमात्मा की पूजा-भक्ति हो, कषायों का क्षय होता हो और अनुबन्ध सहित जिन आज्ञा प्रवर्तित हो, वह तप शुद्ध माना जाता है।[44]

22. **अनागाढ़ तप–** जिन तपों को बीच में छोड़ा जा सकता है और यथाशक्ति समय का लंघन करते हुए पूर्ण किया जा सकता है, वे अनागाढ़ कहलाते हैं। **आगाढ़ तप–** जिन तपों को लगातार श्रेणीबद्ध किया जाए और जिन्हें मध्य में छोड़ नहीं सकते, फिर भी परिस्थितिवश कदाच अधूरा छोड़ना पड़े या भूलवश कोई तिथि छूट जाये तो उस तप को पुन: से प्रारम्भ करना होता है, वे आगाढ़ कहलाते हैं।

सर्व तपस्या ग्रहण (प्रारम्भ) करने की विधि

प्रचलित परम्परानुसार तप करने का इच्छुक व्यक्ति शुभ दिन में पवित्र वस्त्र धारण कर गुरु के समीप जायें। फिर गुरु महाराज को विधिवत वन्दन कर ज्ञान पूजा करें। तदनन्तर जिस तप का निश्चय किया हो उसे गुरु के मुखारविन्द से निम्न प्रकार ग्रहण करें–

• सर्वप्रथम चौकी या पट्टे पर स्वस्तिक, रत्नत्रय की तीन ढेरी एवं सिद्धशिला के प्रतीक रूप में अर्धचन्द्र बनायें। सिद्धशिला पर फल, स्वस्तिक के ऊपर मिठाई और बीच में नारियल एवं सवा रुपया चढ़ायें। • उसके बाद आसन बिछाकर चरवला और मुखवस्त्रिका को हाथ में ग्रहण करें। • फिर इरियावहि०, तस्सउत्तरी०, अन्नत्थसूत्र बोलकर एक लोगस्स अथवा चार नवकार मन्त्र का स्मरण करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र कहें। • फिर तप प्रारम्भ करने हेतु उत्कटासन मुद्रा में नीचे बैठकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके द्वादशावर्त्तवन्दन करें। • फिर स्थापनाचार्य जी के समक्ष एक खमासमण (पंचांग-प्रणिपात) पूर्वक कहें– **"इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! अमुक तव गहणत्थं चेइयं वंदावेह।"** फिर 'इच्छं' कहें।

• उसके पश्चात चैत्यवन्दन बोलकर एक-एक नमस्कार मन्त्र का चार बार कायोत्सर्ग करते हुए चार स्तुतियाँ कहें। यहाँ सूत्र आदि बोलने की जानकारी गुरु या अनुभवी व्यक्ति से ज्ञात करनी चाहिए।

• तत्पश्चात चैत्यवन्दन मुद्रा में णमुत्थुणंसूत्र बोलें। फिर खड़े होकर "शान्तिनाथ स्वामी आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं" कह एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें, पूर्णकर निम्न स्तुति बोलें –

श्रीमते शान्तिनाथाय, नमः शान्तिविधायिने ।
त्रैलोक्यस्यामराधीश, मुकुटाभ्यर्चितां घ्रये ।।

• फिर "शान्तिदेवता आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं" पूर्वक अन्नत्थसूत्र कहकर एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर निम्न स्तुति बोलें–

शान्तिः शान्तिकरः श्रीमान, शांतिदिशतु मे गुरुः ।
शान्तिरेव सदा तेषां, येषां शान्तिर्गृहे गृहे ।।

• तदनन्तर "श्रुतदेवता आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं" पूर्वक अन्नत्थसूत्र कहकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर निम्न स्तुति बोलें –

सुवर्णशालिनी देयाद्, द्वादशांगी जिनोद्भवा ।
श्रुतदेवी सदा मह्य, मशेषश्रुत संपदम् ।।

• तत्पश्चात "भुवनदेवता आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं" पूर्वक अन्नत्थसूत्र कहकर एक नमस्कार मन्त्र कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर निम्न स्तुति बोलें –

ज्ञानादिगुण युक्तानां, स्वाध्याय ध्यान संयम रतानाम् ।
विदधातु भुवनदेवी, शिवं सदा सर्व साधुनाम् ।।

• तत्पश्चात "क्षेत्रदेवता आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं" पूर्वक अन्नत्थसूत्र कहकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर निम्न स्तुति बोलें –

यासां क्षेत्र गताः सन्ति, साधवः श्रावकादयः ।
जिनाज्ञां साधयन्तस्ता, रक्षन्तु क्षेत्रदेवता ।।

• उसके बाद "शासनदेवता आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं" पूर्वक अन्नत्थसूत्र कहकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर निम्न स्तुति बोलें –

या पातिशासनं जैने, सद्यः प्रत्यूह नाशिनी।
साभिप्रेत समृद्धयर्थं, भूयाच्छासन देवता।।

• तदनन्तर "समस्त वैयावृत्यकर देवता आराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं" पूर्वक अन्नत्थसूत्र बोलकर एक नमस्कार मन्त्र का स्मरण करें। पूर्णकर निम्न स्तुति बोलें –

श्री शक्रप्रमुखा यक्षाः, जिन शासन संस्थिताः।
देवान् देव्यस्तदन्येऽपि, संघं रक्षत्व पापतः।।

• तत्पश्चात चैत्यवन्दन मुद्रा में बैठकर णमुत्थुणं०, जावंति चेइयाइं०, जावंत केविसाहू०, उवस्सग्गहरं०, जयवीयराय० तक सूत्र बोलकर चैत्यवन्दन करें।

• फिर स्थापनाचार्य के सम्मुख एक खमासमण देकर– **"भगवन् ! अमुक तव गहणत्थं करेमि काउस्सग्गं"** इतना कहकर एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें। • फिर एक खमासमण देकर अर्धावनत मुद्रा में तीन नमस्कार मन्त्र का स्मरण करें।

• पुनः एक खमासमण देकर अर्धावनत मुद्रा में स्थित होकर बोलें–

"इच्छकार भगवन् ! अमुक तप दंडक उच्चरावोजी।"

गुरु कहें - **'उच्चरावेमो।'**

उसके बाद जो तप उचरना हो उसके स्मरण पूर्वक गुरुमुख से तीन बार निम्नलिखित पाठ सुनें–

"अहण्णं भंते! तुम्हाणं समीवे, अमुकतवं उवसंपज्जाणं विहरामि। तं जहा- दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ। दव्वओणं (अमुक तवं), खित्तओणं इत्थ वा अणत्थ वा, कालओणं जाव परिमाणं, भावओणं जाव गहेणं ण गहिज्जामि, छलेणं ण छलिज्जामि जाव सन्निवाएणं ण भविज्जामि, जाव अण्णेण वा केणइ रोगायंकेण वा परिणामवसेण। एसो मे परिणामो ण पडिवज्जइ। ताव मे एस तवो रायाभियोगेणं, गणाभियोगेणं, बलाभियोगेणं, देवाभियोगेणं, गुरुनिग्गहेणं, वित्तिकंतारेणं, अणत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्व-समाहिवत्तियागारेणं वोसिरे।"

फिर गुरु आशीर्वचन के रूप में कहें –

''हत्थेणं सुत्थेणं अत्थेणं तदुभएणं सम्मं धारणीयं चिरं पालणीयं गुरुगुणेहिं वुड्ढाहि नित्थारपारगाहोह।''

• तत्पश्चात तप इच्छुक एक खमासमण देकर गुरुमुख से उपवास, आयंबिल या एकासन आदि का प्रत्याख्यान करें।

सर्वतप ग्रहण की यह विधि जीत व्यवहार के अनुसार कही गयी है। प्रस्तुत विधि का यह रूप श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में ही प्रचलित है। दिगम्बर आदि अन्य जैन आम्नायों में इस तरह की विधि नहीं की जाती है।

तप पारने की विधि

• उपाश्रय में जाकर ज्ञान पूजा करें। • फिर इरियावहि प्रतिक्रमण करें। • फिर **''अमुक तप पारवा मुँहपत्ति पडिलेहुं''** कहकर मुंहपत्ति पडिलेहण करके दो वांदणा देवें। फिर **''इच्छा० संदि० भगवन्! अमुक तप पारावणत्थं काउस्सग्गं करावेह''**। गुरु कहें **''करावेमो''**। फिर एक खमासमण देकर **''इच्छाकारेण तुम्हें अम्हं अमुक तप पारावणत्थं चेइयं वंदावेह, वासनिक्खेवं करेह''** ऐसा कहें। तब गुरु 'वंदावेमो करेमो' कहते हुए शिष्य के मस्तक पर वासक्षेप डालें।

• फिर तीन खमासमण देकर बायाँ घुटना ऊँचा करके **''णमुत्थुणं से जयवीयराय''** पर्यन्त चैत्यवन्दन करें। • फिर **'अमुक तप पारावणत्थं करेमि काउसग्गं'** अन्नत्थ सूत्र कहकर एक नवकार का काउसग्ग करें। कोई सी भी स्तुति कहें। फिर बैठकर **''णमुत्थुणं''** कहें।

• अन्त में नीचे हाथ रखकर **इच्छा. संदि. भगवन्!** अमुक तप करते हुए जो भी कोई अविनय आशातना हुई हो वह सब मन-वचन-काया से मिच्छामि दुक्कडं ऐसा बोलें।

गुरु कहे– **''नित्थार पारगा होह''** फिर यथाशक्ति पच्चक्खाण करें। • **अमुक तप आलोयण निमित्तं करेमि काउसग्गं** पूर्वक अन्नत्थ सूत्र कहकर चार लोगस्स का काउसग्ग करें। पूर्णकर प्रकट में लोगस्स कहें। अतिथि सत्कार करें। यथाशक्ति उद्यापन करें।

भारतीय संस्कृति के विविध वर्गों में तप का वैशिष्ट्य एवं महत्त्व रहा हुआ है। तप कर्म निर्जरा का महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। इसी हेतु से ऋषि मुनियों द्वारा विभिन्न ग्रन्थों में तप का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। इस अध्याय में तप के स्वरूप का विवरण करते हुए विविध तप आराधनाओं में पालने योग्य

नियम तथा उनके ग्रहण आदि की विधि भी बताई गई है। तप आराधक वर्ग इस अध्याय के माध्यम से तप साधना में परिपूर्णता एवं आत्म संतोष प्राप्त करें यही प्रयास।

सन्दर्भ-सूची

1. *"श्राम्यन्तीति श्रमणा: तपस्यन्तीत्यर्थ:।"*
   दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका, 1/3
2. *"श्राम्यति तपसा रिवद्यत इति कृत्वा श्रमण:।"*
   सूत्रकृतांग, 1/16/1, वही शीलांक टीका, ख. 3, पृ. 268-269
3. *दशवैकालिकसूत्र, 1/1*
4. *अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 4, पृ. 2199*
5. *(क) स्थानांगटीका, 5/1, पत्र 283*
   (ख) निशीथभाष्य, 43 की चूर्णि
6. *आवश्यक मलयगिरि टीका, खण्ड 2, अध्ययन 1*
7. *निशीथभाष्य, 46 की चूर्णि*
8. *दशवैकालिक जिनदासचूर्णि, पृ. 15*
9. *उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्रांक 556*
10. *(क) आवश्यक हारिभद्रीय टीका, पृ. 72*
    (ख) दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका, 1-1, पृ. 11
11. *(क) सर्वार्थसिद्धि, 6/24 की टीका*
    (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, 6/24/7
12. *(क) सर्वार्थसिद्धि, 9/6*
    (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, 9/6/17
13. *सर्वार्थसिद्धि, 9/22*
14. *तत्त्वार्थवार्तिक, 9/19/20-21*
15. *तत्त्वसार, 6/19*
16. *चारित्रसार, पृ. 22*
17. *मूलाचार टीका, 5/2, 11/5*
18. *प्रवचनसारवृत्ति, जयसेनाचार्य, 1-79*
19. *पद्मनन्दि पंचविंशति, 1/98*

20. क्षत्रचूड़ामणि, 1/14
21. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, 1,1,197
22. पंचाशक टीका, अभिधानराजेन्द्रकोष, भा. 4, पृ. 2199
23. "तप्यन्ते रसादिधातवः कर्माणि वा अनेनेति तपः।"
धर्मसंग्रह, अधिकार 3, पृ. 321
24. भगवती आराधना, शिवकोटि, गा. 10
25. द्वादशानुप्रेक्षा, आचार्य कुन्दकुन्द, गा. 77
26. ज्ञानसार, उपा. यशोविजयजी, श्लो. 31/1
27. धवलापुस्तक, भा. 13, पृ. 54-55
28. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, आचार्य विद्यानन्द, 6/24/9
29. भगवती आराधना, विदयोदया टीका, 46
30. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, स्वामीकुमार, गा. 400
31. उपासकाध्ययन, सोमदेवसूरि, श्लो. 923
32. नीतिवाक्यामृत, सोमदेवसूरि, 1-20
33. आचारसार, सैद्धान्तिक चक्रवर्ती वीरनन्दी, 6-3
34. योगशास्त्र स्वोपज्ञ विवरण, आचार्य हेमचन्द्र, 4-90, पृ. 312
35. अनगारधर्मामृत, पं. आशाधर, 7/2-3
36. आचारदिनकर, भा. 2, पृ. 335
37. ज्ञानसार, 31/8
38. वही, 31/2
39. वही, 31/3
40. वही, 31/4
41. आचारदिनकर, पृ. 335
42. वही, पृ. 335
43. वही, पृ. 335
44. ज्ञानसार, 31/6

●

अध्याय-2

तप के भेद-प्रभेद एवं प्रकारों का वैशिष्ट्य

तप एक वैवेध्यपूर्ण एवं विस्तृत विषय है। जैन शास्त्रों में तप का गरिमापूर्ण स्थान है। सिद्धि प्राप्ति हेतु यह परम एवं चरम उपाय है इसी कारण तीर्थंकर परमात्मा ने तप सेवन के विविध मार्ग बताए हैं। ताकि प्रत्येक वर्ग एवं मानस्थिति के साधक तप मार्ग पर अग्रसर होकर कर्ममुक्त अवस्था को प्राप्त कर सकें।

बाह्य और आभ्यन्तर तप भेद के हेतु

तपाराधना का मुख्य ध्येय जीवन शोधन है। शास्त्रों में जहाँ-तहाँ तप का वर्णन किया गया है, वहाँ इसी भाव की प्रतिध्वनि सुनायी देती है। शास्त्र पाठों में तप के विषय में यही कहा गया है कि "तवेण परिसुज्झइ, तवसा निज्जरिज्जइ, तवेण धुणइ पुराण पावगं, सोहगो तवो" इन शब्दों की ध्वनि में यही संकेत छिपा है कि तप से आत्मा निर्मल, पवित्र एवं विशुद्ध हो जाता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि जब किसी भी तप विशेष के आचरण से पाप कर्म नष्ट होकर आत्मा शुद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाती है तब सभी प्रकार के तपों की कोटियाँ सामान्य रहनी चाहिए, फिर बाह्य और आभ्यन्तर ऐसा भेद क्यों ?

इसका सीधा सा जवाब यह है कि तपश्चरण का जो मूल स्वरूप है उसमें कोई अन्तर नहीं है। तप किसी भी कोटि या श्रेणी का हो, वह एकान्तत: संचित कर्मों की निर्जरा का ही कारण बनता है। बाह्य-आभ्यन्तर तप सम्बन्धी यह अन्तर दृष्ट-अदृष्ट, खाद्य-अखाद्य, सामान्य-विशेष तप साधकों की अपेक्षा से है।

टीकाकार शान्त्याचार्य ने उत्तराध्ययनसूत्र का विश्लेषण करते हुए इस तथ्य के स्पष्टीकरण में कहा है कि अनशन आदि तप निम्न कारणों से बाह्य तप कहलाते हैं[1] –

1. इनमें अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि बाहरी द्रव्यों का त्याग होता है 2. ये मुक्ति के बहिरंग कारण होते हैं 3. अनशन आदि तपस्या सर्व

साधारण के द्वारा सहज रूप से की जा सकती है तथा साधारण मानवों में स्वीकृत भी है 4. यह तप लोकव्यवहार में स्पष्ट रूप से दिखता है 5. अन्यतीर्थिक भी अपने-अपने मत के अनुसार इनका पालन करते हैं 6. इनमें शारीरिक कष्ट की अनुभूति अधिक होती है 7. यह तप दृष्ट होने से अज्ञानी जीव भी इस प्रकार के तपों में रुचि रखते हैं और नाम प्रसिद्धि के लिए इनका आचरण करते हैं।

प्रायश्चित्त आदि निम्न कारणों से आभ्यन्तर तप कहलाते हैं –

1. इनमें बाहरी द्रव्यों अर्थात आहार आदि त्याग की अपेक्षा नहीं होती 2. ये मुक्ति के अन्तरंग कारण होते हैं 3. प्रायश्चित्त आदि तपस्या विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा ही आचरित की जाती है 4. विनय, प्रायश्चित्त आदि तप लोक प्रसिद्ध नहीं है 5. प्रायश्चित्त आदि तप अदृष्ट होने से सर्वसाधारण जन इसके प्रति उद्यमवन्त नहीं बनते हैं और 6. इनमें शारीरिक संयम के साथ-साथ मन: संयम की आवश्यकता भी सर्वाधिक रहती है।

उक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि कतिपय सामान्य कारणों को लेकर ही तप के विभिन्न प्रकारों को बाह्य और आभ्यन्तर के रूप में वर्गीकृत किया गया है। फलित की दृष्टि से सर्व तप समान हैं।

बाह्य एवं आभ्यन्तर तप में श्रेष्ठ कौन ?

वीतराग पुरुषों ने तप के मुख्य दो भेद किये हैं – बाह्य और आभ्यन्तर।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि जैन साधना में बाह्य तप और आभ्यन्तर तप का जो वर्गीकरण किया गया है वह साधक को समझाने की दृष्टि से है; किन्तु दोनों ही प्रकार के तपों का लक्ष्य आत्म विशोधन ही है। बाह्य तप में शारीरिक क्रिया की प्रधानता होने के बावजूद भी उसमें अन्तर्मन मिला हुआ होता है, अत: बाह्य तप का भी उतना ही महत्त्व है जितना आभ्यन्तर तप का है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

कुछ लोगों की यह मानसिकता बन गयी है कि बाह्य तप साधारण तप है, आभ्यन्तर तप बड़ा तप है। बाह्य का महत्त्व कम है, आभ्यन्तर का अधिक है। यह एक गलत धारणा है। शास्त्रों में आभ्यन्तर तप का जो महत्त्व है, वही बाह्य तप का भी माना गया है। अनेकान्त सिद्धान्त से किसी एक तप का आग्रह करना सही नहीं है, दोनों की समान आराधना करना ही वास्तव में सम्यक् आराधना है।

पुनर्उल्लेख्य है कि जो आभ्यन्तर तप के सामने बाह्य तप को नगण्य मानते हैं, उन्हें यह चिन्तन करना चाहिए कि यदि बाह्य तप अनुपयोगी होता तो भगवान् ऋषभदेव एक वर्ष तक भूखे रहकर शारीरिक कष्ट क्यों उठाते ? भगवान् महावीर साढ़े बारह वर्ष की साधना काल में अधिकतम समय उपवास आदि में व्यतीत क्यों करते ? धन्ना अणगार जो चौदह हजार श्रमणों में सर्वश्रेष्ठ तपस्वी घोषित किये गये, वे छट्ठ-छट्ठ के पारणे आयंबिल तप क्यों आचरते ? आखिर बाह्य तप की भी शक्ति है, चमत्कार है।[2]

अनुभवत: बाह्य तप में साधक के मनोबल एवं कष्ट सहिष्णुता की जितनी कसौटी होती है उतनी आभ्यन्तर तप में नहीं होती। जैसे– स्वर्ण को पहले तपाकर शुद्ध किया जाता है, उसके बाद ही उस पर मालिश करते हैं। इसी तरह बाह्य तप द्वारा पहले शारीरिक और मानसिक शुद्धि कर ली जाती है और फिर आभ्यन्तर तप से साधना में निखार आता है। यह तथ्य समझने जैसा है कि जब तक मानसिक मलिनता दूर नहीं होती, चित्त शुद्ध नहीं होता तब तक ध्यान, स्वाध्याय आदि प्रवृत्तियाँ सार्थक परिणाम कैसे दे सकती हैं ? मुक्ति का अन्तरंग कारण कैसे बन सकती हैं? इसी अपेक्षा से बाह्य तप का क्रम पहले रखा गया है।

बाह्य तप को साधने के पश्चात ही आभ्यन्तर तप की साधना भली-भाँति की जा सकती है। दूसरी दृष्टि से यदि बाह्य तप के साथ आभ्यन्तर तप नहीं हो तो वह तप केवल दैहिक कृशता का ही आधार बन सकेगा, विषय-वासना, कषायादि को क्षीण करने में निमित्त नहीं बन सकता। तप परिभाषा के अनुसार जिसके द्वारा शरीर और कषाय आदि कर्म दोनों क्षीण होते हैं, वही तप सच्चा तप होता है।

आचार्य मधुकर मुनि के उल्लेखानुसार तप में बाह्य-आभ्यन्तर का भेद बहुत मौलिक भेद नहीं है जैसे– किसी एक ही राजप्रासाद में एक आभ्यन्तर भाग होता है और दूसरा बाह्य भाग। आभ्यन्तर भाग राजा के अन्तरंग जीवन का केन्द्र होता है और बाह्य भाग राज्य संचालन आदि व्यवस्था का। किन्तु इसमें यह कहना कि बाह्य भाग कम महत्त्व का है तो यह उचित नहीं होगा। राज्य की दृष्टि से दोनों का ही महत्त्व है तथा दोनों ही अपनी-अपनी जगह में आवश्यक एवं उपयोगी हैं।

जैसे एक ही पुस्तक के दो अध्याय होते हैं, एक ही महल के दो खण्ड होते हैं, एक सिक्के के दो पहलू होते हैं, वैसे ही तप के ये दो पहलू हैं। दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं। बाह्य तप के बिना आभ्यन्तर तप की साधना अत्यंत दुष्कर प्राय: है। इसी भाँति आभ्यन्तर तप के अभाव में केवल बाह्य तप देह दण्डमात्र है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जैसे– बाह्य तप में मन का सम्बन्ध रहता है, वैसे आभ्यन्तर तप में शरीर का भी सम्बन्ध जुड़ा रहता है। उदाहरणार्थ ऊनोदरी बाह्य तप है फिर भी उसमें कषायों की ऊनोदरी का सीधा सम्बन्ध अन्तरंग से है। प्रतिसंलीनता बाह्य तप है; किन्तु अकुशल मन का निरोध, कुशल मन की उदीरणा और मन को एकाग्र करना इसका सम्बन्ध भी ध्यान साधना से जुड़ता है। इसी तरह विनय और वैयावृत्य आभ्यन्तर तप है; किन्तु इनकी प्रवृत्ति का सीधा सम्बन्ध दृश्य जगत से जुड़ता है। वैयावृत्य का सम्पर्क भी शरीर जगत से जुड़ा हुआ दिखाई देता है।[3]

इस तरह सुस्पष्ट होता है कि बाह्य एवं आभ्यन्तर भेद तप की प्रक्रिया समझाने के लिए है न कि एक को श्रेष्ठ साबित कर दूसरे के मूल्य को घटाने के लिए। सार रूप में कहा जा सकता है कि बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों तप समान रूप से आचरणीय एवं प्रशंसनीय है।

तप का वर्गीकरण

तप आत्मशोधन की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, आत्म-साधना की अखण्ड इकाई है, किन्तु फिर भी उसके प्रयोग के भिन्न-भिन्न रूप एवं पृथक्-पृथक् विधियाँ होने के कारण तपश्चरण के कई भेद-प्रभेद किये गये हैं। मूलत: आगम-साहित्य में तप को दो भागों में विभक्त किया गया है – 1. बाह्य तप (शारीरिक) और 2. आभ्यन्तर तप (मानसिक)।[4]

जिस तप में शारीरिक क्रिया की प्रमुखता होती है और जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षायुक्त होने से दूसरों को दृष्टिगोचर होता है उसे बाह्य तप कहते हैं। जिस तप में मानसिक क्रिया की प्रधानता होती है और जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा न रखने के कारण दूसरों को दिखाई नहीं देता, उसे आभ्यन्तर तप कहते हैं।

शास्त्रों में तप के मुख्य दो भेद करके प्रत्येक के छह-छह उपभेद बताये गये हैं और उनके अन्तर्भेद अनेक हैं। अन्तर्भेदों का अध्ययन करने से स्पष्ट

होता है कि बाह्य तप सिर्फ कायिक कष्ट मात्र ही नहीं है, उसका सम्बन्ध आभ्यन्तर तप से भी जुड़ा हुआ है। बाह्य तप के छह भेद निम्न हैं[5]–

1. अनशन 2. ऊनोदरी 3. भिक्षाचरी 4. रस परित्याग 5. कायक्लेश और 6. संलीनता।

आभ्यन्तर तप के छह भेद ये हैं[6]–

1. प्रायश्चित्त 2. विनय 3. वैयावृत्य 4. स्वाध्याय 5. ध्यान और 6. व्युत्सर्ग।

बाह्य तप के भेद-प्रभेदों का स्वरूप एवं उसके लाभ

1. अनशन तप

अनशन का सीधा अर्थ है - चारों प्रकार के आहार का त्याग करना। अशन अर्थात भोजन, अनशन अर्थात भोजन का त्याग। सभी तपों में अनशन का प्रथम स्थान है। इसका प्रमुख कारण है कि इस तप में अनादिकालीन आहार संज्ञा पर विजय प्राप्त करने का प्रबल पुरुषार्थ किया जाता है। आहार संज्ञा से विजित हुई चेतना शीघ्रमेव अनाहारक पद (मोक्षपद) का वरण कर लेती है। चतुर्गति में परिभ्रमण कर रही सभी आत्माओं को सबसे अधिक आहार संज्ञा ही परेशान करती है। आज मानव मुख्यत: उदरपूर्ति के लिए भाग-दौड़ कर रहा है। आहार प्रत्येक सांसारिक चेतना की प्राथमिक आवश्यकता है। इस तप के माध्यम से क्षुधा वेदनीय कर्म को तोड़ने एवं अनाहारक स्वभाव को प्रगट करने का उद्यम किया जाता है।

प्रकार– यह तप दो प्रकार का कहा गया है – 1. इत्वरिक और 2. यावत्कथिक। निश्चित समय की अवधि के लिए किया हुआ आहार त्याग इत्वरिक अनशन तप कहलाता है। यह एक दिन अथवा दो घड़ी के आहार त्याग से लेकर छह मास तक के उपवास का होता है तथा यावज्जीवन के लिए किया हुआ आहार त्याग यावत्कथिक अनशन तप कहलाता है। इसमें समय की मर्यादा नहीं रहती है।[7]

(i) इत्वरिक अनशन तप– उत्तराध्ययनसूत्र में इत्वरिक अनशन तप छह प्रकार का बतलाया गया है। उनके नाम ये हैं – 1. श्रेणी तप 2. प्रतर तप 3. घन तप 4. वर्ग तप 5. वर्ग-वर्ग तप 6. प्रकीर्ण तप।[8]

इन तप विधियों का वर्णन अध्याय-4 में किया जाएगा। विशेष इतना है कि आगमों में जितने प्रकार के तप बताये गये हैं वे सब इत्वरिक तप के अन्तर्गत आते हैं। इस तरह इत्वरिक तप में अनेक प्रकार की तपस्याओं का अन्तर्भाव होता है।

यहाँ इत्वरिक तप की पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला यह है कि मूल आगम में इत्वरिक तप की गणना 'चउत्थ भत्ते' चतुर्थ भक्त अर्थात एक अहोरात्रि के उपवास से प्रारम्भ की गयी है। फिर चतुर्थ भक्त से कम समय के उपवास को अनशन तप नहीं मानना चाहिए, किन्तु आचार्य आत्मारामजी महाराज ने अपनी आत्मज्ञान प्रकाशिका हिन्दी टीका में दो घड़ी के आहार-त्याग को भी अनशन तप माना है। यह मान्यता उनकी परम्परा में प्रचलित हो सकती है, क्योंकि प्रकीर्ण तप के भेद में नवकारसी, पौरुषी आदि को भी तप माना है। सम्भवत: उसी आधार पर यहाँ दो घड़ी के आहार त्याग को अनशन में गिना गया है।

ध्यातव्य है कि मूल आगम में जहाँ अनशन तप का वर्णन है, वहाँ कम से कम चतुर्थ भक्त को ही अनशन तप माना है। इससे कम अवधि का आहार त्याग ऊनोदरी आदि तप की गणना में लिया गया है।

दूसरा प्रश्न यह उभरता है कि इत्वरिक तप उत्कृष्ट छह मास का ही क्यों माना गया? क्या छह मास से अधिक काल का इत्वरिक तप नहीं हो सकता है ? जबकि इतिहास और आगमकार कहते हैं कि प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव ने एक वर्ष का कठोर तप किया था और उनके शासन में भी एक वर्ष का उत्कृष्ट तप माना गया है। मध्य के बाईस तीर्थङ्करों के शासन में उत्कृष्ट तप आठ मास का कहा गया है, तब यह तप किस तप की गणना में माना जायेगा?

इसका समाधान यह है कि इत्वरिक तप का यह वर्णन भगवान महावीर के शासनकाल की अपेक्षा से किया गया है। चरम तीर्थङ्कर के शासनकाल में इत्वरिक तप उत्कृष्ट छह मास का ही होता है। इस काल मर्यादा के पीछे मुख्य कारण उस युग की शारीरिक स्थिति है यानी उस युग में साधक अधिकतम छह मास तक का ही उपवास व्रत कर सकता है। इससे अधिक शारीरिक बल कार्य नहीं करता है।[9]

कुछ वर्षों पहले की बात है। एक सन्त प्रवर ने छह मास से भी अधिक दिनों का उपवास व्रत किया था, किन्तु वे अचित्त जल का सेवन करते हुए इस

दीर्घ तप को प्रायोगिक रूप से कर पाये जबकि यहाँ उत्कृष्ट छह मास तप का तात्पर्य निर्जल तप से है। प्रभु महावीर ने चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक छह माह का उपवास किया था। इस अवसर्पिणी कालखण्ड के पांचवें आरे में उससे बढ़कर कोई तप कर ही नहीं सकता, अन्यथा शाश्वत नियमों एवं तीर्थङ्कर शक्ति का लंघन हो जायेगा।

(ii) यावत्कथिक अनशन तप– अनशन का दूसरा भेद यावत्कालिक है। यह यावत्कालिक अनशन अपने नाम के अनुसार जीवन पर्यन्त के लिए स्वीकार किया जाता है। इसका प्रचलित नाम संथारा है। संथारा भी दो तरह से ग्रहण किया जाता है। आगार सहित और आगार रहित। शास्त्रीय भाषा में इन्हें भवचरिम सागार प्रत्याख्यान और भवचरिम निरागार प्रत्याख्यान कहते हैं। शास्त्रों में यावत्कथिक अनशन तप की विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है।

यहाँ सामान्य रूप से इतना ही कहा जाता है कि आगम नियमानुसार संथारा करने वाला साधक अनशन करने से पूर्व विविध प्रकार की तपसाधना करके शरीर एवं कर्म दोनों को क्षीण करता है और वही संलेखना कहलाता है। संलेखना में अनशन तप पूर्वक शरीर के साथ-साथ कषाय आदि अशुभ प्रवृत्तियों को भी शिथिल कर दिया जाता है। संलेखना संथारे की पूर्व भूमिका है। जैन आगमों में यावत्कालिक अनशन मुख्य रूप से दो प्रकार का बतलाया गया है – 1. पादोपगमन अनशन और 2. भक्त प्रत्याख्यान अनशन। उत्तराध्ययनसूत्र में भिन्न अपेक्षा से निम्न दो भेद बताये हैं– 1. सविचार और 2. अविचार।[10]

जिस अनशन तप में शरीर की चेष्टाएँ जैसे– हिलना, चलना, भ्रमण करना कायिक व्यापार प्रवर्तित रहते हैं, वह सविचार अनशन है और जिसमें शरीर की समस्त क्रियाएँ बंध होकर देह बिल्कुल स्थिर-निश्चेष्ट हो जाता है वह अविचार अनशन है। आचारांगसूत्र में यावत्कथिक अनशन के तीन प्रकार बतलाये गये हैं– 1. भक्तपरिज्ञा 2. इंगिनीमरण और 3. पादोपगमन।[11]

लाभ– कर्म निर्जरा की दृष्टि से अनशन का अत्यधिक महत्त्व है। भगवतीसूत्र के अनुसार ज्ञातव्य है कि एक साधक ने भगवान महावीर से प्रश्न किया कि एक उपवास करने से कितने कर्म नष्ट होते हैं ? भगवान ने समाधान देते हुए कहा - श्रमण एक उपवास के द्वारा उतने कर्म खपा लेता है जितने कर्म नारकी जीव हजारों वर्षों तक अपार कष्ट सहन करके भी नहीं खपा सकता। इस

तथ्यमूलक विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए प्रभु ने आगे कहा – श्रमण दो दिन का उपवास (बेला तप) करके उतने कर्म नष्ट करता है जितने कर्म नैरयिक जीव लाखों वर्षों में भी नहीं कर सकता। पुनः कहा – एक श्रमण तीन दिन का उपवास (तेला तप) करके उतने कर्म नष्ट कर देता है जितने कर्म नैरयिक जीव करोड़ों वर्षों में भी क्षीण नहीं कर पाते। इस प्रसंग से सिद्ध होता है कि तप से विपुल कर्मों की निर्जरा होती है।[12]

अनशन तप से विषय-विकार, कषाय एवं कलुषित वृत्तियाँ मन्द पड़ती हैं। ब्रह्मचर्य के परिपालन से वीर्य शक्ति में वृद्धि होती है। स्वाध्याय-ध्यान आदि शुभ प्रवृत्तियों में जुटे रहने से तीनों योग की अशुभ चेष्टाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। इस भाँति अनशन से कई लाभ होते हैं।

उल्लेख्य है कि साधारण मानव इस अनशन को स्वीकार नहीं कर सकते, उनके लिए यह अशक्य कार्य है, किन्तु असाधारण पुरुष इसे स्वेच्छापूर्वक अंगीकार करते हैं।

2. ऊनोदरी तप

बाह्य तप का दूसरा भेद ऊनोदरी है।[13] ऊनोदरी का शब्दार्थ है ऊन- कम, उदर- पेट अर्थात उदर में जितना समाये उससे कम खाना अथवा भूख से कम भोजन करना ऊनोदरी तप कहलाता है। स्थानांग आदि आगमों में इसका नाम "अवमोदरिका" है।[14] अवम् का अर्थ है – कुछ कम या खाली, उदर का अर्थ है पेट अर्थात भोजन करते समय पेट को कुछ खाली रखना अवमोदरिका कहलाता है। उत्तराध्ययन आदि शास्त्रों में इसे 'अवमौदर्य' कहा गया है।[15] इस प्रकार आगम में ऊनोदरी के तीन नाम मिलते हैं; किन्तु तीनों शब्दों का भावार्थ एक ही है कि भूख से कम खाना।

यहाँ एक अच्छा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पूर्णतया आहार का परित्याग करना तो तप कहलाता ही है, किन्तु भूख से कम खाना कैसे तप हो सकता है?

इसका समाधान है कि एक बार भोजन का सर्वथा त्याग कर देना सहज है, क्योंकि उसमें खाने का विकल्प ही समाप्त हो जाता है; किन्तु भोजन का मानस बनने के बाद एवं भोजन हेतु थाली के सामने बैठने के बाद रुचि से कम खाना, खाते-खाते रसना इन्द्रिय पर संयम रखना और स्वादिष्ट भोजन की लालसा को छोड़ देना उपवास करने से बहुत दुष्कर है।

ऊनोदरी के महत्त्व को न समझने वाले या आहारसंज्ञा को नहीं छोड़ सकने वाले प्राय: व्यक्ति यह भी कहते हैं कि उपवास करना सरल है, किन्तु भोजन करते हुए पेट को खाली रखना बहुत कठिन है। इस तप के लिए आत्मसंयम, दृढ़ मनोबल एवं संकल्पशक्ति होना आवश्यक है। इसलिए स्मरण में रखना चाहिए कि निराहार रहने की अपेक्षा आहार करते हुए पेट को खाली रखना अधिक संयम और शूरवीरता का कार्य है।

प्रकार– सामान्यतया ऊनोदरी तप में इच्छा से न्यून, परिमित आहार तो किया ही जाता है, किन्तु आहार के साथ ही कषाय और उपकरण आदि की भी ऊनोदरी की जाती है। वस्तुत: ऊनोदरी तप ऐन्द्रिक संयम, आवश्यकताओं को न्यून एवं इच्छाओं का निरोध करने के उद्देश्य से किया जाता है। इसीलिए स्थानांगसूत्र में ऊनोदरी तप के तीन भेद किये हैं – 1. उपकरण अवमोदरिका 2. भक्त पान अवमोदरिका और 3. भाव (कषाय त्याग) अवमोदरिका।[16] भगवतीसूत्र में ऊनोदरी के निम्न दो भेद किये गये हैं– 1. द्रव्य ऊनोदरी और 2. भाव ऊनोदरी।[17]

उत्तराध्ययनसूत्र में ऊनोदरी के निम्न पांच प्रकार बतलाये हैं– 1. द्रव्य ऊनोदरी 2. क्षेत्र ऊनोदरी 3. काल ऊनोदरी 4. भाव ऊनोदरी 5. पर्याय ऊनोदरी।[18]

ऊनोदरी तप के भेद-प्रभेदों का सामान्य स्वरूप इस प्रकार है –

1. द्रव्य ऊनोदरी– उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार जिसका जितना आहार है उससे जघन्यत: एक सिक्थ (धान्यकण) और उत्कृष्टत: एक कवल कम खाना, द्रव्य ऊनोदरी तप है।[19]

द्रव्य ऊनोदरी द्विविध कही गयी है–[20]

(i) उपकरण द्रव्य ऊनोदरी और (ii) भक्तपान द्रव्य ऊनोदरी।

(i) उपकरण द्रव्य ऊनोदरी – उपकार करने वाली वस्तु उपकरण कहलाती है। जिन वस्तुओं के द्वारा शरीर की रक्षा हो, लज्जा का निवारण हो, जो भूख-प्यास आदि मिटाने में सहयोगी हो उन्हें उपकरण कहा गया है। इस दृष्टि से वस्त्र-पात्र आदि वस्तुओं की उपकरण संज्ञा होती है। आगमों में इन उपकरणों को रखने की जो मर्यादा कही गयी है उससे कम उपकरण रखना, उपकरण द्रव्य ऊनोदरी है।

यहाँ उपकरण के विषय में कुछ अधिक स्पष्टता आवश्यक है। वह यह है कि श्रमण को तीन कारणों से ही वस्त्र रखना कल्पता है। स्थानांगसूत्र में कहा गया है कि मुनि लज्जा के लिए, लोकापवाद से बचने के लिए एवं परीषह से आत्मरक्षा के लिए वस्त्र धारण करें।[21] इसके सिवाय ममत्त्व या परिग्रह वृत्ति से वस्त्र का संग्रह नहीं करना चाहिए। संयम यात्रा में उपयोगी वस्त्र-पात्र आदि परिग्रह नहीं कहलाते हैं, क्योंकि जैसे साधना के लिए शरीर आवश्यक है, शरीर रक्षा के लिए भोजन आवश्यक है वैसे ही वस्त्र-पात्र भी आवश्यक है। नियमत: समर्थ साधु एक वस्त्र और अधिक से अधिक तीन वस्त्र (चादर) रख सकता है। इसी भाँति एक पात्र से लेकर तीन पात्र तक रख सकता है। साध्वियों के लिए अधिकतम चार वस्त्र और तीन पात्र रखने की मर्यादा है।[22]

वस्त्र-पात्र कैसे हो, किस प्रकार के वस्त्रादि ग्रहण कर सकते हैं, इन्हें किस विधि से ग्रहण करना चाहिए? इस विषयक विस्तृत चर्चा आचारांगसूत्र में उपलब्ध होती है।

यहाँ हमारा तात्पर्य इतना ही है कि जितने वस्त्र-पात्र की मर्यादा है, उस मर्यादा से कम वस्त्र-पात्र रखना उपकरण द्रव्य ऊनोदरी तप है।

उपकरण ऊनोदरी मुनि और गृहस्थ दोनों के लिए आवश्यक है। आज के फैशनेबल युग में सुन्दर व आकर्षक डिजायनों के प्रति मोह बढ़ता जा रहा है, वस्त्र संग्रह की प्रवृत्ति बहुत अधिक बढ़ गयी है। इससे फिजूलखर्ची का भी माप-तौल नहीं रह गया हैं। उसमें ऊनोदरी तप रामबाण दवा का कार्य करता है। इस तप के माध्यम से अनावश्यक परिग्रह का संकोचन कर समाज में सुव्यवस्था स्थापित की जा सकती है।

(ii) **भक्तपान द्रव्य ऊनोदरी-** खाने-पीने योग्य जितने भी पदार्थ हैं, उनकी संख्या एवं परिमाण निश्चित करना, भक्तपान द्रव्य ऊनोदरी तप कहलाता है।

जिस प्रकार साधु-साध्वियों के लिए एक से तीन या चार वस्त्र तथा तीन पात्र की मर्यादा है और गृहस्थ साधकों के लिए अपरिग्रह परिमाण व्रत की मर्यादा है, उसी प्रकार आहार के विषय में भी नियम संहिता है। साधारणत: पुरुषों के लिए बत्तीस ग्रास (कवल) और स्त्रियों के लिए अट्ठाईस ग्रास का विधान है। इसी तरह नपुंसकों के लिए चौबीस कवल प्रमाण आहार माना गया

है।[23] जितना ग्रास मुख में सुखपूर्वक आ सके उतना एक कवल कहलाता है। भगवतीसूत्र के आधार पर जिस व्यक्ति की जितनी खुराक है उसका बत्तीसवाँ भाग ही उस व्यक्ति के लिए एक कवल माना जाता है।[24] जिसके लिए जितने कवल का आहार बताया गया है उससे न्यून भोजन करना भक्तपान ऊनोदरी है।

अपने मुख प्रमाण ग्रास के आधार पर इसके पाँच प्रकार है[25]–

1. **अल्पाहार** – अपने आहार का चौथाई अर्थात आठ कवल परिमाण भोजन करना, अल्पाहार ऊनोदरी तप है।

2. **अपार्द्ध** – नौ से बारह कवल प्रमाण भोजन करना, अपार्द्ध ऊनोदरी तप है।

3. **द्विभाग** – तेरह से सोलह कवल प्रमाण भोजन करना, द्विभाग ऊनोदरी तप है।

4. **प्रमाणोपेत** – सत्रह से चौबीस कवल प्रमाण भोजन करना, प्रमाणोपेत (पादोन) ऊनोदरी तप है।

5. **किञ्चित ऊनोदरी** – पच्चीस से इकतीस कवल प्रमाण भोजन करना, किञ्चित ऊनोदरी तप है।

2. **क्षेत्र ऊनोदरी**– उत्तराध्ययनसूत्र के उल्लेखानुसार गाँव, नगर, राजधानी, निगम, पल्ली, द्रोणमुख, पत्तन, विहार, सेना शिविर, गलियाँ, घर आदि में अथवा इस प्रकार के अन्य क्षेत्र में निर्धारित रूप से भिक्षाटन करना, क्षेत्र ऊनोदरी तप है।[26]

इस ऊनोदरी तप में क्षेत्र का संकोच करने से आहार का संकोच होता है इससे मन-इच्छित आहार प्राप्त नहीं हो सकता। अतः आहार प्राप्त्यार्थ क्षेत्र की मर्यादा करना भी ऊनोदरी तप कहलाता है।

3. **काल ऊनोदरी**– उत्तराध्ययनसूत्र के निर्देशानुसार दिन के चार प्रहरों में इस प्रकार का अभिग्रह करना कि मैं अमुक प्रहर में भिक्षार्थ जाऊंगा, उस समय भिक्षान्न मिल गया तो भोजन कर लूंगा अन्यथा उपवास करूँगा। इसमें प्रत्येक पौरुषी का भी अलग-अलग भाग करके अभिग्रह किया जा सकता है जैसे– तृतीय पौरुषी में कुछ समय शेष रहेगा तब भिक्षा के लिए जाऊँगा अथवा उसके चतुर्थ भाग या पञ्चम भाग में भिक्षाटन करूँगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके आहार की कमी करना, काल ऊनोदरी तप है।[27]

4. भाव ऊनोदरी– भाव ऊनोदरी का अर्थ है अन्तरंग अशुभ वृत्तियों को कम करना। भाव ऊनोदरी दो प्रकार से की जाती है। पहली दाता के भावों की अपेक्षा से और दूसरी स्वयं के भावों की अपेक्षा से।

(i) दाता के भावों की अपेक्षा – भिक्षाचर्या करने वाला मुनि यह अभिग्रह करे कि आज मुझे अमुक स्त्री या पुरुष अलंकार से युक्त हो या रहित, बालक हो या वृद्ध, विशिष्ट वस्त्रों से भूषित हो, हंसता हुआ या रोता हुआ हो, अमुक वर्ण का हो, कोप या प्रसन्न मुद्रा में हो- इत्यादि स्थितियों में भिक्षा देगा तो ही ग्रहण करूँगा, अन्यथा उपवास करूँगा। इस प्रकार का संकल्प करना दाता की अपेक्षा से भाव ऊनोदरी तप है।[28]

(ii) स्वयं के भावों की अपेक्षा – विषय-कषायों को क्षीण करना, दूसरी भाव ऊनोदरी है।

एक शिष्य ने प्रभु से प्रश्न किया कि भाव ऊनोदरी क्या है और वह कितने प्रकार की है? भगवान ने जवाब दिया - वह छह प्रकार की है।

''अप्पकोहे, अप्पमाणे, अप्पमाए, अप्पलोहे, अप्पसद्दे, अप्पझंझे से तं भावो मोयरिया।''

क्रोध को अल्प करना, मान को अल्प करना, माया को अल्प करना, लोभ को अल्प करना, शब्दों का प्रयोग कम करना, कलह कम करना यह भाव ऊनोदरी है।[29]

दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि के अनुसार क्रोध आदि चार कषायों के उदय का निरोध और उदय प्राप्त का विफलीकरण करना, भाव ऊनोदरी है।[30]

5. पर्यव ऊनोदरी– पूर्वोक्त द्रव्य, क्षेत्र आदि चारों अभिग्रहों के साथ भिक्षा ग्रहण करना, पर्यव ऊनोदरी तप है।[31]

लाभ – ऊनोदरी तप का परिपालन करने से निम्न लाभ होते हैं – आहार शरीर की प्राथमिक आवश्यकता है। जब से शरीर की रचना प्रारम्भ होती है (माता के गर्भ में) तब प्रथम समय में ही प्राणी आहार ग्रहण करता है और प्राणान्त तक आहार लेता रहता है तो शरीर के लिए भोजन जरूरी है, किन्तु वह मात्रा और नियम से विरुद्ध हो तो अमृत की जगह जहर का काम कर देता है। मनुस्मृति में कहा गया है कि अधिक भोजन करने से स्वास्थ्य बिगड़ता है, आयुष्य कम होती है और अकाल में मृत्यु हो जाये तो परलोक भी बिगड़ जाता

है।[32] स्थानांगसूत्र में रोगोत्पत्ति के नौ कारणों में दो कारण भोजन सम्बन्धी है – ''अच्चासणाए, अहियासणाए'' अतिआहार और अहितकारी आहार से स्वस्थ मनुष्य भी सहसा रोगी हो जाता है[33] जबकि हित, मित एवं अल्प भोजन करने से वैद्य चिकित्सा की आवश्यकता नहीं रहती। विदुरनीति में परिमित भोजन के छह गुण बताते हुए लिखा है कि– जो व्यक्ति अल्प भोजन करता है उसका आरोग्य, आयुष्य, बल और सुख बढ़ता है, उसकी सन्तान सुन्दर होती है तथा लोग उसके लिए पेटू आदि बुरे शब्दों का प्रयोग नहीं करते। अल्प भोजन से स्वास्थ्य सुन्दर रहता है, प्रमाद नहीं बढ़ता, स्वाध्याय-ध्यान आदि आनन्द पूर्वक होते हैं।[34]

ऊनोदरी तप में साधक पेट को पूरा नहीं भरता, कुछ रिक्त रखता है। इससे पाचन संस्थान विकृत नहीं होता। आयुर्वेद की दृष्टि से उदर का आधा भाग भोजन के लिए, एक चौथाई भाग पानी के लिए और शेष हवा के लिए सुरक्षित रहना चाहिए। इस क्रम को खण्डित करने वाला व्यक्ति स्वस्थ नहीं रह सकता। कभी-कभार स्वादिष्ट एवं मनोनुकूल भोजन मिलने पर अधिक मात्रा में भी आहार कर लिया जाता है। उस स्थिति में पानी और हवा का स्थान भी आहार ग्रहण कर लेता है जिससे अत्यधिक बेचैनी का अनुभव होता है और श्वास लेने में भी कठिनाई होती है। अधिक आहार से आलस्य, प्रमाद और भारीपन महसूस होता है। अजीर्ण जैसे भयंकर रोग हो जाते हैं। मुँह में से दुर्गन्ध आती है, पेट में 'अफारा' अतिसार आदि अन्य अनेक बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जबकि कम खाने वाला हमेशा प्रसन्न रहता है।

आचार्य शिवकोटि ने मूलाराधना में ऊनोदरी के सुफल की चर्चा करते हुए लिखा है कि ऊनोदरी तप से कर्मों की निर्जरा और आत्मशुद्धि तो होती ही है। इससे निद्रा विजय, स्वाध्याय रुचि, आत्मसंयम, इन्द्रियजय और समाधि भी प्राप्त होती है।[35]

भाव ऊनोदरी के परिणामस्वरूप कषाय मन्दता से शान्ति में अभिवृद्धि होती है। अल्प भाषण से वाक् सिद्धि प्राप्त होती है और सर्वजन प्रिय बनता है। कलह न करने से आत्मिक प्रसन्नता और समाधि मिलती है। कल्पसूत्र में यहाँ तक कहा गया है कि

जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा।
जो न उवसमइ तस्स णत्थि आराहणा।।

जो कलह को शान्त करता है वही धर्म का आराधक हो सकता है तथा जो कलह को शान्त नहीं करता वह धर्म की आराधना भी नहीं कर सकता है।[36]

सुस्पष्ट है कि ऊनोदरी तप की आराधना से शारीरिक, मानसिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक सभी तरह के सुपरिणाम हासिल होते हैं।

ऊनोदरी तप के विषय में यह तथ्य भी स्मरणीय है कि उपवास में सामर्थ्य, स्वास्थ्य निरोगता, शारीरिक बल, मनोयोग आदि की अपेक्षा रहती है किन्तु ऊनोदरी तप तो दुर्बल, रूग्ण और अशक्त व्यक्ति भी कर सकता है। प्रत्येक उम्र के साधक इसे अपना सकते हैं। इसलिए ऊनोदरी तप कठिन है तो सर्वसुलभ भी है।

3. भिक्षाचर्या तप

षड्विध बाह्य तपों में तीसरा भेद भिक्षाचर्या है। भिक्षा का सीधा अर्थ है – याचना करना। भिक्षाचारी का अर्थ है – विविध प्रकार के अभिग्रह/नियम विशेष धारण करके आहार की गवेषणा करना तथा भिक्षा विषयक विभिन्न विधि-नियमों का पालन करते हुए भिक्षान्न पर जीवन यापन करना, भिक्षाचर्या तप कहलाता है।

तत्त्वार्थसूत्र में इसे वृत्तिपरिसंख्यान कहा गया है।[37] भिक्षा के सम्बन्ध में पूर्व निश्चय कर तदनुकूल आहार ही ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान कहलाता है। श्रमण जब अभिग्रह पूर्वक भिक्षाटन करता है तब सभी संकल्प फलीभूत न होने से आहार में कमी होती है इसीलिए इसे वृत्तिसंक्षेप कहा है। इसे अभिग्रह तप की संज्ञा भी दी गयी है।

आगम-साहित्य में भिक्षाचरी को गोचरी,[38] माधुकरी[39] और वृत्तिसंक्षेप कहा गया है। जिस प्रकार गाय अच्छी-बुरी घास का भेद किये बिना एक ओर से दूसरी तरफ चरती हुई चली जाती है, वह किसी तरह के शब्द, रस आदि में आसक्त न होकर सिर्फ उदरपूर्ति हेतु सामुदायिक रूप से घास चरती है और वह भी वन की हरियाली को नष्ट किये बिना, उसे जड़ से बिना उखाड़े सिर्फ ऊपर से थोड़ा-थोड़ा खाती है, उसी प्रकार जैन मुनि सरस और नीरस आहार का विचार किये बिना, आहार आदि में आसक्त हुए बिना, अमीर-निर्धन घरों का भेद किये बिना सिर्फ संयम यात्रा निर्वाह के लिए सामुदायिक भिक्षा अर्थात सभी घरों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा ग्रहण करता है, इसलिए मुनि की भिक्षाचर्या को 'गोचरी' कहा गया है।[40]

यहाँ यह बात स्पष्टतया समझ लेनी चाहिए कि मुनि भले ही उदर पूर्ति हेतु ऊँच-नीच या मध्यम कुलों में भिक्षाटन करता है, किन्तु शुद्ध-अशुद्ध आहार के सम्बन्ध में पूर्ण विवेक रखता है।

जैन मुनि की भिक्षाचरी को माधुकरीवृत्ति कहने का मुख्य कारण यह है कि जैसे भ्रमर एक फूल से दूसरे पर, दूसरे से तीसरे पर इस तरह कई फूलों पर घूमता हुआ थोड़ा-थोड़ा रस पीता है और इस वृत्ति से वह स्वयं सन्तुष्ट तो हो ही जाता है तथा फूलों को भी कोई हानि नहीं पहुंचाता, वैसे ही जैन श्रमण गृहस्थ के घर में उनके अपने लिए बने हुए भोजन आदि में से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण कर अपना जीवन निर्वाह भी कर लेता है और गृहस्थ को कष्ट भी नहीं होता, अत: श्रमण की भिक्षाचर्या को माधुकरी वृत्ति कहा गया है।[41] यह माधुकरी वृत्ति बौद्ध-परम्परा में और वैदिक-परम्परा में भी आदर्श मानी गयी है।[42]

मुनि की भिक्षाचर्या को वृत्तिसंक्षेप कहने का ध्येय यह है कि उसे मन इच्छित आहार प्राप्त नहीं हो सकता। कभी गर्म आहार की आवश्यकता होने पर ठण्डा मिल जाता है तो कभी रसप्रधान आहार की जरूरत होने पर रुक्ष-नीरस आहार की प्राप्ति हो जाती है। इस स्थिति में जैसा मिल गया उसी में सन्तुष्ट रहता है, अपनी वृत्तियों का संकोच करता है। इसलिए भिक्षाचर्या को 'वृत्तिसंक्षेप' की संज्ञा दी गयी है।

यहाँ एक प्रासंगिक प्रश्न यह उठता है कि भिखारी भी मांगकर उदर पूर्ति करता है और मुनि भी याचना द्वारा जीवन निर्वाह करता है, भिखारी और मुनि दोनों को भिक्षुक शब्द से सम्बोधित करते हैं तथा दोनों के लिए 'भिक्षा' शब्द का व्यवहार होता है फिर इन दोनों में क्या अन्तर है ? यदि श्रमणाचार विषयक ग्रन्थों का अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि दोनों की भिक्षा लेने की विधि और प्रक्रिया में बहुत बड़ा अन्तर है। भिखारी की कोई आचार संहिता नहीं होती। उसे जो कुछ भी मिल जाता है चाहे सचित्त हो या अचित्त पदार्थ, चाहे नशीले द्रव्य हों या पैसा आदि सब कुछ ले लेता है। उसे जो भी वस्तु प्राप्त होती है वह संग्रह करके रखना चाहता है; किन्तु श्रमण संग्रह नहीं करता। भिखारी दीन वृत्ति से याचना करता है, किन्तु श्रमण अदीन भाव से भिक्षा लेता है। भिखारी दान-प्रदाता के गुणों की प्रशंसा करता है, किन्तु श्रमण किसी भिक्षा दाता की गुण-गाथा नहीं गाता। यदि भिखारी को भिक्षा न मिले तो वह दान न देने वाले को

गाली और श्राप भी दे देता है, जबकि श्रमण न किसी को शाप देता है और न ही किसी को अपशब्द ही कहता है, हृदय में दुर्भाव भी नहीं लाता। दाता जैसा भी शुद्ध आहार बहराये उसे अमुग्ध भावों से ग्रहण करता है। भिखारी दिये गये भोजन को तत्क्षण ग्रहण कर लेता है, किन्तु श्रमण देखता है कि जो देय वस्तु है वह सदोष तो नहीं है? औद्देशिक तो नहीं है? इस प्रकार भिखारी अविवेक पूर्वक भिक्षा लेता है और किन्तु श्रमण की भिक्षा विवेकयुक्त होती है।[43]

आचार्य हरिभद्रसूरिजी ने पात्र और उद्देश्य की अपेक्षा से भिक्षा के तीन प्रकार बताये हैं – 1. दीनवृत्ति 2. पौरुषघ्नी और 3. सर्वसम्पत्करी।[44]

अनाथ, अपंग, आपद्ग्रस्त दरिद्र व्यक्तियों के द्वारा याचना करके प्राप्त की जाने वाली भिक्षा दीनवृत्ति भिक्षा कहलाती है। सामर्थ्यवान्, बलिष्ठ, श्रमहीन, आरामजीवी लोगों के द्वारा याचित कर प्राप्त की जाने वाली भिक्षा, पौरुषघ्नी भिक्षा कहलाती है। त्यागी, सन्तोषी, व्रतनिष्ठ मुनियों के द्वारा उदर गृहस्थ के स्वयं के लिए बना हुआ निर्दोष आहार सम्मानपूर्वक ग्रहण करना, सर्वसम्पत्करी भिक्षा कहलाती है।

उक्त तीनों में भिखारी की भिक्षा दीनवृत्ति और पौरुषघ्नी होती है और जैन श्रमण की भिक्षा सर्वसम्पत्करी होती है। सर्वसम्पत्करी भिक्षा से दाता व गृहीता दोनों का उद्धार होता है।

ध्यातव्य है कि भिक्षाचरी में कई बार सर्वथा आहार न मिलने से अनशन भी हो जाता है, कई बार पर्याप्त आहार न मिलने पर ऊनोदरी हो जाती है, कितनी बार सरस आहार की प्राप्ति न होने से रस परित्याग हो जाता है अतएव भिक्षाचरी को तप में माना गया है।

प्रश्न हो सकता है कि जब अनशन आदि तप पृथक् से है तब भिक्षाचरी को अनशन आदि की संभावना से पृथक् तप क्यों माना गया? उत्तर यह है कि अनशन तप करने वाला उस तप को अनशन आदि की भावना से करता है, जबकि भिक्षाचरी में आहार की अप्राप्ति आदि होने पर भिक्षा निर्दोषता की रक्षा के लिए अनशन करता है। अतएव भिक्षाचारी को पृथक् तप की कोटि में रखा गया है।

भिक्षाटन के प्रकार– उत्तराध्ययनसूत्र में भिक्षाचर्या तप के अनेक प्रकार बतलाये गये हैं।[45] सामान्यतया भिक्षाटन किस प्रकार करना चाहिए ? भिक्षा किस विधिपूर्वक ग्रहण करनी चाहिए? भिक्षा के अभिग्रह कौनसे हैं? इन विषयों पर

प्रकाश डाला गया है। इनका यथाविधि परिपालन करने से भिक्षाचरी तप का अनुपालन होता है। उत्तराध्ययन के अनुसार यह विवरण निम्न प्रकार है[46]–

जैन मुनि निम्न अष्टविध विकल्पों में से किसी एक का निर्णय कर भिक्षा हेतु प्रस्थान करता है। इससे भिक्षाचर्या तप का पालन होता है।

1. पेटा – पेटी (सन्दूक) की तरह गाँव के घरों के चार भाग बनाकर चौकोर गति से (बीच के घरों को छोड़ चारों दिशाओं में स्थित घरों में) घूमते हुए भिक्षा मिलेगी तो लूंगा अन्यथा नहीं, इस संकल्प से भिक्षा प्राप्त करना पेटा है।

2. अर्द्धपेटा – अर्द्धपेटा (आधी सन्दूक) की भाँति द्विकोण (दो दिशाओं के घरों) में घूमते हुए भिक्षा प्राप्त होगी तो लूंगा अन्यथा नहीं, इस संकल्प से भिक्षाटन करना अर्द्धपेटा है।

3. गो-मूत्रिका – गोमूत्र की धारा के समान टेढ़ी-मेढ़ी गति से अर्थात दायें घरों से बायें और बायें से दायें घरों में जाते हुए भिक्षा मिलेगी तो लूंगा अन्यथा नहीं, इस संकल्प से भिक्षा ग्रहण करना गो-मूत्रिका है।

4. पतंगवीथिका – जैसे पतंगा अनियत क्रम से उड़ता है वैसे अनियत क्रम से घूमते हुए भिक्षा मिलेगी तो लूंगा अन्यथा नहीं, इस संकल्प से आहार प्राप्त करना पतंगवीथिका है।

5. शम्बूकावर्त्ता – शंख के आवर्त्तों की तरह गोल घूमते हुए भिक्षा मिलेगी तो ही लूंगा अन्यथा नहीं, इस संकल्प से आहार प्राप्त करना शम्बूकावर्त्त कहलाता है। यह भिक्षाचर्या दो तरह से की जाती है – शंख के नाभि-क्षेत्र से प्रारम्भ कर बाहर आने वाले आवर्त्त की भाँति गाँव के भीतरी भाग से भिक्षाटन करते हुए बाहरी भाग में आना आभ्यन्तर शम्बूकावर्त्त कहा जाता है तथा बाहर से भीतर जाने वाले शंख आवर्त्त की भाँति गाँव के बाहरी भाग से भिक्षाटन करते हुए भीतरी भाग में आना बाह्य शम्बूकावर्त्त कहा जाता है।

6. आयतगत्वा- प्रत्यागता – एक तरफ के घरों से भिक्षा ग्रहण करते हुए गली के अन्तिम छोर तक जाकर लौटते हुए दूसरी पंक्ति के घरों से भिक्षा ग्रहण करूँगा, इस संकल्प से भिक्षाचरी करना आयत गत्वा-प्रत्यागता कहलाता है।

7. ऋजुगति – सरल गति से भ्रमण करते हुए भिक्षा ग्रहण करूँगा, इस विचारपूर्वक भिक्षाटन करना ऋजुगति है।

8. वक्रगति – टेढ़ी गति से गमन करते हुए भिक्षा मिलेगी तो ही लूंगा, इस संकल्प से भिक्षाचर्या करना वक्रगति है।

भिक्षा विधि के प्रकार

जैन मुनि निर्दोष एवं गृहस्थ के स्वयं के लिए बनाया गया आहार ही ग्रहण करता है। इस प्रकार के आहार की खोज करना शास्त्रीय भाषा में एषणा कहलाता है। आगमों में एषणा तीन तरह की कही गयी है, उनमें पिण्डैषणा (आहार एषणा) के सात भेद कहे गये हैं। इन अन्तर्गत भेदों का पालन करने से भिक्षाचर्या तप का आचरण होता है। वे सप्त भेद इस प्रकार हैं[47]–

1. संसृष्ट – खाद्य वस्तुओं से लिप्त हाथ या पात्र से दी गयी भिक्षा लेना संसृष्ट पिण्डैषणा कहलाती है।

2. असंसृष्ट – जिस कोटि का भोजन दिया जा रहा है उससे बिना सने हुए हाथ या पात्र से दी गयी भिक्षा लेना, असंसृष्ट है।

3. उद्धृता – गृहस्थ के अपने प्रयोजन के लिए रांधने के पात्र से दूसरे पात्र में निकाला गया आहार लेना, उद्धृता कहलाता है।

4. अल्पलेपा – अल्पलेप वाली रूखी वस्तु जैसे– चना, चिवड़ा आदि लेना अल्पलेपा पिण्डैषणा कहलाती है।

5. अवगृहीता – गृहस्थ के स्वयं के खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना, पाँचवीं पिण्डैषणा है।

6. प्रगृहीता – पारिवारिक सदस्यों को परोसने के लिए कड़छी या चम्मच से निकाला हुआ आहार लेना, पिण्डैषणा का छठा प्रकार है।

7. उज्झितधर्मा – जो भोजन मन के अनुकूल न होने के कारण परित्याग करने योग्य हो, उसे लेना सातवीं पिण्डैषणा है।

भिक्षा अभिग्रह के प्रकार– भिक्षाचर्या तप का उत्कृष्ट आचरण करने के उद्देश्य से श्रमण अभिग्रह (विशिष्ट नियम) पूर्वक भिक्षा स्वीकार करता है। वह अभिग्रह निम्नोक्त चार प्रकार का कहा गया है[48]–

1. द्रव्य अभिग्रह – मुनि भिक्षा के लिए प्रस्थान करने से पूर्व विचार करे कि आज उड़द के बाकुले, चने आदि अमुक द्रव्य मिलेगा तो ही ग्रहण करूंगा अन्यथा उपवास करूंगा, यह द्रव्य अभिग्रह कहलाता है।

2. क्षेत्र अभिग्रह – मुनि भिक्षाटन करने से पूर्व यह संकल्प करे कि आज अमुक क्षेत्र में आहार मिलेगा तो लूंगा। जैसे– दाता का एक पैर देहली के भीतर और एक पैर देहली के बाहर होगा तो भिक्षा लूंगा, यह क्षेत्र अभिग्रह कहलाता है।

3. काल अभिग्रह – मुनि भिक्षागमन से पहले यह निर्णय करें कि आज दिन के अमुक प्रहर में, अमुक घण्टा में आहार मिलेगा तो लूंगा अन्यथा नहीं। जैसे– भगवान महावीर ने तीसरे प्रहर का अभिग्रह किया था, यह काल अभिग्रह कहा जाता है।

4. भाव अभिग्रह – मुनि भिक्षा प्राप्त करने से पूर्व यह संकल्प करे कि अमुक जाति, अमुक लिंग, अमुक वेश, अमुक भाव के साथ अमुक व्यक्ति भिक्षा देगा तो ही लूंगा। जैसे दाता हंसता हुआ, रोता हुआ या बद्ध अवस्था में देगा तो ही लूंगा अन्यथा नहीं, यह भाव अभिग्रह कहलाता है।

औपपातिकसूत्र में भाव अभिग्रह 26 प्रकार का बतलाया गया है जो संक्षेप में निम्नोक्त है[49]–

1. उत्क्षिप्त चर्या – गृहस्थ द्वारा अपने प्रयोजन हेतु भोजन पकाने के बर्तन से निकाला गया आहार लेने की प्रतिज्ञा (अभिग्रह) करना।

2. निक्षिप्त चर्या – भोजन पकाने के बर्तन से नहीं निकाला हुआ आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना।

3. उक्षिप्त-निक्षिप्त चर्या – भोजन पकाने के बर्तन से निकाल कर उसी जगह या दूसरी जगह रखा हुआ आहार अथवा अपने प्रयोजन से निकाला हुआ या नहीं निकाला हुआ- दोनों प्रकार का आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना।

4. निक्षिप्त-उक्षिप्त चर्या – भोजन पकाने के बर्तन में से निकालकर अन्यत्र रखा हुआ, फिर उसी में से उठाया हुआ आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना।

5. वर्तिष्यमाण चर्या – खाने हेतु परोसे हुए भोजन में से भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लिए रहना।

6. संहृयमाण चर्या – जो भोजन ठण्डा करने के लिए पात्र आदि में

फैलाया गया हो, फिर समेट कर पात्र आदि में डाला जा रहा हो, ऐसे (भोजन) में से आहार लेने की प्रतिज्ञा करना।

7. उपनीत चर्या – किसी के द्वारा किसी के लिए उपहार रूप में भेजी गयी भोजन सामग्री में से भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना।

8. अपनीत चर्या – किसी को दी जाने वाली भोजन सामग्री में से निकालकर अन्यत्र रखी हुई भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना।

9. उपनीतापनीत चर्या – स्थानान्तरित की हुई भोजनोपहार सामग्री में से आहार लेने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना अथवा दाता द्वारा पहले किसी अपेक्षा से गुण तथा बाद में किसी अपेक्षा से अवगुण-कथन के साथ दी जाने वाली भिक्षा स्वीकार करने की प्रतिज्ञा लेना।

10. अपनीतोपनीत चर्या – किसी के लिए उपहार रूप में भेजने हेतु पृथक् रखी हुई भोजन-सामग्री में से भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना अथवा दाता द्वारा पहले किसी अपेक्षा से अवगुण तथा बाद में किसी अपेक्षा से गुण कथन के साथ दी जाने वाली भिक्षा स्वीकार करने की प्रतिज्ञा लेना।

11. संसृष्ट चर्या – लिप्त हाथ आदि से दी जाने वाली भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा रखना।

12. असंसृष्ट चर्या – अलिप्त या स्वच्छ हाथ आदि से दी जाने वाली भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा करना।

13. तज्जातसंसृष्ट चर्या – दिये जाने वाले पदार्थ से लिप्त हाथ आदि द्वारा दिया जाता आहार स्वीकार करने की प्रतिज्ञा करना।

14. अज्ञात चर्या – स्वयं को अज्ञात-अपरिचित रखकर निरवद्य भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना।

15. मौन चर्या – स्वयं मौन व्रत में रहते हुए भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा करना।

16. दृष्ट लाभ – दिखाई देता या देखा हुआ आहार लेने की प्रतिज्ञा करना अथवा पूर्व काल में देखे हुए दाता के हाथ से भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना।

17. अदृष्ट लाभ – पहले नहीं देखा हुआ आहार अथवा पूर्वकाल में नहीं देखे हुए दाता द्वारा दिया जाता आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना।

18. पृष्ट लाभ – भिक्षो ! आपको क्या दें, ऐसे पूछकर दिया जाने वाला आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना।

19. अपृष्ट लाभ – कुछ भी पूछे बिना दिया जाने वाला आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना।

20. भिक्षा लाभ – भिक्षा के सदृश- भिक्षा मांगकर लाये हुए जैसा तुच्छ आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना अथवा दाता जो भिक्षा में मांगकर लाया हो उस भोजन में से आहार लेने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना।

21. अभिक्षा लाभ – भिक्षा लाभ से विपरीत आहार लेने की प्रतिज्ञा करना।

22. अन्न ग्लायक – बासी आहार लेने की प्रतिज्ञा रखना।

23. उपनिहित – भोजन करते हुए गृहस्थ के निकट रखे हुए आहार में से भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा करना।

24. परिमित पिण्डपातिक – परिमित या अल्प आहार लेने की प्रतिज्ञा करना।

25. शुद्धैषणिक – शंका आदि दोष से वर्जित अथवा व्यञ्जन आदि से रहित शुद्ध आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना।

26. संख्यादत्तिक – पात्र में आहार-क्षेपण की सांख्यिक मर्यादा के अनुरूप भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा करना अथवा कड़छी, कटोरी आदि द्वारा पात्र में डाली जाती भिक्षा की अविच्छिन्न धारा की मर्यादा के अनुसार भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यहाँ प्रश्न होता है कि भिक्षाचरी तप तो मुख्यत: साधु को लक्ष्य करके ही बताया गया है फिर गृहस्थ इस तप की आराधना कैसे कर सकता है? इसका सटीक जवाब यह है कि विवेच्य अभिग्रहों में कुछ अभिग्रह ऐसे हैं जिन्हें साधु की तरह गृहस्थ भी कर सकता है। साधु गृहस्थ के घर भिक्षा के लिए जाता है जबकि गृहस्थ अपने घर में बैठा हुआ भी इनकी साधना कर सकता है। जैसे– संख्यादत्तिक नाम का अभिग्रह है उसमें संकल्प करे कि "थाली में एक बार जितना परोस दिया जायेगा उतना ही भोजन करूँगा"। इसी तरह अपृष्टलाभिक अभिग्रह – इसमें विचार करे कि "जो वस्तु मुझे बिना पूछे परोस देंगे या पूछकर परोसेंगे वही खाऊंगा"। इसका अभिप्राय

यही है कि साधु हो या गृहस्थ– यदि मन में तप की भावना हो और आहार संज्ञा पर विजय पाना चाहे तो भिक्षाचारी तप का सेवन किया जा सकता है।

लाभ – भिक्षाचर्या मुनि जीवन का अलौकिक तप है। उपर्युक्त गोचरी, एषणा एवं अभिग्रह के भेदों द्वारा इसका सम्यक परिपालन किया जाता है। निर्दोष भिक्षा प्राप्त करने वाला मुनि बहु निर्जरा का भागी होता है और ऐसे भिक्षुक को आहार आदि का दान करने से भी महान पुण्य का सर्जन होता है। भगवतीसूत्र में शुद्ध दान का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि आत्मा तीन कारणों से दीर्घायुष्य प्राप्त करता है[50]–

1. अहिंसा की साधना से 2. सत्य भाषण से 3. श्रमण को शुद्ध-निर्दोष आहार-पानी देने से।

इस तप के फलस्वरूप रसवृत्ति का निरोध होता है, भोजन का संकोच होता है, मनोनिग्रह का अभ्यास बढ़ता है, दुःसह स्थितियों में रहने की आदत बनती है, समत्व धर्म का आस्वाद प्राप्त होता है। इस तरह भिक्षाचरी तप की महान फलश्रुतियाँ हैं।

यहाँ भिक्षाचर्या तप का सामान्य वर्णन ही प्रस्तुत किया गया है यद्यपि मुनि की भिक्षा के सम्बन्ध में जैन सूत्रों में स्थान-स्थान पर विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। आचारांग (2/1), प्रश्नव्याकरण (संवरद्वार 1/15), भगवतीसूत्र (7/1), उत्तराध्ययन (26), दशवैकालिक (5) तथा निशीथ आदि सूत्रों में भिक्षाचरी के विधि-निषेधों का बड़ा ही सूक्ष्म वर्णन प्राप्त होता है। आचारांगसूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध का प्रथम अध्ययन और दशवैकालिक का पाँचवां अध्ययन तो विशेष रूप से भिक्षा-विधि का ही निरूपण करते हैं। इस कारण इनका नाम भी 'पिण्डैषणा अध्ययन' प्रसिद्ध हो गया है।

4. रस परित्याग तप

यह बाह्य तप का चौथा प्रकार है। रस का अर्थ होता है– प्रीति बढ़ाने वाला। जिसके कारण भोजन में, वस्तु में ममत्त्व उत्पन्न होता हो उसे रस कहते हैं। यहाँ रस परित्याग का मुख्य अर्थ है – स्वादिष्ट भोजन दूध, दही, घी, मिष्ठान्न आदि रसप्रद वस्तुओं का परित्याग करना। सामान्यतया जो आहार के प्रति लोलुपता को पैदा करता है, आसक्ति भावों को अभिवृद्ध करता है ऐसे खाद्य पदार्थों का आंशिक या सर्वथा त्याग करना रस परित्याग तप है।

भोजन के छह रस माने गये हैं – 1. कड़वा 2. मीठा 3. खट्टा 4. तीखा 5. कसैला 6. नमकीन। इन रसों के संयोग से भोजन मधुर, स्वादिष्ट और जीभ को अच्छा लगने वाला बनता है। भोजन सरस हो तो व्यक्ति भूख से अधिक भी खा लेता है।

इन षड्रसों के अतिरिक्त कुछ रस ऐसे भी हैं जो भोजन को स्वादिष्ट बनाने के साथ-साथ गरिष्ठ व पौष्टिक भी बना देते हैं। शास्त्रों में इन रसों को 'विकृति' (विगय) कहा गया है। प्राचीन ग्रन्थों में विगय के दो रूप बतलाये गये हैं – (1) भक्ष्य विगय और (2) अभक्ष्य विगय।

भक्ष्य विकृति छः प्रकार की होती है – दूध, दही, घी, तेल, गुड़ व कड़ाही में तली हुई वस्तुएँ। अभक्ष्य विगय चार हैं। इन्हें महाविगय भी कहा जाता है – मद्य, मांस, मधु और मक्खन। ये सर्वथा वर्ज्य हैं।

यहाँ यह मुख्य रूप से स्मरणीय है कि विगय पदार्थ स्वभावतः विकार उत्पन्न करते हैं, किन्तु भक्ष्य विगय के सम्बन्ध में यह भी है कि वह शरीर को बलिष्ठ एवं कष्ट सहिष्णु बनाये रखने के लिए भी सामान्य जीवन में उपयोगी होती है। वस्तुतः घी, दही, मक्खन आदि स्वयं प्राकृतिक रस नहीं हैं किन्तु विकृतिजन्य ही हैं। जैसे गाय के रस आदि की विकृति दूध है, दही दूध की विकृति है, घृत दही की विकृति है अतः भक्ष्य विगय विकृति रूप ही है। यदि विकृतिकारक पदार्थों का अति सेवन किया जाये तो साधक संयम से च्युत होकर विगति (दुर्गति) को प्राप्त कर लेता है।[51]

उपर्युक्त वर्णन से प्रश्न उठता है कि जैनाचार्यों ने रसवर्द्धक भोजन का सर्वथा निषेध किया है अथवा अमुक स्थितियों में ? इसका जवाब है कि शरीर के लिए पौष्टिक (रसजन्य) आहार को सर्वथा वर्ज्य नहीं माना गया है, क्योंकि अत्यन्त रूखा व नीरस आहार देह को निर्बल एवं रुग्ण बना देता है। जैसे दीपक को तेल एवं बत्ती की जरूरत होती है वैसे ही शरीर को शक्तिवर्धक आहार की अपेक्षा रहती है। कहा गया है कि

पुष्ट खुराक बिना नहीं बनता तेज दिमाग।
तेल और बत्ती बिना कैसे जले चिराग?

भगवतीसूत्र कहता है कि सतत रूखा-सूखा नीरस आहार करने से जमाली जैसा हृष्ट-पुष्ट साधक भी रुग्ण हो गया। अतः शास्त्रों में विगय का सर्वथा निषेध

नहीं है अपितु दीर्घ तपश्चर्या, मानसिक अस्वस्थता, दैहिक क्षीणता, शक्तिहीनता, शास्त्र सर्जन, शासन प्रभावना आदि कार्यों में यथावश्यक इनका सेवन किया जाये तो कोई दोष नहीं है किन्तु प्रतिदिन विगय का सेवन और प्रमाण से अधिक पौष्टिक आहार नहीं करना चाहिए।

उत्तराध्ययनसूत्र में नित्य एवं मर्यादा रहित विगय सेवी श्रमण को पापी श्रमण की उपमा दी गयी है।[52] साथ ही श्रमण की साधना उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, इस भाव से यह निर्देश भी दिया गया है कि वह शरीर को खुराक देने के उद्देश्य से ही विगय सेवन करे उसमें स्वादवृत्ति किञ्चिद् मात्र भी न रखे।

स्वाद लोलुपता से निम्न हानियाँ होती हैं[53]–

1. स्वाद के वशीभूत हुआ साधक भोजन में आसक्त हो जाता है 2. वह स्वाध्याय काल में भी स्वादिष्ट और सरस भोजन की खोज में तन्मय रहता है 3. गृहीत नियमों एवं सामाचारियों को ताक पर रखकर जहाँ रसदार भोजन मिलता है वहीं पहुंच जाता है 4. आवश्यक मर्यादाओं का लंघन कर डालता है 5. कदाच उसकी लोलुपता को देख लोग कह सकते हैं कि यह साधु है या स्वादु! 6. रसासक्त व्यक्तियों के लिए कहा गया है कि –

साठे कोसे लापसी, सोए कोसे सीरो।
मिलिया सुं छोड़े नहीं, नणद बाइ रो वीरो।।

सरस आहार के लिए व्यक्ति साठ से सौ कोस का चक्कर भी खा लेता है। फिर तीव्र आसक्ति से प्राप्त किये आहार को खाते समय विवेक भी नहीं रह पाता है। वह स्वादवश ठूंस-ठूंस कर खाता है, जिसके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की बीमारियों से आक्रान्त हो जाता है।

शास्त्रकार कहते हैं कि कुण्डरीक ने एक हजार वर्षों तक संयमव्रत का उत्कृष्ट पालन किया किन्तु अन्ततः रसलोलुपता के कारण संयम से भ्रष्ट होकर सोलह महारोगों से घिर गया और नरक गति को प्राप्त किया।

उत्तराध्ययनसूत्र में उदाहरण देते हुए बताया गया है कि जैसे– अपथ्य आम खाकर एक राजा ने अपना राज्य खो दिया। **"अपत्थं अम्बगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए।"** वैसे ही मनुष्य थोड़े से स्वाद के कारण अपने जीवन से भी खिलवाड़ कर लेता है।[54]

रसपरित्याग का उपदेश देते हुए शास्त्र में यह भी कहा गया है कि जो मनुष्य रस में अत्यन्त गृद्ध हो जाता है वह उसमें मूर्च्छित हुआ अपने जीवन को अकाल में ही हारकर विनाश को प्राप्त करता है जैसे कि माँस के लोभ में फँसा हुआ मत्स्य काँटे में फंसकर अपने प्राण गवाँ देता है।[55]

रसासक्ति से कामासक्ति बढ़ती है, क्योंकि गरिष्ठ भोजन से शरीर में स्वत: उत्तेजना पैदा हो जाती है, जिससे मन चंचल और इन्द्रियाँ उत्तेजित होकर संयम का बन्धन तोड़ डालती हैं।

भगवान महावीर ने सर्वगत अनुभव को प्रस्तुत करते हुए यह भी कहा है कि गरिष्ठ आहार के अत्यधिक सेवन से धातु आदि पुष्ट होती हैं, वीर्य उत्तेजित होता है, उससे कामाग्नि प्रचण्ड होती है और उससे विकृत भाव साधक को वैसे ही घेरने लगते हैं जैसे कि स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षीगण आकर घेर लेते हैं।[56]

जो व्यक्ति मात्रा से अधिक रसदार भोजन करता है उसके मन एवं इन्द्रियों में कामरूपी अग्नि उस तरह दहक उठती है जैसे– सूखी-लकड़ियों के जंगल में तेज हवाओं के झोंके से अग्नि की एक चिनगारी भी क्षण भर में फैल जाती है और प्रचण्ड वनाग्नि का रूप धारण कर लेती है।[57]

प्रणीत रस भोजन तो साधक के लिए तालपुट जहर के समक्ष माना गया है।[58] जैसे– तालपुट जहर जीभ पर रखकर ताली बजाये उतने में मनुष्य को मार डालता है उसी प्रकार प्रणीत आहार से साधक का इहभव ही नहीं परभव भी बिगड़ जाता है। सारत: ईंधन से जैसे– अग्नि प्रचण्ड बनती है वैसे ही सरस भोजन से कामाग्नि प्रचण्ड होती है। अत: साधक को निष्प्रयोजन रसयुक्त भोजन का सेवन नहीं करना चाहिए।

प्रकार– उपर्युक्त विवरण के आधार पर दूसरा प्रश्न यह उठता है कि 'रसपरित्याग' शब्द में सभी प्रकार के रसों का त्याग आ जाता है जबकि शास्त्रों में मुनि को विगय ग्रहण करने का भी विधान है इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि वह हमेशा विगय का त्यागी रहे। तब विगय त्याग किस तरह किया जा सकता है ? औपपातिकसूत्र में इसके नौ प्रकार बताये गये हैं[59]–

1. **निर्विकृतिक –** घृत, तेल, दूध, दही, शक्कर आदि से रहित आहार करना, यह रस परित्याग का पहला प्रकार है।

2. प्रणीत आहार – घृत आदि टपकता हुआ, अति स्निग्ध और बलवीर्य वर्द्धक भोजन का त्याग करना, रस परित्याग तप का दूसरा प्रकार है।

3. आयंबिल – सिर्फ भुना हुआ या उबला हुआ भोजन करना।

4. आयामसिक्थ भोजन – धान्यादि के धोये हुए पानी में शेष बच गये कणों को ग्रहण कर उदरपूर्ति करना।

5. अरसाहार – नमक, मिर्च आदि षड्रसों से रहित भोजन करना जैसे– उड़द के बाकुले, भुने हुए चने आदि।

6. विरसाहार – बहुत पुराना अन्न जो स्वभावतः रस या स्वाद रहित हो गया हो उसका बनाया हुआ आहार ग्रहण करना।

7. अन्ताहार – अत्यन्त हल्की जाति के अन्न से बना हुआ आहार ग्रहण करना अथवा सबसे आखिर में बना हुआ आहार लेना।

8. प्रान्ताहार – बहुत हल्की किस्म के अन्न से बना हुआ तथा भोजन कर लेने के पश्चात बचा-खुचा आहार ग्रहण करना प्रान्ताहार कहलाता है।

9. रूक्षाहार – रूखा-सूखा आहार ग्रहण करना।

कुछ आचार्यों ने तुच्छाहार (जली हुई रोटी) आदि के कुछ और प्रकारों को मानकर कुल 14 भेद किये हैं। इस तरह भोजन में रस, स्वाद, चिकनाई आदि का त्याग करके रसपरित्याग तप की साधना कई प्रकार से की जा सकती है।

लाभ – रस परित्याग तप की आराधना करने से अस्वाद व्रत का पालन होता है, स्वाद विजय की साधना होती है, स्वाद लोलुपता से सम्भावित हानियों से बचाव होता है, विवेक चक्षु उद्घाटित रहता है, यौगिक विकार उत्तेजित नहीं होते हैं, रसना इन्द्रिय की चंचलता समाप्त हो जाती है, ब्रह्मचर्य का पालन होता है और वीर्यशक्ति में अभिवृद्धि होती है। वैराग्य भाव पुष्ट होता है। स्वाद न लेने से श्रमण आहार ग्रहण करता हुआ भी तप करता है। अस्वादवृत्ति के कारण वह सात-आठ कर्मों के बन्धनों को शिथिल कर देता है। यहाँ तक कि अस्वाद वृत्ति से आहार ग्रहण करता हुआ श्रमण भी केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

यह तप मुनि एवं गृहस्थ दोनों के लिए समान है। यद्यपि मुनि जीवन में स्वाध्याय- ध्यान आदि प्रवृत्तियों की सफलता हेतु रस वर्जन का अधिक महत्त्व है, एतदर्थ इस विषय में विस्तृत चर्चा की गयी है। साथ ही उल्लेख्य है कि उपवास आदि तप की पृथक्-पृथक् काल मर्यादा है, किन्तु रस परित्याग तप तो

जीवन भर की सतत साधना है। इसकी साधना हर कोई कर सकता है, किन्तु कठिन है, क्योंकि वैराग्य भाव के उद्‌बुद्ध होने पर ही यह तप सेवित होता है।

श्रमण को आहार का ग्रास किस प्रकार लेना चाहिए ? स्वाद विजय के उपाय क्या हैं? आहार लोलुपता बढ़ने के कौन-कौन से कारण हैं? सरस पदार्थों के सेवन से किन आत्माओं का पतन हुआ? इत्यादि विषयों पर शास्त्रों में सम्यक् प्रकाश डाला गया है।

5. कायक्लेश तप

कायक्लेश का शाब्दिक अर्थ है– शरीर को कष्ट देना, ताप पहुँचाना। कष्ट दो प्रकार के होते हैं– एक प्राकृतिक रूप में स्वयं आते हैं या देवता, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि के उपसर्गों से प्राप्त होते हैं। सर्दी लगना, ग्रीष्म ताप से बेचैनी होना, वर्षा में तूफान आदि से प्रभावित होना, डांस-मच्छर आदि का काटना, अकारण मनुष्य आदि से अपमानित होना इत्यादि प्रकार के कष्ट सहज आते हैं।

दूसरे प्रकार के कष्ट उदीरणा करके आमन्त्रित किये जाते हैं जैसे- कठिन आसन आदि करना, ध्यान मुद्रा में बैठे रहना, कायोत्सर्ग मुद्रा में निष्प्रकम्प खड़े रहना, पैदल विहार करना, केशलुंचन करना, आतापना लेना, स्वयं को प्रतिकूल परिस्थितियों में खड़े करना आदि कई प्रकार के कष्ट जान-बूझकर बुलाये जाते हैं।

साधक चाहे तो ही उदीरणा प्राप्त कष्ट आते हैं अन्यथा बंधे हुए कर्म अपनी-अपनी स्थिति के पूर्ण होने पर ही उदय में आते हैं और स्वयं की प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार आत्मा को सुख-दुःख की अनुभूति कराते हैं।

उदीरणा के द्वारा बाद में उदय प्राप्त दुष्कर्मों को पहले ही क्षीण कर दिया जाता है। उदीरणा हर साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता। उसके लिए आत्मबल और संकल्पबल की आवश्यकता होती है। जैसे– अतिथि को निमन्त्रण देकर बुलाया जाता है वैसे ही साधक धैर्यता व सहिष्णुता की कसौटी करने हेतु कष्टों को स्वत: आमन्त्रित करता है इसलिए ये कष्ट आत्म स्वीकृत कहलाते हैं।

यहाँ यह ध्यान देना जरूरी है कि "देह दुःखं महाफलं" उक्ति के अनुसार मात्र देह को कष्ट देने से ही महान फल की प्राप्ति नहीं होती है। अज्ञानी व्यक्ति कई प्रकार के कष्ट सहता है, किन्तु उसका देह दुःख महाफल प्रदाता नहीं होता। वीतराग वाणी के आलोक में ज्ञानपूर्वक दिया गया दैहिक कष्ट ही कर्म-निर्जरा

का हेतु बनता है। पाद विहार, केशलोच, तपश्चर्या आदि के कष्ट जान-बूझकर स्वीकार किये जाते हैं अत: इस प्रकार का कायक्लेश निश्चित रूप से आत्मविशुद्धि में उपकारक बनता है और तप की कोटि में गिना जा सकता है।

यहाँ सहज प्रश्न उठता है कि शास्त्रों में एक तरफ तो मानव देह की अपार महिमा गाई गई है, चार दुर्लभ वस्तुओं में मनुष्य जन्म को परम दुर्लभ माना गया है। इसे चिन्तामणिरत्न की उपमा तक दी गयी है तथा दूसरी ओर शरीर को कष्ट देने की बात कही गयी है। यह विरोधाभास समझ नहीं आता। एक जगह "शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्" की बात है और दूसरे स्थान पर "देह दुक्खं महाफलं" की चर्चा है इस प्रकार का वैचारिक मतभेद क्यों?

इसका उत्तर यह है कि शरीर को कष्ट देने का अर्थ शरीर को नष्ट करना नहीं है, प्रत्युत उसका सदुपयोग करना है। शरीर हमारा शत्रु नहीं है वह तो धर्म साधना का बहुत बड़ा माध्यम है। आचार्य मधुकर मुनि ने इसे सेवक की उपमा देते हुए कहा है कि सेवक से काम लेते रहना चाहिए। सेवक को यथासमय वेतन देने, मधुर वचन कहने, यथायोग्य भोजन आदि देने से वह प्रसन्न रहता है और मालिक की सेवा में भी तत्पर रहता है। जो सेवक सब कुछ पाकर भी यदि मालिक की सेवा में हाजिर न रहे तो वह ईमानदार नहीं कहलाता है।[60]

वस्तुत: इस देह से धर्म साधना आदि अनेक तरह की सम्यक् प्रवृत्तियाँ की जा सकती हैं इसीलिए इस शरीर को दुर्लभ बताया गया है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इसे निठल्ले बिठाये रखे, वरना यह लोह जंग की भाँति जाम हो जायेगा फिर किसी तरह के काम का नहीं रह सकेगा। शरीर की मशीन निराबाध रूप से प्रवर्तित रहे, उसके द्वारा व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक हर तरह के कार्य सम्पादित होते रहे, इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए शरीर कष्ट की बात कही गई है। वास्तव में वह कष्ट, कष्ट नहीं है, किन्तु शरीर का सदुपयोग है।

उक्त समाधान के अन्तर्गत दूसरी शंका यह उत्पन्न होती है कि जब शास्त्रों में "परिणामे बन्ध परिणामे मोक्ष" का कथन है तब काया को केशलोच, आतापना, तपश्चरण आदि रूप अनावश्यक कष्ट ही क्यों दिये जाये, वैचारिक स्तर पर भी धर्म साधना की जा सकती है?

इसका प्राथमिक समाधान तो यही है कि केशलुंचन आदि द्वारा देह को कष्ट नहीं दिया जाता, वरन् उसका उपयोग करते हुए पूर्व बद्ध कर्मों से आत्मा को हल्का किया जाता है।

दूसरा तथ्य यह है कि जिसे साधना में आनन्द आता है उसे कष्ट की अनुभूति नहीं होती। उपाध्याय यशोविजयजी ने 'तपोष्टक' में लिखा है कि मनोवांछित कार्य की सिद्धि हेतु शरीर को जो कष्ट दिया जाता है वह कष्ट नहीं है। जैसे– बहुमूल्य रत्नों की उपलब्धि के लिए व्यापारी विराटकाय समुद्रों को लांघता है, गगनचुम्बी पर्वतों की चोटियों पर पहुंचता है, भयानक जंगलों को पार करता है, यात्रा दौरान असह्य पीड़ाएँ सहन करता है तभी उसे आनन्द प्राप्त होता है इसी तरह मुक्तिपथ का राही साधक कायक्लेश द्वारा तप, जप, ध्यान आदि की साधना करता है, किन्तु उसे उसमें कष्ट नहीं होता।[61] जिस साधना में कष्ट का अनुभव हो वह साधना हो नहीं सकती, साधना तो स्वेच्छापूर्वक स्वीकार की जाती है।

तीसरा तथ्य यह है कि जैन धर्म में कायक्लेश किया नहीं जाता, बल्कि स्वयं होता है। साधक का मुख्य भाव तो आत्म शोधन का रहता है, चैतसिक परिणामों को निर्मल बनाये रखने का होता है, किन्तु जब वह उसके लिए उद्यम करता है तो दैहिक कष्ट स्वत: या सजग रूप से आमन्त्रित कर लिए जाते हैं। उस समय देह कष्ट का किञ्चित्मात्र भी लक्ष्य नहीं रहता। यह स्थिति ठीक उस तरह की होती है जैसे कि घी को शुद्ध करने के लिए उसे तपाना। घी को शुद्ध करना है तो उसे तपाना ही पड़ेगा, किसी पात्र में डालकर अग्नि का ताप देना ही पड़ेगा वैसे ही आत्म-शुद्धि के लिए शरीर को तपाना होता है।

स्पष्ट भावार्थ यह है कि जैसे घी को तपाने का लक्ष्य होने पर भी पात्र उसका आधार होने से वह घी को तपाने के साथ स्वयं तपता है उसी प्रकार आत्माच्छादित विकारों को दूर करने के लिए इन्द्रिय निग्रह, उपवास आदि के द्वारा आत्मा को ही तपाना होता है, किन्तु आत्मा का आधार शरीर है। इसलिए आत्मा जब तपाचरण करता है तो शरीर को स्वभावत: कष्ट होता है; किन्तु शरीर की उस वेदना में साधक को वेदन की अनुभूति नहीं होती। तप के कष्ट को साधक कष्ट रूप में अनुभव नहीं करता। कदाच् कष्टानुभव हो भी तो वह समझता है कि देह पृथक् है और मैं पृथक् हूँ, देह को कष्ट होता है मुझे नहीं,

देह का विनाश होता है आत्मा का नहीं। इस प्रकार के चिन्तन से वह देह ममत्व को मन्द कर देता है। यही कायक्लेश का यथार्थ उद्देश्य है।

अन्तिम ध्येय यह है कि जब शरीर कष्ट सहिष्णु बनता है, मन:स्थिति भी तभी सधती है। शरीर की कसौटी पर ही साधनाएँ फलती-फूलती हैं, देहजित ही मनोजित कहलाता है, फिर कायक्लेश तप की प्रत्येक क्रिया मनोबल के अनुरूप ही फलदायी होती है। अत: 'परिणामे बन्ध परिणामे मोक्ष' कथन में प्रस्तुत तप का सन्देश गोपनीय रूप में है।

इस प्रकार आत्म साधना के मार्ग में शरीर को पहुंचाने वाला कष्ट वास्तव में कष्ट नहीं है, अपितु शरीर का उपयोग है और उसके द्वारा साधना मार्ग का आरोहण है।

प्रकार– जैनागमों में कायक्लेश तप के अनेक प्रकार प्ररूपित हैं। स्थानांगसूत्र में निम्न सात प्रकार का कायक्लेश तप बताया गया है[62] – 1. कायोत्सर्ग करना 2. उत्कटुक आसन से ध्यान करना 3. प्रतिमा धारण करना 4. वीरासन करना 5. स्वाध्याय आदि के लिए वज्रासन आदि में बैठना 6. दण्डायत होकर खड़े रहना और 7. काष्ठवत खड़े रहकर ध्यान करना।

औपपातिकसूत्र में इन्हीं भेदों को विस्तृत कर ग्यारह भेद कहे गये है[63]–

1. **स्थानस्थितिक** – एक ही तरह से खड़े या एक ही आसन से बैठे रहना।

2. **उत्कुटुकासनिक** – उकडू आसन से बैठना अर्थात केवल पंजों के बल पर बैठना।

3. **प्रतिमास्थायी** – मासिक आदि द्वादश प्रतिमाएँ स्वीकार करना।

4. **वीरासनिक** – वीरासन में स्थित रहना अर्थात जैसे- कोई पुरुष सिंहासन पर बैठा हुआ हो और उसके नीचे से सिंहासन हटा दिये जाने पर वह जिस स्थिति में रहता है, उस रूप में स्थिर रहना वीरासन कहलाता है।

5. **नैषद्यिक** – पालथी लगाकर बैठना। 6. **आतापक** – सूर्य आदि की आतापना लेना। 7. **अप्रावृतक** – देह को वस्त्रादि से नहीं ढकना। 8. **अकण्डूयक** – खुजली चलने पर भी देह को नहीं खुजलाना। 9. **अनिष्ठीवक** – थूंक आने पर भी नहीं थूंकना।

10. सर्वगात्र परिकर्म – शरीर के किसी अंग की देखभाल (ध्यान) नहीं रखना।

11. विभूषा विप्रमुक्त – शरीर के सभी संस्कार, सज्जा, विभूषा आदि से मुक्त रहना।

उत्तराध्ययनसूत्र में कायक्लेश तप के बाईस प्रकार उल्लिखित हैं जिन्हें परीषह कहा गया है। इन परीषहों में अन्यकृत एवं स्वेच्छा अस्वीकृत दोनों प्रकार के कष्टों का अन्तर्भाव है। परीषहों के नाम इस प्रकार हैं[64]–

1. क्षुधा परीषह – भूख सहन करना **2. पिपासा परीषह** – प्यास सहन करना **3. शीत परीषह** – सर्दी सहन करना **4. उष्ण परीषह** – गर्मी सहन करना **5. दंशमशक परीषह** – डांस, मच्छर आदि के उपद्रवों को सहना **6. अचेल परीषह** – नग्न्यत्व कष्ट को सहना **7. अरति परीषह** – कष्टों से घबराकर संयम के प्रति उदासीन न होना **8. स्त्री परीषह** – ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्री का तथा स्त्री को पुरुष का उपसर्गादि सहन करना **9. चर्या परीषह** – पाद विहार के कष्टों को सहना **10. नैषेधिकी परीषह** – स्वाध्याय भूमि के कष्ट को सहना **11. शय्या परीषह** – शयन भूमि सम्बन्धी कष्ट सहन करना **12. आक्रोश परीषह** – किसी के दुर्वचनों को सहन करना **13. वध परीषह** – लकड़ी आदि के प्रहार को सहन करना **14. याचना परीषह** – भिक्षा आदि में आगत कष्टों को सहन करना **15. अलाभ परीषह** – वस्त्रादि की याचना में आगत कष्टों को सहन करना **16. रोग परीषह** – रोग आदि कष्टों को समभाव से सहन करना **17. तृणस्पर्श परीषह** – घास आदि के स्पर्श का कष्ट सहन करना **18. जल्ल परीषह** – शरीर पर मैल जम जाये उसे सहन करना **19. सत्कार-पुरस्कार परीषह** – पूजा-प्रशंसा में तटस्थ रहना **20. प्रज्ञा परीषह** – तीव्र बुद्धि का गर्व नहीं करना **21. अज्ञान परीषह** – बुद्धिहीनता का दुःख सहन करना **22. दर्शन परीषह** – सम्यक्त्व भ्रष्ट मिथ्या मतों के बीच मन को स्थिर रखना।

उत्तराध्ययनसूत्र में वीरासन आदि उत्कृष्ट आसनों को कायक्लेश तप के प्रकारों में गिना गया है।[65] दशवैकालिकचूर्णि में कायक्लेश के मुख्य पांच प्रकार बतलाये गये हैं–1. वीरासन 2. उत्कटुकासन 3. भूमिशयन 4. काष्ठपट्टशयन 5. केशलोच।[66]

सार रूप में कहें तो आसन, आतापना, केशलोच आदि निरवद्य प्रवृत्तियों द्वारा शरीर को साधना कायक्लेश तप है।

लाभ – कायक्लेश तप के माध्यम से हमारा जीवन स्वर्ण की भाँति निखरता है। इससे शारीरिक क्षमता में अभिवृद्धि होती है, देह ममत्त्व शनैः-शनैः समाप्त होता है, जड़-चेतन की भेदज्ञान बुद्धि प्रगटती है, ज्ञाता-द्रष्टा व साक्षीभाव का अभ्यास होता है, संसार-विरक्ति का अंकुर प्रस्फुटित होता है। कायक्लेश से तितिक्षा का भाव प्रबल से प्रबलतर होता है। जो व्यक्ति तितिक्षु और सहिष्णु नहीं है वह बाह्य तप की साधना नहीं कर सकता जैसे– अग्नि स्नान किये बिना स्वर्ण में निखार नहीं आता, घिसे बिना चन्दन में सुगन्ध प्रकट नहीं होती, पीसे बिना मेहंदी में रंग नहीं आता वैसे ही कायक्लेश तप किये बिना साधना में ओज नहीं आता। तात्पर्य है कि यह तप साधना स्तर को चरम सीमा तक पहुंचाने में सहयोगी बनता है। इस तप के द्वारा शरीर के प्रति निर्ममत्व बुद्धि होने से उसे संवारने और सजाने के प्रति भी उदासीनता रहती है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि शरीर को तपाना कायक्लेश है। यद्यपि शरीर को तपाने या साधने में संसारी आत्मा को कष्ट होता है फिर भी जिसने आत्मा को भावित कर लिया है उसके लिए वह कष्ट जैसा नहीं है।[67]

अन्त में अवधेय है कि इस तप का विवेचन भले ही साधु को लक्षित कर किया गया है, किन्तु गृहस्थ भी इसकी साधना कर सकता है। आसन आदि के द्वारा ध्यान करना, ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ धारण करना, शिष्यों के प्रति ममत्वभाव कम करना, स्नान, विलेपन, अंगराग आदि की मर्यादा करना, यह सब साधना करते हुए गृहस्थ भी कायक्लेश तप की आराधना कर सकता है।

6. प्रतिसंलीनता तप

प्रतिसंलीनता बाह्य तप का छठा भेद है। संलीनता का सामान्य अर्थ है – आत्मा में लीन हो जाना, स्वयं में मग्न हो जाना।

संसार की साधारण आत्माएँ परभावों में मग्न हैं। परभाव में लीन आत्मा को स्वभाव में निमग्न रखने का उपक्रम करना प्रतिसंलीनता तप कहलाता है। प्रकारान्तर से इन्द्रिय आदि का बाह्य विषयों से प्रतिसंहरण करना प्रतिसंलीनता तप है। दूसरे अर्थ के अनुसार इन्द्रिय आदि की बहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी करना प्रतिसंलीनता तप है। संलीन का एक अर्थ है गुप्त रखना। तीसरे अर्थ के

अनुसार इन्द्रिय, कषाय एवं योगादि प्रवृत्तियों को बाहर से हटाकर भीतर में गुप्त रखना, संयमित रखना प्रतिसंलीनता तप है। शास्त्रों में इसे संयम और गुप्ति भी कहा गया है।

इस तप नाम के सम्बन्ध में सामान्य मतान्तर है। भगवतीसूत्र[68] एवं औपपातिकसूत्र[69] में इसका नाम प्रतिसंलीनता है। उत्तराध्ययनसूत्र में संलीनता और विविक्त शय्यासन ये दो नाम प्राप्त होते हैं।[70] कुछ ग्रन्थों में 'विविक्त शय्यासन' या 'विविक्त शय्या' का प्रयोग मिलता है। इस तरह इसके संलीनता, प्रतिसंलीनता, विविक्त शय्यासन आदि नाम प्राप्त होते हैं। स्वरूपतः संलीनता एवं प्रतिसंलीनता में महत अन्तर नहीं है तथा 'विविक्त शय्यासन' उसके एक अवान्तर भेद का ही नाम है।

जैनागमों में प्रतिसंलीनता तप का उपदेश देते हुए कहा गया है कि इस तप में रुचि रखने वाला साधक सर्वप्रथम इन्द्रियों पर संयम रखे, इन्द्रियों को गुप्त रखे। प्रश्न उठता है कि इन्द्रियों का गोपन किस तरह किया जाये? इसके प्रत्युत्तर में शास्त्र वचन है कि "कुम्मो इव गुप्तिदिंया"[71] कछुएँ की भाँति इन्द्रियों को गुप्त रखना चाहिए। जैन, बौद्ध एवं वैदिक तीनों धर्मों में इन्द्रिय गोपनता के विषय में कछुए का उदाहरण ही दिया गया है। जैसा कि गीता में कहा है[72]– जैसे कछुआ सब ओर से अपने अंगों को समेट कर शान्त-गुप्त होकर बैठता है, वैसे ही साधक सांसारिक विषयों से अपनी इन्द्रियों को सब ओर से समेट लेता है।

सामान्यतः इन्द्रिय आदि की संसाराभिमुख प्रवृत्तियों को संयमित करना प्रतिसंलीनता तप का मुख्य हार्द है।

प्रकार– आगम एवं आगमिक टीकाओं में प्रतिसंलीनता तप चार प्रकार का बताया गया है [73]–

1. इन्द्रिय प्रतिसंलीनता 2. कषाय प्रतिसंलीनता 3. योग प्रतिसंलीनता 4. विविक्तचर्या प्रतिसंलीनता।

1. इन्द्रिय प्रतिसंलीनता तप– यह तप पांच प्रकार से होता है[74]–

(i) श्रोत्रेन्द्रिय संलीनता (ii) चक्षुरिन्द्रिय संलीनता (iii) घ्राणेन्द्रिय संलीनता (iv) रसनेन्द्रिय संलीनता (v) स्पर्शनेन्द्रिय संलीनता।

उक्त श्रोत्र आदि इन्द्रियों के शब्द, रूप, गन्ध, रस आदि जो अपने-अपने

विषय हैं तत्संबंधी अनुकूल-प्रतिकूल विषयों में राग-द्वेष की बुद्धि नहीं रखना, इन्द्रिय प्रतिसंलीनता तप कहलाता है। स्पष्ट है कि इन्द्रियों को योग्य-अयोग्य जैसा भी देखने-सुनने-चखने आदि को मिले, उसमें समभाव रखना इन्द्रिय प्रतिसंलीनता है।

2. कषाय प्रतिसंलीनता तप– कषाय संलीनता तप चार प्रकार का बताया गया है [75]–

(i) उदय में आने वाले क्रोध का निरोध करना तथा उदय प्राप्त क्रोध को विफल कर देना क्रोध संलीनता तप है।

(ii) उदय में आने वाले अहंकार का निरोध करना तथा उदय प्राप्त मान को प्रभाव शून्य कर देना, मान संलीनता तप है।

(iii) उदय में आने वाली माया का निरोध करना तथा उदय प्राप्त छल-कपट पूर्ण वृत्ति को निष्प्रभ कर देना, माया संलीनता तप है।

(iv) उदय में आने वाले लोभ का निरोध करना तथा उदय प्राप्त लोभ को विफल कर देना, लोभ संलीनता तप है।

दूसरे शब्दों में क्रोध आदि चतुः कषायों के उदय का निरोध और उदीर्ण का विफलीकरण करना, कषाय संलीनता तप कहलाता है।

3. योग प्रतिसंलीनता तप– योग संलीनता के तीन प्रकार हैं [76]–

(i) **मन संलीनता –** दुर्विचार मन का निरोध और सद्विचार उत्पन्न करने का अभ्यास करना, मनोयोग प्रतिसंलीनता तप है।

(ii) **वचन संलीनता –** अशुभ वचन का निरोध करना अर्थात दुर्वचन नहीं बोलना और सद्वचन बोलने का अभ्यास करना, वाक्योग प्रतिसंलीनता तप है।

(iii) **काय संलीनता –** बिना प्रयोजन हाथ, पैर आदि को हिलाना नहीं और प्रयोजन होने पर यातनापूर्वक चंक्रमण आदि करना, काय संलीनता तप है।

4. विविक्त-शयनासन प्रतिसंलीनता तप– उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार एकान्त, अनापात और स्त्री-पशु आदि से रहित शयन एवं आसन का सेवन करना, विविक्त शयनासन तप है।[77] मूलाराधना के अनुसार जहाँ पर शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श के द्वारा चित्तविक्षेप नहीं होता, स्वाध्याय और ध्यान में व्याघात नहीं होता वह विविक्तशय्या कहलाता है।[78]

प्रतिसंलीनता के इस चौथे भेद का भावार्थ यह है कि जहाँ इन्द्रिय, कषाय एवं योग प्रवृत्ति को सम्यक् और संयमित रखा जा सके उन स्थानों में रहने का प्रयत्न करना, विविक्त शयनासन संलीनता तप कहलाता है।

विविक्त शयनासन के पीछे दो दृष्टियाँ मुख्य रूप से रही हुई हैं– पहली दृष्टि– ब्रह्मचर्य की साधना का विकास करना है। ब्रह्मचर्य की साधना हेतु एकान्त स्थान की नितान्त आवश्यकता रहती है। दूसरी दृष्टि– साधक को सुखशीलता से बचाकर स्वावलम्बन, कष्टसहिष्णुता, निर्भयता एवं साहसिकता की ओर अग्रसर करना है। एकान्त-निर्जन स्थानों में रहने पर दूसरी दृष्टि के सभी गुण स्वत: विकसित होते हैं।

लाभ – प्रतिसंलीनता तप की साधना से बहिर्मुखी व्यक्ति अन्तर्मुखता की ओर गति करता है। पांच इन्द्रियों के तेईस विषयों की अनावश्यक प्रवृत्ति रुक जाती है। संसार परिभ्रमण के मुख्य हेतु विषय एवं कषाय मन्द पड़ जाते हैं। यौगिक प्रवृत्ति का निरोध होने से अयोगी अवस्था शीघ्रमेव उपलब्ध हो सकती है। विविक्त शय्या में रहने से 1. कलह 2. शब्द बाहुल्य 3. संक्लेश 4. व्यामोह 5. असंयमियों के साथ सम्मिश्रण 6. ममत्व 7. ध्यान और स्वाध्याय में व्याघात – इन सात दोषों से सहज ही छुटकारा मिल जाता है।[79]

भगवान महावीर ने उत्तराध्ययनसूत्र में विविक्त शय्या तप के लाभ बताते हुए कहा है कि इस तप के सेवन से चारित्र की रक्षा होती है। जो चारित्र की रक्षा करता है, वह पौष्टिक आहार का वर्जन, दृढ़ चारित्र का पालन और अन्तःकरण से मोक्षसाधना में प्रवृत्त हुआ ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मों की गाँठ को तोड़ देता है।[80] इस तरह प्रतिसंलीनता तप आध्यात्मिक विकास में श्रेष्ठतम भूमिका का निर्वहन करता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मानव जीवन में बाह्य तप का अनुपम स्थान है। इस तप के आचरण से दैहिक सुख प्राप्ति की इच्छा स्वयमेव समाप्त हो जाती है, इन्द्रियाँ अनुशासित होती हैं, वीर्य शक्ति का पूर्ण सदुपयोग होता है। आत्मा संवेग और समाधि को प्राप्त होती है। कषाय का निग्रह, विषयों के प्रति उदासीनता तथा आहार आदि के प्रति अनुराग की मात्रा कम होने से समाधिमरण के लिए स्थिरता प्राप्त होती है। तीर्थङ्कर आज्ञा का परिपालन होता है। इस तरह यह तप समग्र दृष्टियों से उपकारी सिद्ध होता है।

आभ्यन्तर तप के भेद-प्रभेदों का स्वरूप एवं उसके लाभ

आगम-साहित्य में जैसे बाह्य तप छह प्रकार का कहा गया है वैसे आभ्यन्तर तप भी निम्नोक्त छह प्रकार का निर्दिष्ट है–

1. प्रायश्चित्त 2. विनय 3. वैयावृत्य 4. स्वाध्याय 5. ध्यान और 6. व्युत्सर्ग।

1. प्रायश्चित्त तप

'प्राय:' + 'चित्त'– इन दो पदों के योग से प्रायश्चित्त शब्द निर्मित है। यहाँ 'प्राय:' का अर्थ है अपराध, 'चित्त' का अर्थ है शोधन अर्थात अपराधों का शोधन करना, पाप की शुद्धि करना प्रायश्चित्त कहलाता है।[81]

आगमिक टीकाओं में प्रायश्चित्त की निम्न परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं–

• जो पाप कर्मों को क्षीण करता है, वह प्रायश्चित्त है।[82] • जो प्रचुरता से चित्त-आत्मा का विशोधन करता है, वह प्रायश्चित्त है।[83] • जो चित्तविशुद्धि का प्रशस्त हेतु है, वह प्रायश्चित्त है।[84] • असत्य आचरण का अनुस्मरण करना प्रायश्चित्त है।[85] • अपराध होने पर आत्मा मलिन होती है। उसकी विशोधि के लिए जो अनुष्ठान किया जाता है, वह प्रायश्चित्त है।[86] • अपराध एक शल्य है। उसके उद्धरण के लिए जो कृत्य किया जाता है, वह प्रायश्चित्त है।[87]

यदि संक्षेप में कहें तो साधक की वह प्रवृत्ति जिससे पाप कर्म अपना फल दिखाये बिना ही विनष्ट हो जाते हैं उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। सामान्यतया जिस प्रकार राजनीति में अपराध भुगतान के लिए दण्ड का विधान है, उसी प्रकार धर्मनीति में अपराधों से छूटने के लिए प्रायश्चित्त का विधान है।

यदि किंचित गहराई से अवलोकन करें तो यह तथ्य निर्विवादत: स्पष्ट है कि प्रायश्चित्त और दण्ड में महत अन्तर है। अध्यात्म नीति में अपराधी स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण करता है, उसके हृदय में पाप के प्रति तीव्र ग्लानि होती है और प्रायश्चित्त द्वारा स्वयं को हल्का, प्रसन्न एवं पाप मुक्त अनुभव करता है जबकि राजनीति में अपराधी को दण्ड दिया जाता है। वहाँ प्राय: अपराधी स्वकृत भूलों को स्वीकार नहीं करता, कदाच् भूल को भूल मान भी ले तो उसके प्रति पश्चात्ताप या ग्लानि नहीं होती। सम्भवत: ग्लानि हो भी जाये तो वह दण्ड की मांग नहीं करता और दण्ड मिलता भी है तो उसका नीतिपूर्वक आचरण नहीं करता। इस भाँति प्रायश्चित्त और दण्ड में बहुत बड़ा अन्तर है।

मधुकरमुनि श्री मिश्रीलालजी महाराज ने इस सन्दर्भ में व्यापक चिन्तन प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं कि दण्ड अपराधी के मन को झकझोर नहीं सकता, जबकि प्रायश्चित्त दोष सेवी के अन्तर्हृदय को गद्-गद् कर देता है। दण्ड में दण्डदाता की ओर से बलात्कार और भय का भाव बढ़ाया जाता है, इसलिए अपराधी दण्ड पाकर और ज्यादा उद्दण्ड व धृष्ट बन जाता है, जबकि प्रायश्चित्त में गुरुजनों की ओर से करुणा एवं वात्सल्य का भाव दिखाया जाता है। इस कारण दोषी प्रायश्चित्त लेकर भावुक, विनीत एवं निष्कपट बनता है। दण्ड थोपा जाता है, प्रायश्चित्त हृदय से स्वीकार किया जाता है। दण्ड बाहर में अटक कर रह जाता है, वह अन्तरंग को स्पर्श नहीं कर सकता, किन्तु प्रायश्चित्त में उस अपराध से मुक्त होने का संकल्प जगता है और भविष्य में पुनः अपराध न करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होता है।[88]

प्रकार – साधक छद्मस्थ है, इसलिए उसके द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूप से भूल हो जाना स्वाभाविक है। संस्कार एवं परिस्थितियों के अनुसार भूलें अनेक प्रकार की होती हैं। कुछ भूलें सामान्य होती हैं तो किञ्चित असाधारण होती हैं। सामान्य भूलें भी देश-काल व परिस्थिति के कारण असामान्य हो जाती हैं, अतः सभी तरह की भूलों का प्रायश्चित्त एक समान नहीं होता।

भूलों और परिस्थिति के अनुसार प्रायश्चित्त के विविध रूप कहे गये हैं। भगवतीसूत्र और स्थानांगसूत्र में कुल दसविध प्रायश्चित्त का उल्लेख है। उनमें स्थूल रूप से सर्व प्रकार के प्रायश्चित्तों का समावेश हो जाता है। दसविध प्रायश्चित्त का सामान्य वर्णन इस प्रकार है[89]–

1. **आलोचना योग्य** – गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना आलोचना प्रायश्चित्त है। प्रतिदिन के आवश्यक कार्यों जैसे– गमनागमन, भिक्षा, प्रतिलेखन आदि में लगने वाले दोषों को गुरु या ज्येष्ठ साधु के सामने प्रकट करने से उनकी शुद्धि हो जाती है।

2. **प्रतिक्रमण योग्य** – दिवस, रात्रि, पक्ष, महीना और वर्षभर में लगे हुए पापों से निवृत्त होने के लिए मिथ्या दुष्कृत देना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। साधु या गृहस्थ द्वारा पांच समिति, तीन गुप्ति, बारह व्रत, पाँच महाव्रत आदि में लगने वाले दोष 'मिच्छामि दुक्कडं' देने मात्र से दूर हो जाते हैं।

3. **तदुभय योग्य** – जिस दोष की शुद्धि आलोचना एवं प्रतिक्रमण दोनों

से होती है, उस प्रकार का प्रायश्चित्त स्वीकार करना तदुभय प्रायश्चित्त कहलाता है। एकेन्द्रिय आदि जीवों का संघट्टा होने पर उस दोष से निवृत्त होने के लिए यही प्रायश्चित्त लिया जाता है।

4. विवेक योग्य – जिस दोष की शुद्धि किसी वस्तु का त्याग करने से ही हो, उसे विवेक प्रायश्चित्त कहते हैं। जैसे आधाकर्म या औद्देशिक आहार आ जाये तो उसका परिष्ठापन करना ही पड़ता है, ऐसा करने मात्र से पूर्व दोष की विशुद्धि होती है।

5. व्युत्सर्ग योग्य – जिस दोष की विशुद्धि कायोत्सर्ग करने से ही होती है, उसे व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त कहते हैं। जैसे नदी पार करने में, गमनागमन करने में, एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने-जाने में, मल-मूत्रादि का परित्याग करने में असावधानीवश कोई दोष लग गया हो तो उन भिन्न-भिन्न दोषों से मुक्त होने के लिए भिन्न-भिन्न परिमाण में श्वासोश्वास युक्त कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्ग करने मात्र से उन दोषों की विशुद्धि हो जाती है।

6. तप योग्य – जिस दोष की शुद्धि तप करने से होती है, उसके लिए आगमोक्त विधि से तपश्चर्या करना, तप प्रायश्चित्त कहलाता है। सचित्त वस्तु को छूने तथा आवश्यक सामाचारी, प्रतिलेखन, प्रमार्जन आदि नहीं करने से लगने वाले दोषों की शुद्धि के लिए यह प्रायश्चित्त दिया जाता है। इस प्रायश्चित्त को पूरा करने के लिए निर्विकृतिक, आयम्बिल आदि से लेकर छहमासी तप का विधान है।

7. छेद योग्य – जिस दोष की शुद्धि के लिए दीक्षा पर्याय का छेदन किया जाता हो, उसे छेदार्ह प्रायश्चित्त कहते हैं। सचित्त विराधना, प्रतिक्रमण अकरणता आदि के कारण लगने वाले दोषों की शुद्धि के लिए यह प्रायश्चित्त है। इसमें दोषों की न्यूनाधिकता के हिसाब से पाँच दिन से लेकर छह मास तक के दीक्षा पर्याय की न्यूनता करने का विधान है।

8. मूल योग्य – यहाँ मूल का अर्थ है प्रायश्चित्त योग्य मुनि में फिर से महाव्रतों की स्थापना करना अत: दुबारा दीक्षा देने से जिन दोषों की शुद्धि होती है, उसे मूल प्रायश्चित्त कहते हैं।

स्पष्टार्थ है कि छद्मस्थ साधु कभी-कभी इतने गुरुतर दोषों का सेवन कर लेता है कि आलोचना और तप आदि से भी उसकी शुद्धि नहीं हो सकती। उन

दोषों के सेवन से वह चारित्र से सर्वथा भ्रष्ट हो जाता है। जैसे– मनुष्य या पशु आदि की हत्या, शिष्य आदि की चोरी, ब्रह्मचर्य व्रत का भंग आदि मूल (विशिष्ट) दोष माने जाते हैं। इस भाँति के दोषों की शुद्धि हेतु पूर्व गृहीत चारित्र पर्याय का सर्वथा छेद कर फिर से महाव्रतों का आरोपण किया जाता है।

9. अनवस्थाप्य योग्य – मुनि पद पर दुबारा से अवस्थित नहीं करना अनवस्थाप्य कहलाता है। जिस दोष की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त रूप में निर्धारित किया गया विशिष्ट तप जब तक न कर लिया जाये तब तक उस साधु का संघ से सम्बन्ध-विच्छेद रखना तथा उसे पुन: दीक्षा नहीं देना अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त है।

साधर्मिक साधु-साध्वियों की चोरी करना, अन्य तीर्थिक की चोरी करना, गृहस्थ की चोरी करना, परस्पर मारपीट करना आदि स्थितियों में साधु को यह प्रायश्चित्त दिया जाता है।

10. पारांचिक योग्य – जिस महादोष की शुद्धि वेष और क्षेत्र का त्याग कर महातप करने से होती है वह पारांचिक प्रायश्चित्त है।

छेद आगमों के अनुसार कषाय-दुष्ट, विषय-दुष्ट, महाप्रमादी, मद्यपायी, स्त्यानर्द्धि निद्रा में अकल्पनीय कर्मकारी, समलैंगिक विषयसेवी को यह प्रायश्चित्त आता है।[90]

स्थानांगसूत्र के अनुसार गण में फूट डालने, फूट डालने की योजना बनाने, साधु आदि को मारने की भावना रखने, मुनियों के छिद्र-दोष आदि की तलाश करते रहने, बार-बार असंयम के स्थान रूप सावद्य अनुष्ठान की पूछताछ करते रहने पर पाराञ्चिक प्रायश्चित्त आता है।[91]

इस तरह के दोषों की शुद्धि के लिए उसे छह महीने से लेकर बारह वर्ष तक स्वगण, साधुवेष एवं स्वक्षेत्र से पृथक् कर जिनकल्पी साधु की भाँति कठोर तपश्चर्या करने का दण्ड दिया जाता है। निर्धारित दण्ड की अवधि पूर्ण होने के पश्चात पुन: प्रव्रजित कर मुनिसंघ में सम्मिलित किया जा सकता है। मुनि जीवन में यह प्रायश्चित्त सबसे गुरुतर दोष के लिए दिया जाता है।

टीकाकारों का कहना है कि यह दसवाँ प्रायश्चित्त विशेष पराक्रमी आचार्य को ही दिया जाता है। उपाध्याय के लिए नौवें प्रायश्चित्त तक का एवं सामान्य

साधु के लिए आठवें प्रायश्चित्त तक का विधान है। वर्तमान में अधिक से अधिक आठवें प्रायश्चित्त तक देने की विधि है।

महत्त्व – भगवान महावीर ने बताया है कि प्रायश्चित्त करने से जीव पाप कर्म की विशुद्धि करता है और निरतिचार हो जाता है। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त करने वाला मार्ग (सम्यक्त्व) और मार्गफल (ज्ञान) को निर्मल करता है तथा आचार (चारित्र) और चारित्रफल (मुक्ति) की आराधना करता है।[92]

अन्य दृष्टि से वह भावुक और विनम्र बनता है, हृदय में कोमलता के अंकुर फूट पड़ते हैं, वह इहलोक एवं परलोक के विषय में बहुत ही विवेकशील रहता है, नये पापकर्मों के आस्रव निरोध का प्रयास प्रारम्भ हो जाता है इत्यादि कई प्रकार के अच्छे परिणाम जीवन में रूपान्तरित होते हैं।

आलोचना कौन कर सकता है, प्रायश्चित्त करने योग्य गुरु कैसे होते हैं, प्रायश्चित्त किसके पास किया जाना चाहिए, प्रायश्चित्त कब करना चाहिए, प्रायश्चित्त योग्य दोष कौनसे हैं? इत्यादि के सम्बन्ध में शास्त्रों में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। प्रायश्चित्त-विधि खण्ड-10 में उक्त सन्दर्भों पर पर्याप्त प्रकाश डाला जायेगा।

सुस्पष्ट है कि दोष छोटा हो या बड़ा, प्रायश्चित्त से आत्मा दोषमुक्त बन जाती है, क्योंकि आत्मा मूलतः दोषी नहीं है, दोष तो प्रमाद एवं कषाय भाव है। कषाय आदि की उत्पत्ति होती है तो उनकी शुद्धि भी हो सकती है। प्रायश्चित्त तप इसी बात को सिद्ध करता है कि प्रत्येक आत्मा अपने दोषों का प्रक्षालन कर सकती है। इसके लिए कहीं जाने की बजाय हृदय को मांजने की ही जरूरत है।

2. विनय तप

आभ्यन्तर तप का दूसरा भेद विनय है। शास्त्रों में कहा गया है कि 'विणय धम्मो मूलो' विनय धर्म का मूल है। जैन आगम साहित्य में 'विनय' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। वहाँ 'विनय' शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है –

1. आत्मसंयम 2. अनुशासन 3. नम्रता।

स्थानांगसूत्र, भगवतीसूत्र आदि में प्रशस्त मन विनय आदि के भेद बताये गये हैं उनका सम्बन्ध उच्च विचारों एवं मनःसंयम से है जैसा कि मूल पाठ है – **"अप्पा चेव दमेयव्वो**[93] ....." **"वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य।"**[94]

उत्तराध्ययनसूत्र का प्रथम अध्ययन विनय से सम्बन्धित है। उसमें विनय का स्वरूप प्राय: अनुशासनात्मक है। गुर्वाज्ञानुसार वर्तन करना एक प्रकार का अनुशासन कहलाता है। सच्चे गुरु शिष्य हित के लिए कभी मधुर तो कभी कठोर वचन शिक्षा रूप में कहते रहते हैं तब विनीत शिष्य सोचता है[95]–

जं मे बुद्धाणुसासंति, सीएण फरूसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिसुणे।।

सद्गुरु का मधुर एवं कठोर अनुशासन मेरे लाभ के लिए ही है, इसलिए मुझे गुरुवाणी को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए। इस अध्ययन में जगह-जगह पर कहा गया है 'फरूसं पि अणुसासणं',[96] 'अणुसासिओ न कुप्पेज्जा'[97] और भी।

विनय का नम्रता सूचक अर्थ तो जग प्रसिद्ध है। आगमों में विनीत का लक्षण बतलाते हुए स्पष्ट कहा गया है कि "नीयावित्ती अचवले" नीची वृत्ति रखना अर्थात नत होकर रहना चंचलता नहीं करना विनीतता है। आगम टीकाओं में 'विनय' शब्द की फलात्मक व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है–[98]

जम्हा विणयइ कम्मं, अट्ठविहं चातुरंत मुक्खाए।
तम्हा उ वयंति विऊ, विणउत्ति विलीनसंसारा।।
विनीयते- अपनीयतेऽनेन कर्मेति विनयः

जिससे आठ प्रकार के कर्मों का अपनयन होता है, वह विनय है। प्रवचनसारोद्धार टीका में भी इसी तरह की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि[99]– **"विनयति क्लेशकारकमष्टप्रकारं कर्म इति विनयः"** क्लेश उत्पन्न कारक अष्ट कर्मों को जो दूर करता है, वह विनय है। सामान्यतया अभ्युत्थान करना, हाथ जोड़ना, आसन देना, गुरुजनों की भक्ति करना और भावपूर्वक शुश्रुषा करना विनय कहलाता है।[100] भाष्यकारों के मतानुसार विनयोपचार, निरभिमानता, गुरुजनपूजा, अर्हत आज्ञा और श्रुतधर्म की आराधना – ये सभी क्रियाएँ विनय है।[101]

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि विनय तो एक प्रकार का सद्व्यवहार है। इसे तप की श्रेणी में कैसे माना जाये? क्योंकि तप में शरीर व मन दोनों को साधना पड़ता है। विनय में इस तरह की कोई बात नहीं दिखती। दूसरे, गुरुओं के साथ नम्रतापूर्ण व्यवहार करना तो सामान्य शिष्टाचार है, फिर इसे तप की कोटि में कैसे रखा गया है?

आचार्य मधुकर मुनि जी ने इसका सटीक जवाब दिया है कि विनय सिर्फ एक सद्व्यवहार का ही नाम नहीं है। विनय का दायरा बहुत व्यापक है। सद्व्यवहार तो विनय का एक प्रत्यक्ष फल है। विनय का भावार्थ अत्यन्त गहरा है जैसे- यश-प्रतिष्ठा का मोह नहीं रखना, अहंकार को मिटा देना, स्वच्छन्द वृत्ति को संयमित रखना, गुरु की आज्ञानुसार आचरण करना, यह सब विनय की परिभाषा में समाविष्ट होते हैं।[102]

स्वरूपत: विनय एक कठोर मनोनुशासन है, आत्मसंयम की आराधना है, इन्द्रिय विजय की साधना है। आगम ग्रन्थों में विनय तप के भेद-प्रभेदों की विशद चर्चा की गयी है, उनका अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विनय मात्र एक सद्व्यवहार नहीं है प्रत्युत वह आत्मा का दुर्लभ गुण है। उसकी प्राप्ति के लिए संयम, अनुशासन एवं ऋजुता भावों की साधना करनी पड़ती है। इसी दृष्टि से विनय को तप का स्थान दिया गया है।

प्रकार– भगवतीसूत्र[103] स्थानांगसूत्र[104] औपपातिकसूत्र[105] आदि में विनय सात प्रकार का बताया गया है – 1. ज्ञान विनय 2. दर्शनविनय 3. चारित्रविनय 4. मनविनय 5. वचनविनय 6. कायविनय और 7. औपचारिकविनय।

1. ज्ञान विनय – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि पांच ज्ञानों के प्रति भक्ति बहुमान के भाव रखना ज्ञान विनय है अथवा जिन्होंने इन ज्ञानों के माध्यम से भावों को देखा है, तत्त्व को जाना है, उन ज्ञानियों के प्रति श्रद्धाभाव रखना ज्ञानविनय है।[106]

ज्ञानविनय पांच प्रकार का बतलाया गया है – (i) मतिज्ञानविनय, (ii) श्रुतज्ञानविनय, (iii) अवधिज्ञानविनय, (iv) मनःपर्यवज्ञानविनय, (v) केवलज्ञानविनय।

2. दर्शन विनय– सम्यक्दर्शी गुरुजनों का सम्मान करना, सेवा करना एवं सम्यक्त्व के प्रति श्रद्धा रखना दर्शन विनय है। आगम ग्रन्थों में दर्शन विनय के दो प्रकार निरूपित हैं – (i) शुश्रुषा विनय और (ii) अनाशातना विनय।[107]

(i) **शुश्रुषा विनय –** यह विनय अनेक प्रकार से किया जाता है। यथा – **अभ्युत्थान –** गुरुजनों या गुणीजनों के आने पर बहुमानार्थ खड़े होना। **आसनाभिग्रह –** गुरु जहाँ बैठना चाहे वहाँ अथवा उनके बैठने योग्य स्थान पर आसन रखना। **आसन प्रदान –** गुरुजनों को आसन देना। इसी तरह गुरुओं का

सम्मान करना, विधि पूर्वक वन्दन करना, उनके समक्ष करबद्ध नतमस्तक युक्त खड़े रहना, आते हुए गुरुजनों के सामने जाना, जाते हुए गुरुजनों को पहुंचाने जाना आदि शुश्रुषाविनय है।

(ii) **अनाशातना विनय** – देव, गुरु, धर्म की अवहेलना हो वैसा व्यवहार नहीं करना अनाशातनाविनय है। इस विनय के पैंतालीस प्रकार हैं –

1. अरिहन्तों की आशातना नहीं करना 2. तीर्थङ्करों द्वारा प्ररूपित धर्म की आशातना नहीं करना 3. आचार्यों की आशातना नहीं करना 4. उपाध्यायों की आशातना नहीं करना 5. स्थविरों- ज्ञानवृद्ध, चारित्रवृद्ध, वयोवृद्ध श्रमणों की आशातना नहीं करना 6. कुल की आशातना नहीं करना 7. गण की आशातना नहीं करना 8. संघ की आशातना नहीं करना 9. क्रियावान् की आशातना नहीं करना 10. सांयोगिक- जिसके साथ वन्दन, भोजन आदि पारस्परिक व्यवहार हो उस गच्छ के श्रमण या श्रमणी की आशातना नहीं करना। 11-15. मति आदि पांच ज्ञानों की आशातना नहीं करना अनाशातना विनय है।

अर्हत अनाशातना के तीन प्रकार हैं–[108] 1. भक्ति करना 2. बहुमान करना 3. गुणोत्कीर्त्तन करना। इसी प्रकार प्रत्येक के साथ तीन का गुणन करने पर (15×3) अनाशातना विनय के पैंतालीस भेद होते हैं।

3. चारित्र विनय– चारित्रनिष्ठ गुरुजनों या पूज्यजनों का बहुमान करना चारित्रविनय है। चारित्र का विनय पांच प्रकार से किया जा सकता है अतः इस विनय के पांच भेद हैं–[109] (i) सामायिकचारित्र-विनय (ii) छेदोपस्थापनीयचारित्र-विनय (iii) परिहारविशुद्धिचारित्र-विनय (iv) सूक्ष्मसम्परायचारित्र-विनय (v) यथाख्यातचारित्र-विनय।

उक्त पांच प्रकार के चारित्रधारी आत्माओं के प्रति आदर भाव आदि रखना चारित्र-विनय है।

4. मन विनय– मन पर अनुशासन रखना मनोविनय है। यह विनय दो प्रकार का कहा गया है–[110] (i) प्रशस्त मनोविनय (ii) अप्रशस्त मनोविनय।

(i) प्रशस्त मनोविनय– मनस् केन्द्र को पवित्र, निर्दोष, अक्रिय (दुष्ट क्रियारहित), अक्लेशकारक, अकटुक (मधुर), अनिष्ठुर (कोमल), अपरुष (स्निग्ध), अछेदकर, अभेदकर, अभूतोपघातिक (अहिंसक) विचारों से भावित रखना प्रशस्त मनोविनय है।

(ii) अप्रशस्त मनोविनय – उपर्युक्त विचारों से ठीक विपरीत सदोष, सक्रिय, क्लेशकारक, छेदकर, भेदकर आदि से मन को भावित करना अप्रशस्त मनोविनय है।

5. वचन विनय- वाणी पर संयम रखना, वचन विनय है। यह विनय भी पूर्ववत दो प्रकार का बताया गया है[111]– (i) प्रशस्तवचन-विनय (ii) अप्रशस्तवचन-विनय।

प्रशस्त-अप्रशस्त मन की भाँति ही प्रशस्त-अप्रशस्त वचन समझना चाहिए। जैसे मन सुन्दर और सुखकारी होता है उसी तरह वचन भी मधुर एवं प्रिय होने चाहिए।

6. कायविनय– आचार्य आदि गमनागमन या वाचना आदि देने से परिश्रान्त हो जायें, उस समय उन्हें सिर से पैर तक दबाना अथवा उपयोगपूर्वक शारीरिक प्रवृत्ति करना काय विनय है।

काय-विनय भी दो प्रकार का बतलाया गया है[112]– (i) प्रशस्तकाय-विनय (ii) अप्रशस्तकाय-विनय।

(i) प्रशस्तकाय-विनय – सावधानीपूर्वक चलना, सावधानीपूर्वक बैठना, सावधानीपूर्वक खड़े होना आदि समस्त प्रवृत्तियाँ जागरुकतापूर्वक करना प्रशस्तकाय-विनय है।

(ii) अप्रशस्तकाय-विनय – शरीर-सम्बन्धी समस्त प्रवृत्तियों को अनुपयोगपूर्वक करना, अप्रशस्तकाय-विनय है।

7. लोकोपचार विनय– लोकव्यवहार में प्रचलित विनय औपचारिक कहलाता है। इसके सात प्रकार हैं[113] – (i) **अभ्यासवृत्तिता** – सदा आचार्य के समीप रहना (ii) **छन्दानुवृत्तिता** – आचार्य आदि पूज्यजनों के अभिप्राय का अनुवर्त्तन करना (iii) **कार्यनिमित्तकरण** – विद्या आदि कार्य की सिद्धि के लिए आचार्य या जिनसे विद्या प्राप्त की जा रही है उनके चित्त को प्रसन्न रखना (iv) **कृत प्रतिक्रिया** – अपने प्रति किये गये उपकारों के लिए कृतज्ञता अनुभव करते हुए सेवा-परिचर्या करना (v) **दुःख की गवेषणा** – रुग्णता, वृद्धावस्था से पीड़ित गुरुजनों की सार-सम्हाल करना तथा औषधि आदि द्वारा सेवा करना (vi) **देशकालज्ञता** – देश तथा काल को ध्यान में रखते हुए ऐसा आचरण करना, जिससे अपना मूल लक्ष्य व्याहत न हो (vii) **सर्वार्थअनुलोमता** – सब

प्रकार के प्रयोजनों की सिद्धि के लिए अनुकूल वर्तन करना यह– लोकोपचार विनय है।

विनय के अन्य प्रकार– दशवैकालिकनिर्युक्ति में विनय के दो प्रकार निर्दिष्ट हैं – (i) ग्रहणविनय-ज्ञानात्मकविनय, (ii) आसेवनाविनय-क्रियात्मकविनय।[114]

विशेषावश्यकभाष्य में विनय के पाँच प्रकार बताये गये हैं[115]–

(i) **लोकोपचार विनय–** माता-पिता, अध्यापक आदि का विनय करना (ii) **अर्थ विनय –** धन आदि अर्जित करने के लिए सेठ, मैनेजर आदि का विनय करना (iii) **काम विनय –** कामवासना की पूर्ति हेतु स्त्री आदि की प्रशंसा करना (iv) **भय विनय –** अपराध होने पर अधिकारी व्यक्ति का विनय करना (v) **मोक्ष विनय –** आत्मकल्याण हेतु सद्गुरु आदि का विनय करना।

उक्त चार प्रकार के विनय में सांसारिक इच्छा पूर्ति की प्रधानता है और अन्तिम मोक्ष विनय में एकान्त निर्जरा का भाव है।

महत्त्व – जैन संस्कृति में विनय को धर्म का मूल बताया गया है। इससे प्रमाणित होता है कि विनय हमारे समस्त जीवन व्यवहार एवं धार्मिक आचरणों की मूल पृष्ठभूमि है। व्यावहारिक और आध्यात्मिक जीवन विनय के आधार पर ही टिका हुआ है। विनय से रहित व्यवहार धर्म का पालन भी नहीं हो सकता। आचार्य हरिभद्र ने विनय महिमा का संगान करते हुए कहा है[116]– विनय जिनशासन (द्वादशाङ्ग) का मूल है, विनीत ही संयम की आराधना कर सकता हैं जो विनय से शून्य है वह कैसे धर्म की आराधना कर सकता है और कैसे तप की? इसका सारांश यह है कि विनीत ही धर्म, तप व संयम की आराधना कर सकता है।

आचार्य शय्यंभवसूरि लिखते हैं कि धर्म का मूल विनय है और उसका परम फल मोक्ष है। विनय के द्वारा साधक कीर्ति, प्रशंसा, श्रुत और समस्त इष्ट तत्त्वों को प्राप्त करता है।[117] भगवान महावीर ने कहा है जो विनीत गुणों को प्राप्त करता है उसकी संसार में कीर्ति, यश एवं प्रतिष्ठा बढ़ती है।[118]

विनयशील को विश्व के समस्त गुण, समस्त विद्याएँ और सभी सम्पत्तियाँ स्वयं आकर प्राप्त करती हैं। विद्या विनयगुण को पाकर स्वयं को वैसे ही अलंकृत समझती है। जैसे सुशील कन्या सत्पुरुष का वरण कर स्वयं को सुशोभित मानती है। इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है कि– **"विवत्ती**

अविणीयस्स संपत्ती विणियस्स य।''

अविनीत को सब विपत्तियाँ घेरे रहती है और सुविनीत को सब सम्पत्तियाँ।[119] विनय की महिमा में इससे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि ज्ञानी का विनय करने से संघ में ज्ञान का अभिवर्द्धन होता है, ज्ञान का आदर होता है। दर्शन विनय का आचरण करने से व्यक्ति शिष्ट, सभ्य एवं सद्व्यवहारी बनता है।

स्थानांगसूत्र में विद्यादान के तीन अधिकारियों में एक विनीत माना गया है।[120] अविनीत को विद्या देना भी अपराध माना गया है। इसका अर्थ यह है कि अविनीत जीवन में सद्गुण प्राप्त नहीं कर सकता। सद्गुण एवं सद्ज्ञान प्राप्ति के लिए विनयशील बनना परमावश्यक है। एक जगह कहा है – **''विनयायत्ताश्च गुणाः सर्वे''** समस्त गुण विनय के अधीन रहते हैं। इससे भी बढ़कर लिखा गया है – **''सकलगुण भूषा च विनयः।''** समस्त गुणों का शृंगार विनय ही है।

सार रूप में कहा जा सकता है कि जैसे पृथ्वी समस्त जीवों का आधार है वैसे ही समस्त सद्गुणों का आधार विनय है।[121] जैसे चन्दन की महिमा सुगन्ध से है, चन्द्रमा का गौरव सौम्यता से है, अमृत का महत्त्व मधुरता से है वैसे ही मनुष्य का गौरव विनय गुण के कारण है।[122]

3. वैयावृत्त्य तप

यह आभ्यन्तर तप का तीसरा भेद है। वैयावृत्त्य का प्रचलित अर्थ है – सेवा, शुश्रुषा।

टीकाकारों के अभिमतानुसार धर्म-साधना में सहयोग करने के लिए संयमी को शुद्ध, आहार, औषध आदि प्रदान करना तथा उसके अन्य कार्यों में सहयोग देना वैयावृत्य कहलाता है।[123]

सीधे शब्दों में कहें तो गुरुजनों या पूज्यजनों के आवश्यक कार्यों को योग पूर्वक सम्पन्न करना वैयावृत्य कहलाता है। निश्चय दृष्टि से तीर्थङ्कर परमात्मा की आज्ञा का अनुसरण करना, वैयावृत्य है। शास्त्रों में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है **''आणाए धम्मो आणाए तवो''** अर्थात आज्ञा ही धर्म है और आज्ञा ही तप है। अतः वास्तव में परमात्म पथ का अनुगमन करना ही वैयावृत्य है।

यहाँ प्रश्न होता है कि वैयावृत्य कौन कर सकता है ? प्रत्येक मानव के

लिए यह कार्य सहज सम्भव नहीं है क्योंकि इस तप-साधना में मन, वचन और काया तीनों को जुटाना होता है। इसका समाधान करते हुए भाष्यकारों ने कहा है कि जो व्यक्ति आलसी, बहुभोजी, निद्रालु, तपस्वी, क्रोधी, अहंकारी, मायावी, लोभी, कुतूहलप्रिय और सूत्र-अर्थ में प्रतिबद्ध हो उसे सेवा कार्य में नियोजित नहीं करना चाहिए; किन्तु जो उपर्युक्त दोषों से मुक्त है, गीतार्थ है, शील और आचार का ज्ञाता है, गुरुभक्त है, बाह्य उपचार को जानता है, वह वैयावृत्य करने का अधिकारी है।[124]

इस वर्णन से सिद्ध होता है कि यह एक दुष्कर तप है। इस तप की आराधना अप्रमत्त साधक ही कर सकता है।

प्रकार– यहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि दुनियाँ में तो अनन्त प्राणी हैं, किन्तु तपाराधना की दृष्टि से किनकी सेवा-शुश्रुषा करनी चाहिए, जिससे शाश्वत फल की प्राप्ति की जा सके?

जैनाचार्यों ने इस सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए वैयावृत्य के योग्य दस प्रकार बतलाये हैं। सामान्यतया प्राणिमात्र की सेवा करना, प्रत्येक जीव को समाधि पहुंचाना जैन धर्म का लक्ष्य है, किन्तु यह विशाल लक्ष्य तभी सफल हो सकता है, जब पहले हम अपने निकटतम व्यक्तियों के प्रति सेवा भाव को क्रियान्वित करें। परिवार या पड़ोसी को कष्टदायक स्थिति में छोड़कर विश्व सेवा की बात करना, एक प्रकार से सेवा की विडम्बना है। इसलिए जैन धर्म का आदर्श है कि सेवा का प्रारम्भ अपने जीवन के निकटतम सहयोगियों, अपने उपकारियों एवं साधर्मीजनों से करनी चाहिए। इस दृष्टि से सेवा के दस स्थान कहे गये हैं, जो निम्न हैं –

1. आचार्य 2. उपाध्याय 3. स्थविर 4. तपस्वी 5. रोगी 6. नवीन दीक्षित मुनि 7. कुल (एक आचार्य के शिष्यों का समुदाय) 8. गण (एक से अधिक आचार्यों के शिष्यों का समुदाय) 9. संघ (कई गणों का समूह) 10. साधर्मिक (समान धर्म वाले मुनि या गृहस्थ)।[125] इन दस को आवश्यकता होने पर आहार आदि करवाना, शयनपट्ट की व्यवस्था करना, आसन देना, उनके उपधि की प्रतिलेखना करना, उनके पाँव पोंछना, रुग्ण होने पर निर्दोष औषधि का प्रबन्ध करना, अत्यन्त वृद्ध या असमर्थ को चलने, बैठने व उठाने में सहारा देना, अग्लान भाव से मल-मूत्रादि साफ करना। इस तरह जिसे जिस प्रकार के सेवा

की आवश्यकता हो, उसे तद्योग्य सेवा से लाभान्वित करना वैयावृत्य कहा जाता है।

वैयावृत्य की विधि – सेवा एक विराट् धर्म है, इसका अर्थ अत्यन्त व्यापक है, इसकी विधि बहुत सूक्ष्म है। हर व्यक्ति इस धर्म का निर्वाह सम्यक् रूप से नहीं कर सकता है। इसके लिए सर्वप्रथम विवेक का होना आवश्यक है। जैसे कि अमुक व्यक्ति को यह जरूरत है, अमुक व्यक्ति के लिए इस प्रकार का सेवा कार्य आवश्यक है, अमुक व्यक्ति मेरे बोलने मात्र से सन्तुष्ट या स्वस्थ हो सकता है आदि। यह नहीं कि प्रसंग की आवश्यकता कुछ और ही हो और सेवा कुछ अन्य प्रकार से की जाये। पूर्वाचार्यों ने समय को ध्यान में रखते हुए सेवा के अनेक रूप बतलाये हैं जैसे - पूर्वोक्त दस को जरूरत होने पर आहार देना, पानी देना, संस्तारक देना, आसन बिछाना, गुरुजनों के लिए उनके योग्य सामग्री जुटाना, रुग्ण मुनियों के लिए दवा आदि का प्रबन्ध करना, किसी ने अपराध कर लिया हो तो उसकी विशुद्धि करवाना। इस तरह सेवा की कई विधियाँ है।[126]

सेवा-विधि का दूसरा नियम यह है कि सेवा करते वक्त सेवाभावी के मन में रोगी के प्रति घृणा या ग्लानि नहीं होनी चाहिए, क्योंकि यदि रुग्ण उस स्थिति से परिचित हो जाये तो उसे शान्ति के स्थान पर मानसिक अशान्ति हो सकती है। सेवा-विधि का तीसरा नियम यह है कि सेवा करने वाला स्वयं को हीन एवं असहाय न समझे। वह प्रसन्नचित्त योग से इस कृत्य का निर्वाह करे।

सेवा-विधि का सर्वोच्च नियम है कि वह बिना किसी स्वार्थ या अपेक्षा पूर्ति के मनोभाव से की जाये। यथार्थ सेवा में किसी तरह के प्रतिफल की भावना का उद्वेग ही नहीं होता। शास्त्रों में नन्दिषेण मुनि की सेवा आदर्श रूप मानी गयी है। उनके जीवन चरित्र में सेवा के विविध आयाम देखने-सुनने को मिलते हैं।

महत्त्व– जैन धर्म में सेवा कर्म को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। इस तपोकर्म के पीछे मुख्यत: "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" की भावना छुपी हुई है। सामान्यतया प्राणिमात्र में ही परस्पर उपकार की भावना रहती है। आचार्य उमास्वाति ने जीव का लक्षण यही बतलाया है। वे तत्त्वार्थसूत्र में कहते हैं[127] "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" अर्थात जीवों में परस्पर एक-दूसरे का सहयोग व उपकार करने की वृत्ति रहती है। एक-दूसरे के सहयोग के बिना कोई जीवित नहीं

रह सकता। यह वृत्ति छोटे से छोटे जीवों में भी देखी जा सकती है। जैसे– चींटियाँ दल बनाकर चलती हैं, मधुमक्खियों का संगठन तो विश्व प्रसिद्ध है, उनमें राजा और रानी भी होते हैं। मधुमक्खियों के आरक्षकों का कथन है कि उनमें मानव की भाँति ही राजव्यवस्था होती है। वनों में पशुओं के भी बड़े-बड़े झुण्ड होते हैं। पक्षीगण भी समूह में रहते हैं और एक-दूसरे का सहयोग भी करते हैं। कहने का अर्थ यह है कि सेवा प्रत्येक प्राणी का निजी धर्म है, आवश्यक कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य की परिपालना से पारिवारिक जगत हो या सामाजिक, भौतिक जगत हो या आध्यात्मिक अपरिकल्पित ऊँचाइयों को छुआ जा सकता है। अत: ज्ञानियों ने इसे 'तप' की श्रेणी में स्थान दिया है।

इस तपो धर्म का सर्वाधिक महत्त्व यह है कि इससे तीर्थङ्कर नाम गोत्र कर्म का उपार्जन होता है। इस विश्व में दो पद सर्वोत्कृष्ट हैं– भौतिक ऐश्वर्य की दृष्टि से चक्रवर्ती का और आध्यात्मिक ऐश्वर्य की दृष्टि से तीर्थङ्कर का। चक्रवर्ती विश्व का सबसे बड़ा सम्राट् होता है और तीर्थङ्कर विश्व के अद्वितीय पुरुष होते हैं।

एक बार भगवान महावीर से गौतम प्रभु ने प्रश्न किया कि वैयावृत्य के द्वारा आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है ? भगवान ने उत्तर दिया –

"वेयावच्चेण तित्थयर नाम गोयं कम्मंनिबंधेइ"

वैयावृत्य करने से आत्मा तीर्थङ्कर नाम गोत्र कर्म का बन्धन करती है।[128] ज्ञाताधर्मकथासूत्र में तीर्थङ्कर कर्मोपार्जन के बीस उपाय बताये गये हैं। उनमें आठ कारण तो सेवा से ही सम्बन्धित है।[129] इससे स्पष्ट होता है कि धर्माराधना के क्षेत्र में सेवा का कितना बड़ा महत्त्व है। इन्हीं बीस स्थानों को दिगम्बर आचार्यों ने सोलह कारण भावनाएँ बताई हैं और उनमें भी वैयावृत्य, विनय एवं वत्सलता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भगवान् ऋषभदेव के पुत्र भरत और बाहुबली के जीवन चरित्र से यह भी स्पष्ट होता है कि सेवा से लोकोत्तर बल व लौकिक वैभव की प्राप्ति भी सहज होती है।

उत्तराध्ययनसूत्र में वैयावृत्य का फल बताते हुए कहा गया है कि गुरु और साधर्मिक की शुश्रुषा से जीव विनय को प्राप्त करता है। विनय प्राप्ति से गुरु का अविनय या परिवाद नहीं होता, उसके परिणामस्वरूप वह नरक गति, तिर्यञ्च गति तथा मनुष्य और देव-सम्बन्धी दुर्गति का निरोध करता है, पूज्यों की भक्ति,

प्रशंसा और बहुमान के द्वारा सहगति का सर्जन करता है। साथ ही विनयमूलक सब प्रशस्त कार्यों को सिद्ध करता है और दूसरे अनेक व्यक्तियों को विनय पथ पर अग्रसर करता है।[130]

ओघनिर्युक्तिकार ने कहा है कि जो मुनि आहार, औषधि, उपधि आदि के द्वारा साधुओं की वैयावृत्य करता है, वह लाभांतराय कर्म को क्षीण करता है। वह पाद प्रक्षालन, मर्दन आदि सेवा-कार्यों से साधुओं की चित्तसमाधि में योगभूत बनता है तथा स्वयं सर्व समाधि को प्राप्त करता है।[131]

जैन परम्परा में ग्लान सेवा पर सबसे अधिक जोर दिया गया है। प्रसंग आता है कि एक बार गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा कि एक साधक रात-दिन आपके चरणों में उपस्थित है और दूसरा साधक रोगी, वृद्ध, तपस्वी आदि की सेवा करता है तो इन दोनों में श्रेष्ठ कौन? तब प्रभु ने कहा[132]–

जो गिलाणं पडियरइ, सो मं पडिअरति।
जो मं पडिअरति, सो गिलाणं पडियरति।।

जो ग्लान की सेवा करता है वही वास्तव में श्रेष्ठ है, क्योंकि वह मेरी सेवा करता है। जो मेरी सेवा करता है वह ग्लान की सेवा करता है। यहाँ सेवा का तात्पर्य आज्ञा से है। यह सुनकर गौतमस्वामी को परम आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे – कहाँ एक ओर विश्ववन्द्य अरिहन्त परमात्मा की सेवा भक्ति और कहाँ दूसरी ओर एक रुग्ण साधु की परिचर्या? दोनों में महान् अन्तर होने पर भी भगवान् अपनी सेवा भक्ति से भी बढ़कर रोगी की सेवा को महत्त्व दे रहे हैं इसका कारण क्या ? गौतम स्वामी ने पुनः पूछा तो प्रभु ने जवाब दिया – गौतम! शरीर की सेवा का कोई मूल्य नहीं होता, मूल्य होता है आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने का। शास्त्र वचन है "आणाराहणं खु जिणाणं" जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञा का पालन करना। यही सबसे बड़ा धर्म और सबसे बड़ी सेवा है।

संक्षेप में सेवा का अप्रतिपाति लाभ है। इसलिए उत्तम गुणों से युक्त साधुओं की वैयावृत्य अवश्य करनी चाहिए।

4. स्वाध्याय तप

श्रुत ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन करना स्वाध्याय कहलाता है। जैन टीकाकारों ने स्वाध्याय शब्द के भिन्न-भिन्न निरूक्त अर्थ किये हैं।

स्थानांगटीका में स्वाध्याय की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि

"सुष्ठु आ मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः"– सत शास्त्रों का मर्यादा (विधि) पूर्वक अध्ययन करना स्वाध्याय है।[133]

आवश्यकटीका के अनुसार **"अध्ययनं अध्यायः शोभनो अध्यायः स्वाध्यायः"** श्रेष्ठ अध्ययन का नाम स्वाध्याय है।[134]

कुछ विद्वानों ने स्वाध्याय शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए बतलाया है – **"स्व स्व स्वस्मिन् अध्यायः-अध्ययनं स्वाध्यायः"** स्वयं के द्वारा स्वयं का अध्ययन करना, आत्मचिन्तन करना स्वाध्याय है।[135]

आवश्यकचूर्णि के अनुसार स्वाध्याय श्रुतधर्मरूप है तथा सामायिक से द्वादशांगपर्यन्त आगमों का परिशीलन करना स्वाध्याय है।[136]

टीकाकार शान्त्याचार्य ने स्वाध्याय का निरूक्त करते हुए कहा है कि **"प्रवचनं श्रुतमित्यर्थस्तद्धर्मः स्वाध्यायः"** अर्थात प्रवचन का अर्थ श्रुत है उस श्रुतधर्म का आचरण करना स्वाध्याय है।[137]

इन परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि स्वयं का चिन्तन करना एवं सम्यक् शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय है।

प्रकार– जैनागमों में स्वाध्याय के पांच रूप बताये गये हैं जो निम्न हैं–[138]

1. वाचना – आचार्य या सद्गुरु के मुख से सूत्र-पाठ ग्रहण कर यथावत उसका उच्चारण करना और सूत्र आदि का अर्थ सुनना एवं जानना वाचना कहलाता है।

2. पृच्छना – अज्ञात विषय की जानकारी हेतु या ज्ञात विषय की विशेष जानकारी के लिए प्रश्न करना, सूत्र-अर्थ पर चिन्तन-मनन करना एवं अनिर्णीत विषयों का समाधान पाना, पृच्छना स्वाध्याय है।

3. परिवर्तना – परिचित या कण्ठस्थ सूत्रों एवं विषयों को स्थिर रखने के लिए उसे बार-बार दोहराना, परिवर्तना स्वाध्याय है। इस स्वाध्याय को अपनाने से अधीत ज्ञान विस्मृत नहीं होता।

4. अनुप्रेक्षा – परिचित, कण्ठस्थ एवं स्थिर सूत्र-अर्थादि का तात्त्विक दृष्टि से गम्भीर चिन्तन करना, अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है। इस स्वाध्याय से ज्ञान की सूक्ष्मता बढ़ती है और उसके नवीन रहस्य उद्घाटित होते हैं। फलतः स्वाध्याय रुचि एवं श्रद्धा प्रगाढ़ होती है।

5. धर्मकथा – वाचना गृहीत पृच्छना आदि द्वारा पर्यालोचित एवं अनुप्रेक्षा द्वारा स्थिरीकृतविषय का उपदेश करना धर्मकथा स्वाध्याय है।

स्वाध्याय का अन्तिम भेद मधुमक्खी की प्रक्रिया जैसा है। मधुमक्खी विविध रंगों के सुवासित फूलों का रस लेती है, किन्तु अपनी सामर्थ्य से वह इस प्रकार का संतुलन स्थापित करती है कि उन रसों में से निर्मित मधु विविध प्रकार का नहीं होता, उसके रंग और उसकी मधुरता में सादृश्य होता है उसी प्रकार धर्मकथा में इससे पूर्व के वाचना आदि प्रकारों का निचोड़ होता है और वह स्व-पर कल्याण में हितकारी बनता है।

स्वाध्याय के नियम – अनुभवी साधकों ने स्वाध्याय के कुछ नियम बतलाये हैं जिनके परिपालन से स्वाध्याय आत्मस्थ एवं मोक्ष फलदायी होता है। वे नियम इस प्रकार हैं[139]–

(i) एकाग्रता – श्रुत शास्त्रों का अध्ययन करते समय मन की एकाग्रता होना अत्यावश्यक है। मानसिक या कायिक चंचलता से सूत्रार्थ हृदयंगम नहीं हो सकता है।

(ii) नैरन्तर्य – स्वाध्याय नियमित करना चाहिए, अनियमित स्वाध्याय से शास्त्रज्ञान न परिणत होता है और न ही स्थिर बनता है।

(iii) विषयोपरति – स्वाध्याय करते वक्त चित्तवृत्ति को विषय-वासना व कषाय-कामना से उपरत रखना चाहिए, तभी शास्त्र पाठ धारणा रूप होते हैं।

(iv) उत्साह – स्वाध्याय के दरम्यान साधक के भीतर आत्मविश्वास का यह निरन्तर दीपक प्रज्वलित रहना चाहिए कि मेरी अन्तर आत्मा में शाश्वत प्रकाश प्रसरित हो रहा है, शुभ संकल्प फलीभूत हो रहा है।

(v) स्थान – स्वाध्याय हेतु शान्त, एकान्त एवं स्वच्छ स्थान होना जरूरी है।

इसी तरह स्वाध्यायी अल्पनिद्रालु, अल्पभाषी, सात्त्विक, आहारसेवी आदि कई गुणों से समन्वित होना चाहिए।

महत्त्व – आभ्यन्तर तप में स्वाध्याय का चतुर्थ स्थान है, किन्तु इसका मूल्य विविध दृष्टियों से स्वीकारा गया है। जिस प्रकार दैहिक विकास के लिए व्यायाम और भोजन आवश्यक है, उसी प्रकार आत्म परिष्कार एवं बौद्धिक विकास के लिए स्वाध्याय जरूरी है। एक विचारक के अनुसार "पुस्तकें ज्ञानियों

की जीवित समाधि है।'' सतशास्त्रों के अध्ययन से जीवन चरम लक्ष्य तक पहुंच जाता है। नीतिवाक्य में इसे तीसरा नेत्र कहा गया है।[140]

भगवान महावीर ने उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि–

''सज्झाएवा निउत्तेण सव्वदुक्खविमोक्खणो''

स्वाध्याय करते रहने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है तथा जन्म-जन्मान्तरों में सञ्चित हुए कर्म नष्ट हो जाते हैं।[141] स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है।[142] इससे अज्ञानरूपी अन्धकार का विलय होता है और शाश्वत सत्य का दर्शन होता है। चन्द्रप्रज्ञप्ति आगम में भी स्वाध्याय फल के सम्बन्ध में यही बात कही गयी है कि इससे अनेक भवों में सञ्चित दुष्कर्म क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं।[143]

जैनागमों में तो स्वाध्याय को सबसे बड़ा तप बतलाते हुए इतना तक कहा है कि **''न वि अत्थि न वि अ होही सज्झाय समं तवोकम्मं''** अर्थात स्वाध्याय स्वयं में एक अद्‌भुत तप है। इस तप की समानता करने वाला न अतीत में कोई तप हुआ है, न वर्तमान में है और न भविष्य में कभी होगा।[144]

स्वाध्याय के पांच प्रकारों का महत्त्व दर्शाते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि वाचना से मुनि शिष्यों को श्रुत देने में प्रवृत्त होता है और श्रुतधर्म के अवलम्बन से संसार व कर्मों का अन्त करता है। पृच्छना नामक स्वाध्याय से जीव सूत्र, अर्थ और उन दोनों से सम्बन्धित सन्देहों का निराकरण करता है और कांक्षा मोहनीय कर्म का विनाश करता है। परावर्तना स्वाध्याय से यह आत्मा स्मृत को परिपक्व और विस्मृत को याद करता है तथा व्यञ्जनलब्धि को प्राप्त करता है। अनुप्रेक्षा स्वाध्याय से यह जीव कर्म के गाढ़ बन्धन को शिथिल करता है, दीर्घकालीन कर्म-स्थिति का अल्पीकरण करता है, तीव्र कर्म-विपाक मन्द हो जाते हैं, प्रदेश-परिमाण को न्यून करता है, असाता वेदनीय कर्म के उपचय का अभाव होता है और संसार घटता जाता है। धर्मकथा स्वाध्याय से जीव कर्मों को क्षीण करता हुआ प्रवचन की प्रभावना करता है और कल्याणकारी फल देने वाले कर्मों का अर्जन करता है।[145]

इससे भी बढ़कर मुनि जैसे-जैसे अपूर्व और अतिशय रसयुक्त श्रुत का अवगाहन करता है वैसे-वैसे संवेग के नये-नये स्रोत उपलब्ध होते हैं, जिससे उसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है।[146] दशवैकालिकसूत्र में विनय, श्रुत,

तप एवं आचार ऐसे चार समाधि का वर्णन किया गया है उनमें श्रुत समाधि का स्थान द्वितीय है। इसका तात्पर्य यह है कि श्रुत समाधि होने पर ही तप और आचार समाधि हो सकती है और बिना स्वाध्याय के श्रुत समाधि नहीं हो सकती।[147]

स्थानांगसूत्र में स्वाध्याय का माहात्म्य दर्शाते हुए निर्दिष्ट किया है कि 1. स्वाध्याय से श्रुत का संग्रह होता है 2. शिष्य श्रुतज्ञान से उपकृत होता है 3. ज्ञान के प्रतिबन्धित कर्म निर्जरित होते हैं 4. अभ्यस्त श्रुत विशेष रूप से स्थिर होता है।[148]

आचार्य अकलंक ने पूर्व सन्दर्भों का समर्थन करते हुए कहा है कि 1. स्वाध्याय से बुद्धि निर्मल होती है 2. प्रशस्त अध्यवसाय की प्राप्ति होती है 3. संशय का उन्मूलन होता है 4. परवादियों की शंकाओं के निरसन की शक्ति प्राप्त होती है 5. तप-त्याग की वृद्धि होती है और 6. अतिचारों की शुद्धि होती है।[149]

वैदिक ग्रन्थों में भी स्वाध्याय को तप की कोटि में रखते हुए कहा गया है कि "तपोहि स्वाध्याय:।"[150]

वहाँ "स्वाध्यायान् मा प्रमद:" ऐसा उपदेश वचन भी कहा गया है इसलिए स्वाध्याय में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए।[151] जैसे दीवार की बार-बार घुटाई करने से वह चिकनी हो जाती है फिर उसके सामने जो भी प्रतिबिम्ब आता है वह उसमें झलकने लगता है वैसे ही स्वाध्याय से मन इतना निर्मल एवं पारदर्शी बन जाता है कि शास्त्रों का रहस्य उसमें प्रतिबिम्बित होने लग जाता है। आचार्य पतञ्जलि ने तो इतना तक कहा है कि "स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोग:" स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है।[152] यहाँ स्वाध्याय को जप के रूप में लिया गया है।

यदि स्वाध्याय के सम्यक् परिणामों के विषय में चिन्तन करते हैं तो परिज्ञात होता है कि स्वाध्याय से सद्विचारों का आविर्भाव होता है, सतसंस्कार जागृत होते हैं, प्राचीन ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि होती है, पूर्वाचार्यों का अनुभवजन्य ज्ञान सहज रूप से आत्मसात होता है, आत्मिक योग्यता विकसित होती है, जैसे अग्नि से स्वर्ण की मलिनता दूर होती है वैसे ही स्वाध्याय से मन का मालिन्य दूर होता है, सम्यग्दर्शन की शुद्धि और चारित्र की संवृद्धि होती है।

5. ध्यान तप

ध्यान शब्द 'ध्येय चिन्तायाम्' धातु से निष्पन्न है। शब्दोत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान का अर्थ चिन्तन है, किन्तु परम्परा प्राप्त अर्थ की दृष्टि से ध्यान का अर्थ– चित्त को एक विषय पर स्थिर करना है। आचार्य उमास्वाति ने ध्यान का उक्तार्थ निरूपित करते हुए कहा है – ''एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानम्'' एकाग्र चिन्तन पूर्वक मन, वाणी और काया का निरोध करना ध्यान है।[153]

ध्यान का सीधा सा अर्थ है – मन की एकाग्रता। आचार्य हेमचन्द्र ने पूर्व मतों का समर्थन करते हुए कहा है कि ''ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेक प्रत्यय संतति:'' अपने विषय में मन का एकाग्र हो जाना ध्यान है।[154] आचार्य भद्रबाहु ने भी इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए लिखा है कि ''चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं'' चित्त को किसी भी विषय पर स्थिर करना, एकाग्र करना ध्यान है।[155]

जैन परम्परानुसार इन परिभाषाओं का गूढ़ार्थ यह है कि केवल मन की एकाग्रता ही ध्यान नहीं है अपितु शरीर, वाणी और मन की एकाग्र प्रवृत्ति अथवा निष्प्रपकम्प स्थिति ध्यान है। शरीर और वाणी की स्थिरता होने पर ही मन स्थिर होता है। चौदहवाँ गुणस्थानवर्ती जीव शैलेषीकरण में क्रमश: शरीर, वाणी और मन का निरोध कर सर्व कर्मों से मुक्त बनता है।

आचार्य पतञ्जलि ने मन की एकाग्रता को ही ध्यान कहा है।[156] उन्होंने एकाग्रता और निरोध ये दोनों लक्षण चित्त के ही माने हैं। विसुद्धिमग्ग के अनुसार भी ध्यान मानसिक एकाग्रता से सम्बन्धित है,[157] पर जैनाचार्यों की इस सम्बन्ध में पृथक धारणा रही है। उन्होंने ध्यान को सिर्फ मानसिक न कहकर वाचिक और कायिक भी माना है। पतञ्जलि ने जिसे सम्प्रज्ञात समाधि कहा है, वह जैन परिभाषा में शुक्लध्यान का पूर्व चरण है[158] तथा जिसे असम्प्रज्ञात समाधि कहा है, उसे जैन परम्परा में शुक्लध्यान का उत्तरचरण कहा है।[159] केवलज्ञानी का ध्यान निरोधात्मक होता है, किन्तु छद्मस्थ संसारी जीवों का ध्यान एकाग्रतात्मक और निरोधात्मक दोनों प्रकार के होते हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि जब मन, वचन और काया तीनों योग की एकाग्रता ध्यान है तब ग्रन्थों में 'मन की एकाग्रता' इस कथन पर बल क्यों दिया गया है? जैनाचार्यों ने चित्त एकाग्रता, मानसिक एकाग्रता जैसे शब्दों को ही प्रमुखता क्यों दी? आचार्य भद्रबाहु ने इस प्रश्न का समाधान देते हुए कहा है–[160] शरीर में

वात, पित्त और कफ ये तीन धातुएँ हैं। इनमें से जो प्रचुर होता है, उसी का व्यपदेश किया जाता है। जैसे वायु कुपित होने पर 'वायु कुपित है' ऐसा कहा जाता है। उसका तात्पर्य यह नहीं कि पित्त और श्लेष्म ठीक है। इसी तरह मन की एकाग्रता ध्यान है, यह परिभाषा भी प्रधानता को संलक्ष्य में रखकर की गयी है। स्पष्टार्थ है कि मन सहित काया और वाणी को जब एकरूपता मिलती है तब वह पूर्ण ध्यान कहलाता है।

यहाँ दूसरा प्रश्न यह उभरता है कि यदि मन का किसी विषय में स्थिर होना ही ध्यान है तो फिर व्यापारी, गृहिणी, कामी पुरुष, लुटेरा, अध्यापक आदि भी अपनी-अपनी प्रवृत्ति में मग्न रहते हैं, स्वयोग्य कार्य के समय उसमें दत्तचित्त रहते हैं तो उस स्थिति को भी ध्यान ही कहना होगा?

इसका समाधान यह है कि वह पापात्मक चिन्तन भी ध्यान की कोटि में ही आता है और इसीलिए आचार्यों ने ध्यान के दो भेद किये हैं- शुभध्यान और अशुभध्यान। जैसे गाय और थूहर दोनों का दूध सफेद होता है; किन्तु एक अमृत और दूसरा जहर का काम करता है। इसी तरह ध्यान-ध्यान में अन्तर है। एक शुभ होता है और एक अशुभ। शुभध्यान मोक्ष का और अशुभध्यान दुर्गति का जनक है।

प्रकार – पूर्वोक्त स्वरूप के अनुसार ध्यान के अनेक भेद-प्रभेद किये जा सकते हैं। एक-एक ध्यान के असंख्य स्थान हैं। संसारी आत्मा पैण्डुलम् की तरह इन स्थानों में आरोह-अवरोह करता रहता है। फिर भी मुख्य रूप से ध्यान के दो भेद निरूपित हैं – 1. प्रशस्तध्यान और 2. अप्रशस्तध्यान। ये दो ध्यान भी शुभ और अशुभ की दृष्टि से दो-दो प्रकार के हैं। इनमें धर्मध्यान और शुक्लध्यान शुभध्यान हैं तथा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान अशुभ ध्यान हैं। ये चारों ध्यान भी चार-चार प्रकार के कहे गये हैं, जो संक्षेप में निम्न प्रकार हैं-

1. आर्त्तध्यान– आर्त्तध्यान चार प्रकार से होता है[161]–

(i) अनिष्ट संयोग – अनचाही वस्तु का संयोग होने पर उससे छुटकारा पाने के लिए सतत चिन्ता करना कि यह वस्तु या व्यक्ति कब दूर होगा, जैसे- भयंकर गर्मी में तड़फना आदि आर्त्तध्यान कहलाता है।

(ii) इष्ट वियोग – मनचाही वस्तु या व्यक्ति का वियोग होने पर उसे पाने के लिए चिन्ता करना, दुःखी होना आर्त्तध्यान का दूसरा प्रकार है।

(iii) आतंक सम्प्रयोग – शरीर में रोगादि कष्ट आने पर उसके प्रतिकार के लिए व्याकुल रहना तथा उससे सदैव मुक्त रहने हेतु चिन्तित रहना रोग निदान नाम का आर्त्तध्यान कहलाता है।

(iv) परिजुषित कामभोग सम्प्रयोग – जो सुख सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं उन्हें सुरक्षित रखने की चिन्ता करना, भविष्य में वे कभी छूट-बिछुड़ न जायें उस तरह के उपाय सोचना, आगामी जन्म में इन भौतिक सुखों को कैसे प्राप्त कर सकूं इसका विचार करना आदि आर्त्तध्यान का चौथा प्रकार है। इस आर्त्तध्यान में भविष्य चिन्ता की प्रमुखता रहती है, अत: इसे निदान भी माना गया है।

आर्त्तध्यानी की स्थिति का दिग्दर्शन कराने के लिए उसके चार लक्षण बतलाये गये हैं–[162] 1. जोर-जोर से चिल्लाना 2. अश्रुपूर्ण आँखों से दीनता दिखाना 3. विलाप करना 4. छाती, सिर आदि को पीटना। आर्त्तध्यान करने वाला इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, रोग निदान आदि परिस्थितियों में रुदन, उच्च स्वर में भाषण आदि प्रवृत्तियाँ करता ही है।

यह आर्त्तध्यान अविरत, देशविरत (श्रावक) और प्रमत्तसंयत (छठे गुणस्थानवर्ती मुनि) के होता है।[163]

2. रौद्रध्यान– जो दूसरों को रुलाता है, वह रुद्र है। उस आत्मा की प्राणिवध आदि के रूप में क्रूरतामय परिणति रौद्रध्यान कहलाता है।[164] आर्त्तध्यान में दीनता, हीनता एवं शोक की प्रबलता रहती है परंतु रौद्रध्यान में क्रूरता एवं हिंसक भावों की प्रधानता होती है। आर्त्तध्यान प्राय: आत्मघाती ही होता है। रौद्रध्यान आत्मघात के साथ पराघात भी करता है। रौद्रध्यान की उत्पत्ति निम्न चार कारणों से होती है[165]–

(i) हिंसानुबंधी – किसी को मारने, पीटने या हत्या आदि करने के सम्बन्ध में विचार करना, गुप्त योजनाएँ बनाने के लिए गहरा चिन्तन करना रौद्रध्यान का प्रथम प्रकार है।

(ii) मृषानुबंधी – दूसरों को ठगने, धोखा देने, लोगों को गुमराह करने सम्बन्धी चिन्तन करना, रौद्रध्यान का दूसरा प्रकार है।

(iii) स्तेयानुबंधी – तीव्र क्रोध और लोभ के वशीभूत होकर दूसरे की वस्तु अपहृत करने की इच्छा करना, लूट-खसोट के नये-नये उपाय सोचते रहना, स्तेयानुबंधी रौद्रध्यान है।

(iv) विषयसंरक्षणानुबंधी – जो धन, वैभव, पद, प्रतिष्ठा आदि साधन एवं भोग विलास की सामग्री प्राप्त हुई है उसके संरक्षण की चिन्ता करना, सबके प्रति शंकाशील होना रौद्रध्यान का अन्तिम प्रकार है।

रौद्रध्यान के चारों प्रकार राग-द्वेष और मोह से आकुल व्यक्ति के होते हैं। रौद्रध्यानी के भी कुछ विशेष लक्षण होते हैं। ध्यानशतक में प्रमुख चार लक्षण बतलाये गये हैं वे इस प्रकार हैं[166]–

1. रौद्रध्यान के उक्त चार प्रकारों में से किसी एक में बहुलतया प्रवृत्ति करता है।
2. रौद्रध्यान के सभी प्रकारों में प्रवृत्त रहता है।
3. हिंसा आदि अधर्म कार्यों में धर्म बुद्धि रखकर उनमें बार-बार प्रवृत्त होता है।
4. मरणान्त तक हिंसा आदि क्रूर भावों से युक्त रहता है।

3. धर्मध्यान– आत्मशुद्धि के साधनों अर्थात पवित्र विचारों में मन को एकाग्र करना धर्मध्यान है। भगवतीसूत्र आदि आगमों में यह ध्यान चार प्रकार का बतलाया गया है, वह निम्नोक्त हैं–[167]

(i) आज्ञाविचय – यहाँ विचय का अर्थ निर्णय अथवा विचार है। तीर्थङ्कर परमात्मा की जो आज्ञा है, उनका सर्वजनहिताय जो उपदेश है उस सम्बन्ध में चिन्तन करना, उस पर दृढ़ आस्था रखते हुए तद्मार्ग का अनुसरण करना धर्मध्यान का पहला प्रकार है।

(ii) अपायविचय – अपाय का अर्थ है दोष या दुर्गुण। यह आत्मा अनादिकाल से मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग इन पांच दोषों के कारण संसार में परिभ्रमण कर रही है। उन दोषों से यह चेतना किस प्रकार मुक्त हो सकती है? आत्मा की विशुद्धि कैसे हो सकती है? इत्यादि विषय पर चिन्तन करना, धर्मध्यान का दूसरा प्रकार है।

(iii) विपाकविचय – विपाक का अर्थ है– बंधे हुए कर्मों की स्थिति का समय पूर्ण होकर उसका उदय में आना। आत्मा अनेक दुष्कृत्यों के कारण अशुभ कर्म का बंधन करती है। उन कर्मों को भोगते समय उनके कटु परिणामों पर चिन्तन करना और उनसे बचने का संकल्प करना, विपाकविचय धर्मध्यान है।

(iv) संस्थानविचय – संस्थान का अर्थ है आकार। इस लोक में विद्यमान द्वीप, सागर, नरक, विमान, पर्वत, स्वर्ग, पंचास्तिकाय, आकाश आदि के आकार का चिन्तन करते हुए आत्मस्वरूप में स्थिर होना धर्मध्यान का अन्तिम प्रकार है।

धर्मध्यान में स्थिर रहने के चार आलम्बन हैं – 1. वाचना 2. पृच्छना 3. परिवर्तना 4. अनुप्रेक्षा।[168]

धर्मध्यानी साधक के चार लक्षण बताये गये हैं [169]–

1. वह आगम (प्रवचन) में श्रद्धा रखता है।
2. उपदेश सुनने में श्रद्धा रखता है।
3. तीर्थङ्कर कथित आज्ञा की प्रशंसा करता है।
4. जिनवाणी के प्रति श्रद्धान्वित होता है।

यह धर्मध्यान अप्रमत्त मुनि और उपशान्तमोही या क्षीणमोही (आठवें से तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव) का होता है।[170]

4. शुक्लध्यान– आत्मा का, आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा के विषय में चिन्तन करना अथवा मिथ्यात्व आदि समग्र अशुद्धियों का विलय हो जाने के कारण जिसकी आत्मा निर्मल बन गयी है उस निर्मल मन की एकाग्रता एवं अत्यन्त स्थिरता ही शुक्लध्यान है।

शुक्लध्यान दो प्रकार का कहा गया है – 1. शुक्लध्यान और 2. परमशुक्लध्यान। चतुर्दशपूर्वी का ध्यान शुक्लध्यान कहलाता है और केवलज्ञानी का ध्यान परमशुक्लध्यान कहलाता है। यह भेद ध्यान की विशुद्धता और अधिकतम स्थिरता की दृष्टि से किये गये हैं। स्वरूपतः शुक्लध्यान के चार प्रकार हैं[171]–

(i) पृथक्त्व वितर्क सविचार – पृथक्त्व का अर्थ है– भेद और वितर्क का अर्थ है – तर्क प्रधान चिन्तन यानी तर्क युक्त चिन्तन के माध्यम से श्रुतज्ञान के विविध भेदों का गहराई से चिन्तन करना जैसे द्रव्य-गुण-पर्याय पर चिन्तन करते हुए कभी द्रव्य पर, कभी पर्याय पर, कभी गुण पर - इस प्रकार भेद प्रधान चिन्तन करना पृथक्त्व वितर्क सविचार नामक शुक्ल ध्यान है।

(ii) एकत्व वितर्क सविचार – अभेद प्रधान चिन्तन करना जैसे– किसी एक द्रव्य या उसकी एक पर्याय पर चिन्तन करना एकत्व वितर्क नामक

शुक्लध्यान है। इस ध्यान के सम्बन्ध में ध्यातव्य है कि जहाँ पवन नहीं होता, वहाँ दीपक की लौ स्थिर रहती है। यद्यपि सूक्ष्म हवा तो उस दीपक को मिलती ही है, किन्तु तेज हवा नहीं, वैसे ही प्रस्तुत ध्यान में सूक्ष्म विचार चलते हैं परन्तु स्थूल विचार स्थिर रहते हैं जिसके कारण इसे निर्विचार ध्यान कहा गया है। इसमें एक ही वस्तु पर विचार स्थिर होने से यह निर्विचार है।

(iii) सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति – जब केवलज्ञानी का आयुष्य अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहता है तब उस समय उनकी योग निरोध की क्रिया प्रारम्भ होती है। तब स्थूल मन-वचन और काया तथा सूक्ष्म मन-वचन का निरोध कर लेते हैं तथा सूक्ष्म काययोग के रूप में श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया ही अवशेष रहती है उस स्थिति का ध्यान सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति शुक्लध्यान कहलाता है।

इस ध्यान में अत्यन्त सूक्ष्म क्रिया चलती है। यह स्थिति जिस विशिष्ट साधक को प्राप्त होती है वह पुन: ध्यान से च्युत नहीं हो सकता, इसीलिए इसे सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति कहा है। यह ध्यान केवलज्ञानी को ही होता है।

(iv) समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति – इस ध्यान में श्वासोच्छ्वास रूप सूक्ष्म क्रिया का भी निरोध हो जाता है, आत्मप्रदेश पूर्णत: निष्प्रकम्प बन जाते हैं, मन-वचन-काया के योगों की चञ्चलता पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है, इसीलिए इसे समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति शुक्लध्यान कहा है। यह ध्यान चौदहवें गुणस्थानवर्ती भावी सिद्ध आत्माओं को होता है अर्थात इस ध्यान के तुरन्त बाद आत्मा चार अघाति कर्मों का क्षयकर शुद्ध-बुद्ध-मुक्त बन जाती है।

श्वेताम्बर दृष्टि से धर्मध्यान छठे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है; किन्तु दिगम्बर-परम्परानुसार धर्मध्यान का प्रारम्भ सातवें गुणस्थान से होता है। शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद सातवें से बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। शुक्लध्यान का तृतीय प्रकार तेरहवें गुणस्थान में होता है और चतुर्थ प्रकार में आत्मा चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश कर लेती है। शुक्लध्यान के प्रथम दो प्रकार में श्रुतज्ञान का आलम्बन होता है; किन्तु शेष दो में किसी प्रकार का आलम्बन नहीं होता।[172]

जैन ग्रन्थों में शुक्लध्यानी के चार लक्षण कहे गये हैं –

1. अव्यथा – वह भयंकर उपसर्गों व परीषहों में किञ्चित मात्र भी चलित नहीं होता और भयभीत नहीं होता।

2. असम्मोह – उसे तात्त्विक विषयों में शंका नहीं होती और देव आदि के द्वारा माया आदि की विकुर्वणा करने पर भी उसकी श्रद्धा चलित नहीं होती।

3. विवेक – वह सब संयोगों व शरीर से आत्मा को भिन्न जानता है, भिन्न देखता है।

4. व्युत्सर्ग – वह शरीर और जगत की सम्पूर्ण आसक्तियों से निस्संग रहता है।[173]

शुक्लध्यान के पथ पर अग्रसर होने के लिए निम्न चार आलम्बन कहे गये हैं। इन आलम्बनों के माध्यम से यह आत्मा शुक्लध्यान की ओर आरूढ़ होती है –

1. क्षमा – क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर भी क्रोध नहीं करना।

2. मार्दव – मान (अहंकार) का प्रसंग उपस्थित होने पर अभिमान नहीं करना।

3. आर्जव – माया का परित्याग करते हुए जीवन के कण-कण में सरलता होना।

4. मुक्ति – लोभ का पूर्ण रूप से त्याग कर देना।[174]

ज्ञानार्णव में ध्यान के अशुभ, शुभ और शुद्ध – ये तीन भेद किये गये हैं जो आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार ध्यानों में समाविष्ट हो जाते हैं।[175] आचार्य शुभचन्द्र और आचार्य हेमचन्द्र ने धर्मध्यान के चार अवान्तर भेदों – पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत का वर्णन किया है।[176] विशेषावश्यकभाष्य में वाचिक और कायिक ध्यान का उल्लेख है। आवश्यकचूर्णि में ध्यान के सात विकल्प निरूपित हैं। वैदिक परम्परा में अशुभ और शुभध्यान को क्लिष्ट और अक्लिष्ट ध्यान की संज्ञा दी है। बौद्ध आचार्य बुद्धघोष ने कुशल और अकुशल शब्द का प्रयोग किया है। इस तरह ध्यान के भेद-प्रभेद एवं प्रकारों की विस्तृत सूची उपलब्ध है।

महत्त्व– चेतना का स्थिर अध्यवसाय ध्यान कहलाता है। शुभध्यान से सद्गति और अशुभध्यान से दुर्गति की प्राप्ति होती है। ध्यान-तप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध होता है। जिस प्रकार जल के द्वारा मलिन वस्त्रों को स्वच्छ किया जाता है ठीक उसी प्रकार ध्यान के द्वारा कर्म मल का शोधन कर आत्मा को शुद्ध किया जाता है। इससे शारीरिक स्वच्छता, मानसिक निर्मलता,

बौद्धिक कुशाग्रता एवं चैतसिक एकाग्रता में वृद्धि होती है। यह प्रमाद, निद्रा एवं आलस्य वृत्ति को क्षीण कर शारीरिक स्फूर्ति प्रदान करता है। ध्यान से शरीरस्थ ग्रन्थियाँ विशेष रूप से प्रभावित होती हैं। परिणामस्वरूप शरीर संस्थान नियन्त्रित, स्राव सन्तुलित एवं विधेयात्मक स्थिति को प्राप्त करते हैं।

ध्यान से आवेग और आवेश पर नियन्त्रण होता है। वर्तमान में बढ़ते मानसिक रोगों का निदान इसके द्वारा सहज हो रहा है। ध्यान के द्वारा आत्मशोधन, समस्याओं का निदान, वैयक्तिक व सामाजिक विकास भी होता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में तो ध्यान की मूल्यवत्ता निराबाध है। अनुभूति के स्तर पर कहा जा सकता है कि ध्यान से चित्त शुद्धि, विचार शुद्धि, व्यवहार शुद्धि एवं आचार शुद्धि को पोषण मिलता है। मानसिक विकार शान्त होते हैं, कषायों की ग्रन्थियाँ छूटकर भावों का ऊर्ध्वारोहण होता है। शास्त्रीय दृष्टि से शुक्लध्यान के प्रथम दो प्रकारों के फलस्वरूप संवर और निर्जरा की विशेष प्राप्ति एवं अनुत्तरविमानवासी देवों का सुख मिलता है तथा अन्तिम दो प्रकारों के प्रभाव स्वरूप निर्वाण पद की प्राप्ति होती है।[177]

संक्षेप में ध्यान द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर द्विविध रोगों का निवारण होता है और जीवन जगत की समस्त समस्याओं का परिसमापन होता है।

6. व्युत्सर्ग तप

वि+उत्सर्ग, इन दो शब्दों के योग से व्युत्सर्ग बना है। 'वि' का अर्थ है विशिष्ट और उत्सर्ग का अर्थ है त्याग अर्थात विशिष्ट त्याग करना व्युत्सर्ग तप कहलाता है। यहाँ विशिष्ट त्याग का तात्पर्य है कि जिन पदार्थों का त्याग करना मुश्किल हो, ऐसे शरीर, कषाय, परिग्रह आदि के प्रति रहे हुए ममत्त्व भाव का विसर्जन कर देना व्युत्सर्ग है।

जीवन में मोह-माया, आशा-तृष्णा, शरीर-स्वजन आदि का बन्धन सबसे बड़ा बन्धन है। इन सबसे निर्लिप्त रहना बहुत मुश्किल है; किन्तु इन बन्धनों से छुटकारा पाये बिना मुक्ति मिल नहीं सकती। इस तप के द्वारा मोहजन्य, लालसाजन्य एवं बन्धनजन्य समस्त पदार्थों का तथा उसके प्रति रही हुई ममत्त्ववृत्ति का त्याग कर दिया जाता है।

आचार्य अकलंक ने व्युत्सर्ग की परिभाषा करते हुए लिखा है कि

"निःसंग-निर्भयत्व-जीविताशा व्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः"

निःसंगता (आसक्ति रहितता), निर्भयता एवं जीने की इच्छा का त्याग करना व्युत्सर्ग है।[178] इसका हार्द है कि शरीर, कषाय एवं परिग्रह आदि से स्वयं को सर्वथा पृथक् करते हुए आत्म स्वभाव में सुस्थिर हो जाना व्युत्सर्ग है।

उत्तराध्ययनसूत्र में कायोत्सर्ग को ही व्युत्सर्ग तप कहा है। जिसे कायोत्सर्ग सिद्ध हो जाता है वह व्युत्सर्ग की आराधना सहजत: कर सकता है। वहाँ व्युत्सर्ग की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है–

सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ।।

जो भिक्षु सोने, बैठने या खड़े रहने आदि क्रियाओं के समय व्यापृत (आसक्त) नहीं होता, उसके काया की चेष्टा का जो परित्याग होता है, उसे व्युत्सर्ग कहा जाता हैं। यह आभ्यन्तर तप का छठा प्रकार है। इस तरह कायोत्सर्ग को व्युत्सर्ग कहा है।[179]

प्रकार– भगवती आदि सूक्तागमों में व्युत्सर्ग तप मुख्यत: दो प्रकार का कहा गया है– द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग।[180]

1. द्रव्य व्युत्सर्ग – द्रव्यत: शरीर आदि का परित्याग चार प्रकार से होता है, उनके नाम ये हैं [181]– (i) गण व्युत्सर्ग (ii) शरीर व्युत्सर्ग (iii) उपधि व्युत्सर्ग (iv) भक्तपान व्युत्सर्ग।

(i) गण व्युत्सर्ग – एक या अनेक गुरुओं के शिष्यों का समूह गण कहलाता है। गण में अनेक प्रकार के साधु रहते हैं जो अपनी-अपनी रुचि एवं सामर्थ्य के अनुसार श्रुतादि साधना में लीन रहते हैं। साधना की उत्कर्षता के लिए गण का आलम्बन आवश्यक है, किन्तु जब साधक को यह अनुभव हो जाये कि अब गण (सहवर्ती मुनियों आदि) का प्रशस्त मोह भी रत्नत्रय की आराधना में बाधक बन रहा है, इस संघ का परित्याग किये बिना शुद्ध अवस्था की प्राप्ति असम्भव है, क्योंकि आध्यात्मिक जगत में सम्यक् आलम्बन भी एक सीमा तक सहयोगी बनते हैं। उसके बाद वे भी बाधक बन जाते हैं तथैव गण का संग मध्यम चरण तक उपयोगी होता है। मोक्ष-प्राप्ति के अन्तिम चरण में उसका त्याग अपरिहार्य है अत: एक निश्चित अवधि के पश्चात गण का विसर्जन कर एकाकी साधना में निमग्न रहना गण व्युत्सर्ग कहलाता है। स्थानांगसूत्र में गण व्युत्सर्ग के सात कारण बतलाये गये हैं।

(ii) शरीर व्युत्सर्ग – साधना के अनेक बाधक तत्त्वों में अहंकार और ममकार ये दो मुख्य हैं। मुक्ति पथ पर आरूढ़ साधक अहंकार का भी विसर्जन करता है और ममकार का भी त्याग करता है। ममकार का मूल केन्द्र शरीर है तो शारीरिक ममत्त्व या देहासक्ति का परित्याग करना शरीर व्युत्सर्ग कहलाता है। स्मरणीय है कि कायोत्सर्ग करते समय मूलत: शरीर का व्युत्सर्ग किया जाता है। उस समय किसी तरह की परिस्थिति पैदा न हो जाये, फिर भी साधक देह से निर्ममत्व भाव रखता हुआ अडिग-अकम्प रहता है, यही शरीर व्युत्सर्ग कहा जाता है। यहाँ शरीर व्युत्सर्ग का तात्पर्य शरीर को छोड़ देना नहीं है अपितु शरीर के प्रति रहे हुए ममत्त्व को दूर करना है।

(iii) उपधि व्युत्सर्ग – मुनियों के लिए वस्त्र, पात्र, पुस्तक, उपकरण आदि का आवश्यकता से अधिक संग्रह करना उपधि कहलाता है तथा गृहस्थों के लिए मकान, दुकान, स्वर्ण, रजत आदि तमाम उपयोगी वस्तुओं का जरूरत से अधिक संग्रह करना उपधि कहलाता है। यहाँ आवश्यक वस्त्रादि में भी कमी करना जैसे आगम सम्मत तीन वस्त्रों में से दो वस्त्र का त्याग कर देना, पात्र का सर्वथा त्यागकर कर पात्री धर्म का परिपालन करना, इस प्रकार क्रमश: कमी करना उपधि व्युत्सर्ग कहलाता है।

(iv) भक्त पान व्युत्सर्ग – जब तक शरीर है भोजन-पानी की आवश्यकता रहती ही है। भोजन के अभाव में शरीर अधिक दिनों तक टिक नहीं सकता, परन्तु शरीर के लिए जितनी आवश्यकता है उससे कम उदर पोषण से काम चल सकता है। अत: आवश्यकता से कुछ कम अथवा सर्वथा भक्त-पान का त्याग कर देना, भक्त पान व्युत्सर्ग कहलाता है।

2. भाव व्युत्सर्ग – भाव व्युत्सर्ग तीन प्रकार से किया जाता है – (i) कषाय व्युत्सर्ग (ii) संसार व्युत्सर्ग (iii) कर्म व्युत्सर्ग।

(i) कषाय व्युत्सर्ग – क्रोध, मान, माया और लोभ– इन कषाय चतुष्क को शनै: शनै: या सर्वथा छोड़ने का प्रयत्न करना, कषाय व्युत्सर्ग कहलाता है।

(ii) संसार व्युत्सर्ग – आगमों में संसार के लिए यत्र-तत्र 'चाउरन्त संसार' शब्द व्यवहृत है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव रूप चार गतियाँ संसार कहलाती हैं। इन चार गति रूप संसार का परित्याग कर देना संसार व्युत्सर्ग है।

जिज्ञासा हो सकती है कि चार गति रूप संसार का त्याग कैसे किया जाये? स्थानांगसूत्र में संसार चार प्रकार का बताया गया है– **''चउव्विहे संसारे पण्णत्ते तं जहा- दव्व संसारे, खेत्त संसारे, काल संसारे, भाव संसारे।''**[182]

1. द्रव्य संसार – चार गति रूप संसार द्रव्य संसार है **2. क्षेत्र संसार –** तीनों लोक रूप संसार क्षेत्र संसार है **3. काल संसार –** एक समय से लेकर पुद्गल परावर्त्त तक का समय काल संसार है **4. भाव संसार –** कषाय, प्रमाद आदि भाव संसार है।

यहाँ ज्ञातव्य है कि क्षेत्र एवं काल संसार का व्युत्सर्ग नहीं होता है और द्रव्य संसार का निर्माण भाव संसार से होता है। भाव संसार ही वास्तविक संसार है। विषय-कषाय आदि से जुड़े रहना ही संसार है। उस भाव संसार का त्याग करना ही संसार व्युत्सर्ग कहलाता है।

(iii) कर्म व्युत्सर्ग – जैन-परम्परा में कर्म आठ माने गये हैं। इन आठ कर्मों के बन्धन के अलग-अलग कारण बताये गये हैं जैसे– ज्ञान की अशातना करना, ज्ञानी की अवहेलना करना आदि। ज्ञान-ज्ञानी का अविनय करने से ज्ञानावरणीय कर्म का बन्धन होता है। इस भाँति प्रत्येक कर्म बन्धन के जो पृथक्-पृथक् कारण हैं उन्हें भली प्रकार से समझकर उनका परित्याग करना तथा कर्म तोड़ने के जो उपाय बताये गये हैं उनका यथावत आचरण करना कर्म व्युत्सर्ग कहलाता है।

दशवैकालिक अगस्त्यसिंहचूर्णि में व्युत्सर्ग के निम्न दो भेद किये हैं[183]– 1. बाह्य उपधि का त्याग और 2. आभ्यंतर उपधि का त्याग। स्वरूपतः बाह्य उपधि का त्याग द्रव्य व्युत्सर्ग कहा जाता है तथा आभ्यन्तर उपधि का त्याग भाव व्युत्सर्ग कहा जाता है।

चूर्णिकार के अभिमत से बाह्य उपधि में जिनकल्पी के बारह उपकरण, स्थविरकल्पी के चौदह उपकरण तथा गण, आहार, शरीर, वचन और मन की प्रवृत्ति का त्याग होता है तथा आभ्यन्तर उपधि में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय का त्याग किया जाता है।

महत्त्व – चरम लक्ष्य की प्राप्ति में व्युत्सर्ग तप का अत्यधिक महत्त्व है। मानवमात्र को शरीर के प्रति सहज अनुराग होता है उससे मोह की परिधि बढ़ती

जाती है और वह ग्रन्थि का रूप ले लेती है। ग्रन्थि से तनाव उत्पन्न होता है। यह आत्मा तनाव और ग्रन्थि के कारण ही संसार में परिभ्रमण करती है जबकि व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) से बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तनाव नष्ट हो जाते हैं जिससे चेतना स्व स्वरूप में विचरण करने लगती है। मोह ममता की स्थिति मन्द होने से चञ्चलता स्वयमेव समाप्त हो जाती है। साथ ही राग-द्वेष की मात्रा कम होने से विषमता घटकर समत्व का उदय होता है। विषमता से अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। कायोत्सर्ग उन सभी के निदान में रामबाण दवा का कार्य करता है।

शारीरिक दृष्टि से कायोत्सर्ग में मन, वाणी और काया इन तीनों को सम अवस्था में किया जाता है। देह को शिथिल करने से मांसपेशियों का तनाव दूर होता है और आन्तरिक ग्रन्थियाँ सम हो जाती हैं।

मानसिक दृष्टि से निरर्थक विकल्पों को अवकाश न मिल पाने के कारण बुद्धि का सद्व्यय होता है, बौद्धिक क्षमता में अपेक्षाधिक अभिवृद्धि होती है। मनःस्थैर्य से संकल्प शक्ति दृढ़ होती है तथा निर्णायक शक्ति के बल पर दुःसाध्य कार्य भी सहज हो जाते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से व्युत्सर्ग तप करने वाले साधक में जड़-चेतन की भेद बुद्धि पैदा होती है। उसे यह शरीर पृथक् है और आत्मा पृथक् है, शरीर नाशवान् है और आत्मा अमर है, शरीर अस्थायी है और आत्मा चिरस्थायी है, इस तरह का सत्य बोध होने लगता है। अभ्यास के आधार पर एक क्षण ऐसा आता है कि वह आत्मा के लिए निःशेष इच्छाओं का त्याग करने हेतु तत्पर हो जाता है और तन-मन से ऊपर उठकर आत्मस्थ हो जाता है।

भगवान् महावीर से पूछा गया कि कायोत्सर्ग करने से क्या लाभ होता है ? प्रभु ने जवाब दिया – कायोत्सर्ग करने से अतीत और वर्तमान में किये गये दोषों की शुद्धि होती है। दोष विशुद्धि होने से यह जीव सिर पर से बोझ उतारे गये भारवाहक के समान अत्यन्त हल्कापन और प्रसन्नता का अनुभव करता है तब उसके भीतर में प्रशस्त ध्यान की धारा प्रवाहित होती है और वह अपूर्व सुखानुभूति में विचरण करता है।[184] सार रूप में कहा जाए तो इस तप के माध्यम से देह बुद्धि का विसर्जन, जड़-चेतन का भेद ज्ञान एवं आत्मानन्द की अनुभूति होती है। इसके सिवाय बाह्य जगत के अनेक लाभ प्रत्यक्षतः फलीभूत होते हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि द्विविध तपाराधना से द्रव्य शरीर एवं भाव आत्मा दोनों की विशुद्धि होती है। बाह्य तप क्रिया योग का प्रतीक है और आभ्यन्तर तप ज्ञान योग का सूचक है। ज्ञान और क्रिया का समन्वय ही मोक्ष का मार्ग है। इसीलिए जैनाचार्यों ने बाह्य और आभ्यन्तर उभय तप करने की प्रेरणा दी है।

अन्य पहलुओं से विचार करें तो ज्ञात होता है कि बाह्य तप में शरीर-सम्बन्धी साधना के नियमोपनियमों का दिग्दर्शन है तथा आभ्यन्तर तप में हृदय-विशुद्धिजन्य आचारों का समावेश किया गया है। बाह्य तप अनशन से लेकर आभ्यन्तर तप व्युत्सर्ग पर्यन्त के क्रम में आत्म साधना का सुन्दर समन्वय है। इस क्रम से तपश्चरण करने पर व्यक्ति न केवल कष्ट सहिष्णु बनता है अपितु चित्त एकाग्रता को भी साध लेता है।

इन द्विविध तप की आराधना से मानसिक, वाचिक और कायिक समस्त प्रकार की मलिनताएँ नष्ट हो जाती हैं, प्रज्ञा निर्मल बनती है और चित्त में समाधि के अंकुर प्रस्फुटित हो उठते हैं।

तप के अन्य प्रकार

जैनाचार्यों ने तप के उक्त द्वादश भेदों पर अत्यन्त विस्तार के साथ चिन्तन किया है। यह कहना किसी तरह से अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि तप के विषय में जितना चिन्तन जैन धर्म गुरुओं ने प्रस्तुत किया है उतना शायद किसी अन्य धर्म प्रमुखों ने नहीं किया। उपरोक्त द्वादश भेदों के अलावा पृथक्-पृथक् दृष्टियों से तप के अनेक रूप और भी सामने आते हैं जो निम्न प्रकार हैं –

निक्षेप की अपेक्षा तप प्रभेद

(i) नाम तप– नाम मात्र के लिए तप करना जैसे– किसी व्यक्ति का तपश्चन्द्र, तपोनाथ, तपोदास आदि नाम है, वह नाम मात्र से तप कहलाता है अथवा किसी व्यक्ति का समूह की अपेक्षा 'तप' नाम होना, नाम तप है।

(ii) स्थापना तप– किसी स्थान पर रत्नावली, मुक्तावली आदि की आकृति स्थापित करना, स्थापना तप कहलाता है।

(iii) द्रव्य तप– द्रव्य विशेष का तप करना जैसे– अग्नितप, सूर्यतप आदि करना द्रव्य तप कहलाता है।

अनाहार की अपेक्षा तप प्रभेद

(i) ओजाहार त्याग– उत्पत्ति के समय माता-पिता के रज वीर्य का अथवा अन्य जो आहार किया जाता है, उसे ओज आहार कहते हैं। इस आहार का त्याग करना ओजाहार तप है।

(ii) रोमाहार त्याग– शीत या उष्णकाल में चन्दन आदि के तेल मर्दन द्वारा अथवा स्नानादि के द्वारा जो रोमाहार होता है। उसका त्याग कर देना रोमाहार तप है।

(iii) कवलाहार त्याग– मुख के द्वारा अन्नादि का सेवन करना अथवा रुग्णावस्था में नली के द्वारा दूध आदि का सेवन करना कवलाहार है उसका त्याग करना, कवलाहार तप है।

कवलाहार त्याग की अपेक्षा तप प्रभेद

(i) अक्षुधा तप– कुछ विशिष्ट देवों को वर्षों तक भूख नहीं लगती तथा कई युगलिक मनुष्यों को लम्बे दिनों तक भूख नहीं सताती, उनका अक्षुधा तप है।

(ii) स्वभाव तप– एकेन्द्रिय (वनस्पति-पृथ्वी आदि) जीव स्वभाव से ही कवल आहार नहीं करते है, उनकी यह स्थिति स्वभाव तप कहलाती है।

(iii) इहलोक तप– इस भव के उद्देश्य की पूर्ति हेतु तप करना जैसे रोगादि निवारणार्थ तप करना, लोक लज्जा से तप करना, इच्छापूर्ति के लिए सन्तोषी माता आदि का व्रत करना इललौकिक तप कहलाता है।

(iv) परलोक तप– परलोक के उद्देश्य से किया जाने वाला तप जैसे आगामी जन्म में राजा, इन्द्र या देव बनूं आदि विचार से तप करना, पारलौकिक तप है।

(v) वीतराग तप – आत्मा को कर्म-बन्धनों से मुक्त करने के लिए बिना किसी कामना के विशुद्ध दृष्टि से जो तप किया जाता है, वह वीतराग तप कहलाता है।

सातवें से बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों का तप लगभग वीतराग तप की कोटि का होता है।

(vi) सराग तप – किसी भौतिक आकांक्षा, प्रतिष्ठा, कीर्ति, प्रशंसा या स्वर्ग आदि की भावना से जो तप किया जाता है, वह सराग तप कहलाता है।

(vii) बाल तप – आत्मज्ञान के अभाव में जो तप किया जाता है, उसे बाल तप कहा गया है। इसे अज्ञान-तप भी कहते हैं। जैसे– बालक की क्रियाओं में, चेष्टाओं में कोई लक्ष्य नहीं होता, कोई विशिष्ट ध्येय नहीं होता, वे प्राय: कुतूहल प्रधान या उद्देश्य शून्य-सी होती हैं। इसी कारण किसी व्यर्थ चेष्टा को बालचेष्टा कहा जाता है। उसी तरह मुक्ति के लक्ष्य से शून्य तप को भी 'बाल तप' कहा जाता है।

जैन ग्रन्थों में 'बाल' शब्द का प्रयोग प्राय: 'अज्ञान' के अर्थ में हुआ है। सूत्रकृतांगसूत्र में तीन प्रकार के मरण बताये हैं – बालमरण, पण्डितमरण, बाल-पण्डितमरण। यहाँ भी 'बाल' शब्द अज्ञानी का ही द्योतक है। भगवतीसूत्र में 60 हजार वर्ष तक कठोर तप करने वाले तामली तापस के लिए 'बाल तवस्सी' शब्द का ही प्रयोग किया गया है,[185] क्योंकि वह लक्ष्यहीन तप कर रहा था। स्पष्टत: सम्यक्ज्ञान के बिना जो तप किया जाता है वह चाहे कितना ही कठोर और दुर्धर्ष हो, वह बाल तप है। अज्ञान तप से कर्म निर्जरा बहुत कम होती है, जैसे पत्थर ढोने वाला मजदूर सुबह से शाम तक दम तोड़ काम करता है, फिर भी एक-दो रुपये मजदूरी मिलती है जबकि हीरे का व्यापार करने वाला तोला भर सामान लिए भी लाखों का वारा-न्यारा कर लेता है। वैसे ही सम्यग्ज्ञानपूर्वक तप करने वाला बहुत अल्प श्रम में अत्यधिक कर्म निर्जरा रूप लाभ कमा लेता है।

सम्यग्ज्ञानपूर्वक और अज्ञानतापूर्वक तप करने वालों की तुलना करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है –

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि, भवसय-सहस्स कोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेदि उस्सासमेत्तेण ।।

अर्थात अज्ञानी साधक लाखों-करोड़ों जन्मों तक तप करके जितने कर्म खपाता है सम्यक् ज्ञानी साधक त्रियोग को संयत रखकर श्वास मात्र में उतने कर्म नष्ट कर देता है। इस प्रकार सम्यक्ज्ञानी और अज्ञानी के तप फल में महान् अन्तर होता है।[186]

आचार्य भद्रबाहु ने कषायों की उत्कटता के साथ जो तप किया जाता है, उसे भी बाल तप कहा है–

जस्स वि दुप्पणिहिआ, होंति कसाया तवं चरंतस्स ।
सो बालतपस्सी विव, गयण्हाण परिस्समं कुणइं ।।

जिस तपस्वी ने अपने कषायों को क्षीण नहीं किया, कषाय आदि पर काबू नहीं पाया वह बाल तपस्वी है। वह चाहे जितना तप करे, उसका सब श्रम केवल कष्ट रूप है जैसे हाथी स्नान करके फिर सूंड से मिट्टी उछाल कर शरीर को मैला कर लेता है, वैसे ही बाल तपस्वी का सब तप व्यर्थ हो जाता है।[187]

भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर के समय में बाल तप का बोल-बाला बहुत था। उन्होंने अज्ञान तप के प्रवाह को समाप्त करने का भरसक प्रयत्न किया। यद्यपि भगवान महावीर स्वयं कठोर तपोयोगी थे; किन्तु वे कमठ तापस जैसे देहदण्ड या यज्ञतप को बिल्कुल निरर्थक मानते थे। अज्ञान तप की कठोर आलोचना करते हुए भगवान् ने उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि

मासे मासे उ जो बाला, कुसग्गेण तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घेइ सोलसिं।।

जो अज्ञानी साधक एक-एक मास का कठोर उपवास करता है और पारणे में सिर्फ घास की नोक पर टिके उतना सा भोजन लेता है- इतना कठोर तप करने पर भी वह श्रेष्ठ धर्म की सोलहवीं कला की समानता भी नहीं कर सकता, क्योंकि वह देह को तो दण्ड दे रहा है; किन्तु उसके घट में अज्ञान भरा है।[188]

जैन धर्म में कठोर तप का महत्त्व नहीं माना गया हो, ऐसी बात नहीं है। यहाँ तप का मूल्य तो बहुत अधिक है; किन्तु अज्ञान तप का नहीं, ज्ञान पूर्वक तप का महत्त्व है। भगवान् आदिनाथ एक वर्ष निरन्तर निराहार रहे। भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्ष की साधना काल में इतने उग्र तप किये, जिसे सुनते ही आत्मप्रदेश कम्पित हो जाते हैं। निरन्तर छह-छह की तपस्या के पारणे आयंबिल करने वाले धन्ना अणगार जैसे– अनेक उग्र तपस्वी उनके संघ में थे। इसीलिए यहाँ 'देह दुक्खं महाफलं' - देह को कष्ट देना महान फलप्रद माना है; किन्तु सिर्फ देह को तपाना नहीं, देह के साथ मन को तपाना भी आवश्यक है। इसीलिए यहाँ शरीर को कृश करने की जगह आत्मा (कर्म दलों) को, कषायों को कृश करने की बात कही गयी है – **'कसेहिं अप्पाणं जरेहिं अप्पाणं'** आत्मा को, कषायों को कृश करो, उन्हें जीर्ण करो।[189] यदि कषाय जीर्ण न हुई तो तन को जीर्ण करने से क्या लाभ? अतः तपश्चर्या ज्ञान और विवेक पूर्वक करनी चाहिए।

(viii) अकाम तप – तप की इच्छा किये बिना ही परवशता आदि के कारण भूखा रहना, धूप आदि के कष्ट सहना, नंगे पैर चलना, दिन-रात कायिक कष्ट भुगतना, कटु शब्द सुनना आदि अकाम तप कहलाता है। तिर्यञ्च गति के जीव परवशता से जीवन पर्यन्त नानाविध कष्ट सहते हैं। हम देखते हैं मजदूर जैसे साधारण प्राणी भी दिन भर श्रम करते हैं, भूख आदि के कष्ट भोगते हैं फिर भी इन लोगों का तप अकाम तप कहलाता है।

अन्य तप के भेद

पूर्ण दिन की अपेक्षा इत्वरिक अनशन के कई भेद हैं जैसे– उपवास, बेला, तेला, चोला, पंचोला इस प्रकार एक दिन बढ़ाते हुए छह मास तक उपवास करना। प्रतिदिन के दो-दो भक्त की गिनती करते हुए इन तपों की अन्य संज्ञाएँ बनती हैं जैसे– छट्ठ, अट्ठम, द्वादश भक्त आदि। कुछ प्रसिद्ध तपों की संज्ञा निम्न हैं जैसे– अठाई, पक्षक्षमण, मासक्षमण, चातुर्मासी तप, छहमासी तप आदि।

न्यून दिन की अपेक्षा से भी इत्वरिक अनशन के कई भेद हैं–

(i) सूर्योदय सापेक्ष– सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक के प्रत्याख्यान जैसे– नवकारसी, पौरुषी, साढ़पौरुषी आदि सूर्योदय सापेक्ष तप कहलाते हैं।

(ii) सूर्यास्त सापेक्ष– सूर्यास्त से सूर्योदय तक के प्रत्याख्यान जैसे– दिवसचरिम, चउविहार, पाणहार, दुविहार आदि सूर्यास्त सापेक्ष तप कहलाते हैं।

(iii) काल सापेक्ष– जिसमें सूर्य उदय और सूर्य अस्त की अपेक्षा न होकर मात्र काल की प्रधानता हो जैसे गंठिसहित, मुट्ठिसहित प्रत्याख्यान अथवा घंटे-घंटे के प्रत्याख्यान करना काल सापेक्ष तप है।

(iv) आहार सापेक्ष– जिसमें आहार-अनाहार दोनों की प्रधानता हो अथवा अमुक बार भोजन उपरान्त आहार का त्याग करना जैसे– एकासना, बीयासना, नीवि, आयंबिल आदि आहार सापेक्ष तप कहलाते हैं।

इस तरह अनेक दृष्टियों से जो शारीरिक कष्ट सहे जाते हैं उन्हें तद्योग्य भावना के साथ जोड़ने से उसी प्रकार का तप हो जाता है, किन्तु सर्व प्रकार के तपों में वीतराग तप ही श्रेष्ठ और कल्याणकारी है।

तप आत्मशोधन का महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक उपाय है। इस आवश्यक मार्ग का अनुसरण प्रत्येक जीव के लिए जरूरी है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते

हुए जैनाचार्यों ने तप सेवन के विविध उपाय बताए हैं। चर्चित अध्याय में तप के विविध बाह्य-आभ्यांतर भेदों की चर्चा इसी अपेक्षा से की गई है कि हर आम और खास व्यक्ति तप रूपी निर्जरा मार्ग पर आरूढ़ हो सके।

सन्दर्भ-सूची

1. *"बाह्यं बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्..... बाह्यं तदितरच्चाभ्यन्तरम्।"*
   उत्तराध्ययनसूत्र शान्त्याचार्य टीका, पत्र 600
2. *(क) जैन धर्म में तप स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 132-133*
   (ख) जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 537
3. *जैन धर्म में तप स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 131-133*
4. *सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा।*
   उत्तराध्ययनसूत्र, संपा. मधुकरमुनि 30/7
5. *अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रस परिच्चाओ।*
   कायकिलेसो संलीणयाय, बज्झो तवो होई॥
   (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 30/8
   छव्विहे बाहिरए तवे पण्णत्ते, तं जहा अणसणं...कायकिलेसो पडिसंलीणता।
   (ख) स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 6/1/65
6. *पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।*
   झाणं च बिउस्सग्गो, एसो अब्भिंतरो तवो॥
   (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 30/30
   छव्विहे अब्भंतरिए तवे पण्णत्ते, तं जहा-पायच्छित्तं....विउस्सग्गो।
   (ख) स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 6/1/66
7. *अणसणे दुविहे पण्णत्ते तं जहा- इत्तरिए य आवकहिए।*
   इत्तरिए अणेगविहे पण्णत्ते... तं जहा-चउत्थ भत्ते, छट्ठ भत्ते.... जाव छम्मासिए भत्ते।
   (क) भगवतीसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 25/7/198-199
   (ख) उत्तराध्ययनसूत्र, 30/9
8. *जो सो इत्तरिओ तवो, सो समासेण छव्विहो।*
   सेढितवो पयरतवो, घणो य तह होइ वग्गोय॥
   तत्तो य वग्ग वग्गो, पंचम छट्ठओ पइराण तवो।
   मण इच्छियचित्तत्थो, नायव्वो होइ इत्तरिओ॥
   उत्तराध्ययनसूत्र, 30/10-11

9. जैन धर्म में तप स्वरूप एवं विश्लेषण, पृ. 181-82 के आधार पर
10. उत्तराध्ययनसूत्र, 30/12
11. आचारांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 1/8/8/229
12. भगवतीसूत्र, 16/4/2-7
13. (क) समवायांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 6/31
    (ख) भगवतीसूत्र, 25/7/197
    (ग) उत्तराध्ययनसूत्र, 30/8
14. (क) स्थानांगसूत्र 3/3/381
    (ख) औपपातिकसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 30
    (ग) भगवतीसूत्र, 25/7/203
15. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 30/14-23
    (ख) तत्त्वार्थसूत्र, 9/19
16. तिविहा ओमोयरिया पण्णत्ता... स्थानांगसूत्र, 3/3/381
17. "ओमोयरिया दुविहा- दव्वमोयरिया य भावमोयरिया।"
    भगवतीसूत्र, 25/7/203
18. ओमोयरियं पंचहा, समासेण वियाहियं।
    दव्वओ खेत्तकालेणं, भावेणं पज्जवेहि य ॥
    उत्तराध्ययनसूत्र, 30/14
19. वही, 30/15
20. दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 13
21. स्थानांगसूत्र, 3/3/347
22. आचारांगसूत्र, 1/8/6/220
23. पिण्डनिर्युक्ति मलयगिरि टीका, 642, पृ. 173
24. जत्तिओ जस्स पुरिसस्स आहारो... तप्पुरिसावेक्खाए कइले
    भगवतीसूत्र, 7/1
25. दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 13
26. उत्तराध्ययनसूत्र, 30/16-19
27. वही, 30/20-21
28. वही, 30/22-23

29. औपपातिकसूत्र, तप अधिकार, सूत्र 42
30. दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 13
31. उत्तराध्ययनसूत्र, 30/24
32. मनुस्मृति, 2/57
33. स्थानांगसूत्र, 9/13
34. गुणाश्च षण्मित भुक्तं भजन्ते
    आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च।
    अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं
    न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति ।।
    विदुरनीति, 37/34, पृ. 47
35. मूलाराधना, 3/211, पृ. 428
36. (क) कल्पसूत्र, साधुसमाचारी सू. 59, पृ. 393
    (ख) बृहत्कल्पभाष्य, मुनि दुलहराज, 11/35
37. तत्त्वार्थसूत्र, 9/19
38. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 30/25
    (ख) दशवैकालिकसूत्र, 5/1/3
    (ग) आचारांगसूत्र, 2/1
    (घ) गोरिव चरणं गोचर:...
    हारिभद्रीय टीका, पत्र 163
    (ङ) दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 167-168
39. दशवैकालिकसूत्र, 1/5
40. दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 167-168
41. दशवैकालिकसूत्र, 1/2
42. धम्मपद (पुप्फवर्ग), 4/6
43. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 553
44. सर्वसम्पत्करी चैका, पौरुषघ्नी तथा परा।
    वृत्ति भिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता ।।
    अष्टकप्रकरण, 5/1
45. अट्ठविहगोयरग्गं तु, तदा सत्तेव एषणा।
    अभिग्गहा य जे अन्ने, भिक्खायरिय माहिया ।।
    उत्तराध्ययनसूत्र, 30/25

46. (क) पेडा य अद्धपेडा, गोमुत्तिय पयंग वीहिया चेव।
संबुकावट्टायय, गंतुंपच्चागया छट्ठा ।।
वही, 30/19

(ख) उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्र 605

47. संसट्ठमसंसट्ठा, उद्धड तह अप्पलेवडा चेव।
उग्गहिया पग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया ।।
उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्र 607

48. वही, पत्र 607

49. भिक्खायरिया अणेग विहा पण्णत्ता, तं जहा उक्खित्तचरए, णिक्खित्तचरए... संखादत्तिए से तं भिक्खायरिया। औपपातिकसूत्र, सूत्र 30

50. भगवतीसूत्र, 5/6/2

51. (क) तत्र मनसो विकृतिहेतुत्वाद् विगति हेतुत्वाद् वा विकृतयो, विगतयो।
प्रवचनसारोद्धार टीका, प्रत्याख्यान द्वार

(ख) मनसो विकृति हेतुत्वाद् विकृतय:
योगशास्त्र टीका तीसरा प्रकाश

52. उत्तराध्ययनसूत्र, 17/15

53. जैन धर्म में तप स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 272

54. उत्तराध्ययनसूत्र, 7/11

55. रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे वडिस-विभिन्नकाए
मच्छे जहा आमिस भोगगिद्धे ।। वही, 32/63

56. रमा पगामं न निसेवियव्वा
पायंरसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति
दुमंजहा साउफलं व पक्खी ।। वही, 32/10

57. जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे,
समारूओ नोवसमं उवेइ।
एविंदियग्गो वि पगाम भोइणो,
न बंभयारिस्स हियाय कस्सइ ।। वही, 32/11

58. .....पणीयं रसभोयणं।
नरसन्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा ।। दशवैकालिकसूत्र, 8/59
59. रस परिच्चाए अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा...
औपपातिकसूत्र, 30
60. जैन धर्म में तप स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 285-86
61. दृष्टा चेष्टार्थसंसिद्धौ, कायपीड़ा ह्यदुःखदा,
रत्नादिवणिगादीनां, तद् वदत्रापि भाव्यताम्।
वही, पृ. 287
62. सत्तविहे काय किलेसे पण्णत्ते तं जहा– ठाणाइस उक्कुडुयासणिए, पडिमट्ठाइवीरासणिए णेसणिज्जे दंडजाइए लगंडसाई ।।
स्थानांगसूत्र, 7/49
63. कायकिलेसे अणेगविहे पण्णत्ते तं जहा– 1. ठाणट्ठिइए, 2. उक्कुडुयासणिए, 3. पडिमट्ठाई...11. विभूसापिप्पमुक्के, से तं कायकिलेसे।
औपपातिकसूत्र, 30
64. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन दूसरा
65. वही, 30/27
66. दशवैकालिक जिनदासचूर्णि, पृ. 24
67. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्र 607
68. भगवतीसूत्र, 25/7/211
69. औपपातिकसूत्र, 30
70. उत्तराध्ययनसूत्र, 30/28
71. (क) कुम्मोव्व अल्लीण पल्लीण गुत्ते, उत्तराध्ययनसूत्र, 30/28
(ख) जहा से कुम्मए गुत्तिंदिए, ज्ञाताधर्मकथा, संपा. मधुकरमुनि, 4/13
72. गीता, 2/58
73. (क) औपपातिकसूत्र, 30
(ख) संलीणता चउव्विहा तं जहा- इंदिय संलीणया।
कसायसंलीणया, जोग संलीणया विवित्तचरिया ।।
दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 14
(ग) उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पृ. 608

74. (क) औपपातिकसूत्र, 30
    (ख) दशवैकालिक जिनदासचूर्णि, पृ. 24
75. (क) औपपातिकसूत्र, 30
    (ख) दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 14
76. (क) औपपातिकसूत्र, 30
    (ख) दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 14
77. (क) औपपातिकसूत्र, 30
    (ख) उत्तराध्ययनसूत्र, 30/28
78. मूलाराधना (भगवती आराधना), 3/228, 229, 231-232
79. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 567
80. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/32
81. "अपराधौ वा प्रायः, चित्तं-शुद्धिः। प्रायस्य चित्तं-प्रायश्चित्तं- अपराधविशुद्धिः रित्यर्थः।" तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9/22/1
82. पावं छिंदति जम्हा, पायच्छित्तं तु भण्णइ तेणं।
    पाएण वावि चित्तं, विसोहए तेण पच्छित्तं ॥
    आवश्यकनिर्युक्ति 1522
83. "पायच्छित्त करणं- प्राय इति बाहुल्यस्याख्या, चित्त इति जीवितस्याख्या प्रायश्चित्तं सोधयतीति प्रायश्चित्तं।"
    आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 251
84. "प्रशस्तं वा चित्तस्य विशुद्धिकारणमिति वा प्रायश्चित्तं।" वही, पृ. 251
85. "चिती संज्ञाने– प्रायशः वितयमाचरितमर्थमनुस्सरतीति वा प्रायश्चित्तं।"
    वही, पृ. 251
86. वही, पृ. 251
87. वही, पृ. 251
88. जैन धर्म में तप स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 392
89. (क) दसविधे पायच्छित्ते तं जहा-आलोयणारिहे... अणवट्ठप्पारिहे, पारंचियारिहे। स्थानांगसूत्र, 10/73
    (ख) भगवतीसूत्र, 25/7/218
    (ग) आलोयणारिहाईयं पायच्छित्तं तु दसविहं उत्तराध्ययनसूत्र, 30/31
    (घ) पायच्छित्तं दसविहं, तं जहा...।
    दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 14
    (च) औपपातिकसूत्र, 30

90. बृहत्कल्पसूत्र, उद्देशक 4
91. स्थानांगसूत्र, 5/1/47
92. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/17
93. उत्तराध्ययनसूत्र, 1/15
94. वही, 1/16
95. वही, 1/27
96. वही, 1/29
97. वही, 1/9
98. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1231
    (ख) उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्र 16
99. प्रवचनसारोद्धार टीका, द्वार 270 की टीका
100. अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं।
     गुरुभत्ति भावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ।।
     उत्तराध्ययनसूत्र, 30/32
101. विणओवयार माणस्स, भंजणा पूयणा गुरुजणस्स।
     तित्थयराण य आणा, सुयधम्मराहणा किरिया ।।
     विशेषावश्यकभाष्य, 3469
102. जैन धर्म में तप स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 423
103. भगवतीसूत्र, 25/7/219
104. स्थानांगसूत्र, 7/130
105. (क) औपपातिकसूत्र, 30
     (ख) विणओ सत्तविहो तं जहा –दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 14
106. (क) औपपातिकसूत्र, 30
     (ख) दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 14
     (ग) भगवतीसूत्र, 25/7/220
107. (क) औपपातिकसूत्र, 30
     (ख) दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 15
     (ग) भगवतीसूत्र, 25/7/221-222
108. (क) दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ.15
     (ख) भगवतीसूत्र, 25/7/223

109. (क) औपपातिकसूत्र, 30
(ख) दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 15
(ग) भगवतीसूत्र, 25/7/224
110. (क) औपपातिकसूत्र, 30
(ख) दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 15
(ग) भगवतीसूत्र, 25/7/226-227
111. (क) औपपातिकसूत्र, 30
(ख) भगवतीसूत्र, 25/7/228-230
112. (क) औपपातिकसूत्र, 30
(ख) दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 15
(ग) भगवतीसूत्र, 25/7/231-233
113. (क) औपपातिकसूत्र, 30
(ख) दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 15
(ग) भगवतीसूत्र, 25/7/234
114. विणए दुविहे-गहणविणए, आसेवणाविणए।
दशवैकालिक जिनदासचूर्णि, पृ. 301
115. लोगोवयारविणयो, अत्थणिमित्तं च कामहेउं च।
भयविणय मोक्खविणयो, विणयो खलु पंचहा होइ ॥
दशवैकालिकनिर्युक्ति, गा. 211
116. विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे।
विणयाउ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ॥
आवश्यकनिर्युक्ति, 1216
117. एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परसो सो मोक्खो।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं, निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥
दशवैकालिकसूत्र, 9/2/2
118. उत्तराध्ययनसूत्र, 1/45
119. दशवैकालिकसूत्र, 9/2/21
120. स्थानांगसूत्र, 3/4/477
121. जैन धर्म में तप स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 439

122. धर्मरत्नप्रकरण, 1
123. वेयावच्चंवावडभावो, तह धम्मसाहण णिमित्तं।
अन्नाइयाण विहिणा, संपाउणमेस भावत्थो ।।
उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्र 609
124. ओघनिर्युक्तिभाष्य, 133-134
125. (क) स्थानांगसूत्र, 10/17
(ख) भगवतीसूत्र, 25/7/235
(ग) दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 15
126. भत्तेपाणे सयणासणे य, पडिलेहण पायमिच्छमद्धाणे।
शया तेणं दंडग्गहे, गेलव्वामत्ते य ।।
व्यवहारभाष्य, गा. 4677
127. तत्त्वार्थसूत्र, 5/21
128. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/44
129. ज्ञाताधर्मकथा, 8/14
130. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/5
131. ओघनिर्युक्ति, 534, 537
132. ओघनिर्युक्ति टीका, पत्र 39
133. स्थानांगटीका, 5/3/465
134. आवश्यकसूत्र, अध्ययन 4 की टीका
135. जैन धर्म में तप स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 456
136. आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 7-8
137. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्र 584
138. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 30/34
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, 9/25
139. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 586
140. नीतिवाक्यामृत, 5/35
141. उत्तराध्ययनसूत्र, 26/10
142. वही, 29/19
143. चन्द्रप्रज्ञप्तिसूत्र, 91

144. बृहत्कल्पभाष्य, गा. 1169
145. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/20-24
146. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्र 586
147. दशवैकालिकसूत्र, 9/4/3
148. स्थानांगसूत्र, 5/3/223
149. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9/25
150. तैत्तिरीय आरण्यक, 2/14
151. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1/11/1, पृ. 24
152. स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः। पातञ्जलयोगदर्शन, 2/44
153. "उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोध ध्यानमन्तर्मुहूर्त्तम्।" तत्त्वार्थसूत्र, 9/27
154. अभिधान चिन्तामणि कोष, 1/84
155. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1477
156. "तत्र पत्ययैकगतानता ध्यानम्।" पातञ्जलयोगदर्शन, 3/2
157. विसुद्धिमग्गो, पृ. 141-151
158. पातञ्जलयोगदर्शन, पृ. 35
159. वही, 1/1
160. आवश्यकनिर्युक्ति, 1481-82
161. तत्त्वार्थसूत्र, 9/31-34
162. (क) भगवतीसूत्र 25/7/239
    (ख) स्थानांगसूत्र, 4/1/62
    (ग) ध्यानशतक, 15
163. ध्यानशतक, 18
164. 'रोदयत्यपरानिति रूद्रः– प्राणिवधादिपरिणत आत्मैव तस्येदं कर्म रौद्रम् ।' उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्र 609
165. (क) तत्त्वार्थसूत्र, 9/36
    (ख) ध्यानशतक, 19-22, 24
166. ध्यानशतक, 26
167. (क) भगवतीसूत्र, 25/7/242
    (ख) स्थानांगसूत्र, 4/1/65
    (ग) औपपातिकसूत्र, 30

168. ध्यानशतक, 42
169. वही, 67
170. (क) ध्यानशतक, 63
    (ख) दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 18
171. (क) तत्त्वार्थसूत्र, 9/37
    (ख) ध्यानशतक, 77-82
172. ध्यानशतक, 64
173. वही, 90-92
174. वही, 69
175. ज्ञानार्णव, 3/28-31
176. (क) ज्ञानार्णव, 37/1
    (ख) योगशास्त्र, 7/8
177. ध्यानशतक, 94
178. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9/26/10
179. उत्तराध्ययनसूत्र, 30/36
180. विउस्सग्गे दुविहे तं जहा- दव्व विउस्सग्गे य भाव विउस्सग्गे य।
    भगवतीसूत्र, 25/7/250
181. आवश्यकचूर्णि , भा,. 1, पृ. 616
182. स्थानांगसूत्र, 4/1/130
183. दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 19
184. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/12
185. भगवतीसूत्र, 3/1
186. प्रवचनसार, 3/38
187. दशवैकालिकनिर्युक्ति, 300
188. उत्तराध्ययनसूत्र, 9/44
189. आचारांगसूत्र, 1/4/3

●

अध्याय-3

तप साधना की उपादेयता एवं उसका महत्त्व

वर्तमान युग में प्राचीन सांस्कृतिक एवं धार्मिक विधानों को Out dated और Unimportant माना जाता है। कई लोगों का मानना है कि प्राच्य संस्कृति सम्बन्धी नियमोपनियम उसी काल की अपेक्षा प्रासंगिक थे। तप भी ऐसा ही एक प्राचीन विधान माना जाता है। परन्तु यदि गहराई से विचार करें तो आज भले ही तप साधना के नियम अप्रासंगिक लगते हो पर Dieting, Jogging आदि उसी के बदले हुए रूप है। इसी अध्याय के अन्तर्गत ऐसे ही अनेक परिप्रेक्ष्य में तप की महत्ता एवं आवश्यकता बताई जा रही है।

तप साधना की आवश्यकता क्यों?

किसी भी व्यक्ति के मन में यह प्रश्न उठना सहज है कि जब सभी धर्मों में आत्म विकास और भाव विशुद्धि के लिए अनेक प्रकार के उपाय बतलाये गये हैं, वहाँ कई विशिष्ट मार्गों का प्रतिपादन हैं फिर भी तपश्चर्या को सर्वोत्तम स्थान क्यों दिया गया? आखिर साधकीय जीवन में तपोयोग क्यों आवश्यक है?

इस बिन्दु पर अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि धर्म तप रूप है, बिना तप का धर्माचरण अधूरा तथा धर्म बिना का जीवन पशु तुल्य माना गया है, अत: तप की प्राथमिकता सदा-सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

यह मननीय है कि अहिंसा धर्म रूपी मन्दिर की मूल नींव है, संयम धर्म रूपी मन्दिर की दीवार है और तप धर्म रूपी मन्दिर का शिखर है। दूसरे शब्दों में कहें तो अहिंसा से धर्माचरण की शुरुआत होती है, संयम से धर्म का आचरण आगे बढ़ता है और तप से धर्म आचरण पूर्ण होता है।

जिस प्रकार दांत रहित हाथी, वेग रहित घोड़ा, चन्द्रमा रहित रात्रि, सुगन्ध रहित पुष्प, जल रहित सरोवर, छाया रहित वृक्ष, लावण्य रहित रूप और गुण रहित पुत्र शोभा नहीं पाता है उसी प्रकार तप शून्य धर्म शोभा नहीं पाता है।

प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने के लिए यह भी कहा जा सकता है कि जैसे- मन्त्री विहीन राज्य, शस्त्र विहीन सेना, नेत्र विहीन मुख, वर्षा विहीन चातुर्मास, उदारता विहीन धनिक, घृत विहीन भोजन, शील विहीन स्त्री और सहृदयता विहीन मित्र प्रशंसा योग्य नहीं होता है, वैसे ही तप विहीन धर्म भी प्रशंसा को प्राप्त नहीं होता है।

जिस प्रकार लौकिक जगत में स्वर्ण की परीक्षा निर्घर्षण, छेदन, ताप और ताडन आदि चार क्रियाओं द्वारा होती है, उसी तरह अध्यात्म जगत में धर्म की परीक्षा श्रुत, शील, तप और दया आदि गुणों से होती है। इस उदाहरण को अधिक स्पष्ट समझना चाहें तो जैसे- स्वर्ण को सबसे पहले कसौटी के पत्थर पर घिसकर देखा जाता है कि यह कितना खरा है? यदि उससे ठीक मालूम होता है तो फिर शस्त्र से छेदकर देखते हैं कि यह अन्दर से कैसा है? यदि किसी ने ऊपर से स्वर्ण चढ़ा दिया हो और भीतर में पीतल या हल्की वस्तु हो तो इस परीक्षा से सही ज्ञान हो जाता है। इस परीक्षा में सोना ठीक उतर जाये तो फिर तपाकर देखते हैं कि इसका वर्ण तो परिवर्तित नहीं हुआ है? यदि सोना कृत्रिम हो तो तपाने से उसका रंग बहुत अंश में बदल जाता है। यदि इस परीक्षा में सोना ठीक निकल जाये तो उसे टीपकर (ठोककर) देखते हैं कि इसका चिकनापन कैसा है? कृत्रिम सोना में चिकनापन नहीं होता है। इस अन्तिम परीक्षा में खरा उतरने वाले सोने को ही सच्चा मानकर ग्रहण किया जाता है।

विद्वद् पुरुष धर्म की परीक्षा भी इसी तरह करते हैं। सर्वप्रथम धर्म का श्रुत देखते हैं अथवा तत्धर्म सम्बन्धी शास्त्रों का अवलोकन करते हैं कि कितने प्रामाणिक हैं? रचयिता कौन है? आदि। सर्वज्ञ महापुरुषों द्वारा रचित ग्रन्थों को प्रामाणिक माना जाता है। उसके पश्चात धर्मशास्त्रों में संयम और सदाचार का निरूपण किस प्रकार का है, वह देखते हैं। तदनन्तर धर्म में तप के ऊपर कितना महत्त्व दिया गया है, उसका परीक्षण करते हैं। यदि तप का प्रभाव दिखता है तो उसे उत्तम मानते हैं अन्यथा सत्त्व रहित जानकर उपहास करते हैं। फिर अन्तिम में दया, दान,परोपकार आदि गुणों की चर्चा की गयी हो तो उसे श्रेष्ठ समझकर स्वीकार करते हैं।

इस वर्णन से सिद्ध होता है कि साधारण एवं धर्मयुक्त जीवन में तप की आवश्यकता अपरिहार्य है।

चौदह पूर्वों के ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने तप की अनिवार्यता दर्शाते हुए कहा है कि –

नाणं पयासगं सोहओ तवो, संजमो य गुत्तिकरो ।
तिण्हंपि समाओगे, मोक्खे जिणसासणे भणिओ ।।

ज्ञान सम्पूर्ण जगत के समस्त जीवादिक पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करता है। तप अनादिकाल से आत्मा पर छाए हुए ज्ञानावरणीय आदि अष्ट कर्मों के आवरण को दूर करता है। यद्यपि समस्त जीव कर्मों का भोग करते हुए प्रति समय शुभाशुभ कर्मों की निर्जरा करते हैं, परन्तु तप के माध्यम से जो निर्जरा होती है वह कर्म भोग की निर्जरा से कई गुणा अधिक होती है तथा संयम नवीन कर्म के रूप में आने वाले अशुभ कर्मों को रोकता है। इस तरह आत्म प्रकाशक ज्ञान, आत्म शोधक तप एवं आत्म रक्षक संयम – इन तीनों का संयोग होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रस्तुत विषय के स्पष्टीकरण हेतु यह बिन्दु भी अवश्य विचारणीय है कि तेरहवें गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान और यथाख्यातचारित्र ये तीनों प्राप्त हो जाते हैं अर्थात सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय की सम्पूर्ण प्राप्ति हो जाती है। तदुपरान्त भी सम्पूर्ण कर्म क्षय रूप मोक्ष प्राप्ति में देशोनक्रोड पूर्व जितना समय शेष रह सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इन तीनों के अतिरिक्त भी कोई साधन हैं जिसके सिद्ध होने या प्राप्त होने के बाद ही मोक्ष की प्राप्ति होती है और वह योग निरोध रूप शुक्लध्यान का चतुर्थ पाया है। जो तप के बारह प्रकार के भेदों में से ध्यान नाम का भेद है वही मोक्ष का अनन्तर कारण है। इसी प्रकार श्रेणी आरोहण में भी तप उपयोगी है। जो जीव क्षपक श्रेणी का आरोहण करते हैं सम्भव है कि श्रेणी आरोह से पूर्व उसकी सत्ता में उत्कृष्ट रूप से सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम या निकाचित कर्मों का बंध हो। शास्त्रों में उल्लेख है कि केवलज्ञान प्राप्त करने वाला जीव अन्तर्मुहूर्त काल पूर्व तक मिथ्यादृष्टि हो सकता है। उस स्थिति में सत्तागत निकाचित कर्मों का क्षय अपूर्वकरण के समय एक विशेष शक्ति के रूप में झलकता है और वह 'तवसा उ निकाइयाणंपि' वचन के अनुसार तप के द्वारा ही सम्भव है।

तप अन्तराय कर्म का उदय नहीं

कुछ आहार आदि में आसक्त पुद्गलानन्दी जीव तप को अन्तराय कर्म का उदय मानते हैं, परन्तु यथार्थ यह नहीं है। अन्तराय अर्थात बीच में विघ्न आना। तप में आहार आदि का त्याग स्वेच्छा से किया जाता है अत: इसे अन्तराय कहना उचित नहीं।

जब जीव में वस्तु भोग की तीव्र अभिलाषा हो और किसी कारणवशात उस वस्तु का उपभोग न कर पाये तब वह उसके लिए अन्तराय का उदय हो सकता है, परन्तु स्वेच्छा से उपलब्ध सामग्री का त्याग करना, उसके प्रति आसक्ति कम करने का प्रयत्न करना कर्म निर्जरा में हेतुभूत है। यदि तप को अन्तराय कर्म का उदय माना जाये तो ब्रह्मचर्य का पालन आदि भी मैथुन सेवन में अन्तराय का उदय माना जाएगा। अत: सुनिश्चित है कि तपस्या करना अन्तराय कर्म का उदय नहीं है प्रत्युत उदय प्राप्त विषय-कषायादि अध्यवसायों को समाप्त करना है।

मूलत: तप की अन्तर्निहित धारणा आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक है। यह मन का अनुशासन है। यह मन को चञ्चलता रहित, निर्मल, निष्कपट, निःस्पृह एवं पवित्र करने का सर्वोत्तम साधन है। उपवास आदि व्रत करने से मनुष्य को गर्हित वासनाओं से निवृत्ति मिलती है और उसकी आत्मोन्नति होती है, जिससे उसमें न केवल समता की दृष्टि आती है बल्कि निष्काम कर्म, निष्काम भक्ति की निर्मल भावना भी जागृत होती है। साथ ही उसमें अनादि, अनन्त, अनीह, अच्युत, अविनाशी, अव्यय, अक्षर, अद्वैत और सत्य स्वरूप के दर्शन करने की क्षमता विकसित हो जाती है। फलत: वह अहंकार और आसक्ति से रहित होकर निष्काम भाव से आत्मलीन हो जाता है और एक दिन स्व-स्वरूप का दर्शन कर लेता है।

इस प्रकार तप साधना की उपादेयता अनादिकाल से ही सुसिद्ध है।

तपस्या का फल

जैन शास्त्रों के अनुसार तपस्या का फल दो प्रकार का होता है – एक आभ्यन्तर और दूसरा बाह्य। आभ्यन्तर फल का अर्थ है कर्म आवरणों की निर्जरा, उनका क्षय तथा क्षयोपशम होना। इससे आत्मा की विशुद्धि होती है, विशुद्धि होने पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, बल, वीर्य आदि आत्मशक्तियाँ अपने

शुद्ध एवं प्रचण्ड रूप में प्रकट हो जाती हैं जैसे– किसी स्वर्णपट्ट पर मिट्टी की तह जमी हुई हो तो सोने की चमक दिखाई नहीं देती, किन्तु जैसे-जैसे मिट्टी हटती है सोना चमकने लगता है। वैसे ही कर्म रूप मिट्टी जैसे-जैसे हटती है आत्मा की शक्तियाँ अनावृत्त होने लगती हैं।

आत्मशक्ति के रूप में ये शक्तियाँ आभ्यन्तर होती हैं, किन्तु उनका प्रभाव,चमत्कार बाह्य जगत में दिखाई देता है। इन शक्तियों के सहज विकास एवं सामयिक प्रयोग से बाह्य वातावरण एवं समाज पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है इस कारण उन शक्तियों को लब्धि आदि के रूप में तप का बाह्य फल माना गया है।

जैसे– पौष्टिक भोजन करने पर शरीर में शक्ति और स्फूर्ति बढ़ती है तो रक्त और मांस भी बढ़ता है। भीतर में शक्ति बढ़ने पर बाहर में ओज- तेज जिस प्रकार दिखाई देता है उसी प्रकार तप के द्वारा तेज प्रकट होता है, तो वह बाहर में स्वत: ही अपना प्रभाव दिखाने लगता है। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा है – **''सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो''**

तप का विशिष्ट प्रभाव संसार में साक्षात दिखाई देता है। राजस्थान में कहावत है – **''घी खायो छानो को रैवेनी''** घी खाया हुआ छिपता नहीं है वैसे ही तप किया हुआ भी छुपता नहीं है। तपस्वी के चेहरे पर स्वत: ही एक विशिष्ट तेज-ओज दमकने लगता है। उसकी वाणी में सिद्धि, प्रसन्नता में वरदान तथा आक्रोश में शाप की शक्ति अपने आप आ जाती है, इन शक्तियों के लिए उसे प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब लब्धियों (आत्मगत विशिष्ट शक्तियों) के लिए तप करने की आवश्यकता नहीं है तो शास्त्रों में भिन्न-भिन्न लब्धियों के लिए अलग-अलग प्रकार की तपस्याएँ क्यों बतायी गयी हैं? जैसे– भगवतीसूत्र में तेजोलेश्या की साधना-विधि बतायी गयी है, जंघाचारण-विद्याचारण की भी साधना-विधि कही गयी है तथा पूर्वों में लब्धियों की विभिन्न साधना-पद्धतियों का वर्णन उपलब्ध था, ऐसा उल्लेख किया जाता है तो इसका क्या अर्थ है? जब लब्धि के लिए तप नहीं किया जाना चाहिए तो फिर उसके लिए तप की विधि क्यों?

इस प्रश्न का जवाब यह है कि लब्धि एक अतिशय है, एक प्रभाव है, साधक अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए कभी उत्सुक नहीं होता। भाव बढ़ता है तो

प्रभाव अपने आप बढ़ जाता है। सिद्धि मिलती है तो प्रसिद्धि अपने आप हो जाती है। इसलिए तप की जो विधि है वह लब्धि प्राप्त करने के लिए नहीं है, किन्तु तप का एक मार्ग है जिस मार्ग पर चलने से कई सिद्धियाँ अपने आप हासिल हो जाती हैं। जैसे– अमुक नगर को जाना है, यदि इस रास्ते से गये तो बीच में अमुक-अमुक स्थान आयेंगे और अमुक रास्ते से गये तो अमुक-अमुक स्थल। बीच के स्थल पर पहुँचने के लिए कोई यात्रा नहीं करता, वह तो अपने आप आयेगा ही, यात्रा का लक्ष्य तो मंजिल है। वैसे ही तप का उद्देश्य तो कर्म निर्जरा है, किन्तु अमुक विधि से तप का आचरण करने पर कर्म निर्जरा तो होती ही है। जिस प्रकार के कर्मों की निर्जरा होगी उसके फलस्वरूप आत्मा में स्वत: ही अमुक प्रकार की शक्ति जग जायेगी जैसे– बेले-बेले तप करते रहने से अमुक प्रकार की शक्ति जागृत होगी, तेले-तेले तप करने से उससे कुछ विशिष्ट आत्मशक्ति जागृत होगी।

सारांश है कि साधक को फल की कामना से रहित होकर ही तप करना चाहिए तथा तप के द्वारा जो आभ्यन्तर शक्तियाँ प्रगट होती हैं उसका प्रभाव बाह्य जगत पर पड़ता ही है। यही तप के द्विविध फल हैं।[1]

तप साधना का उद्देश्य

जैनाचार्यों ने तप की अद्भुत और अपार महिमा गायी है। सम्यक् तप के प्रभाव से अचिन्त्य लब्धियाँ, अनुपम ऋद्धियाँ और अपूर्व सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अज्ञानी जीव भौतिक ऋद्धि-समृद्धि, सुख-सौभाग्य, यश-कीर्ति, नाम प्रसिद्धि आदि के उद्देश्य से ही तप करता है; किन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि बाह्य सम्पदा अथवा देवता आदि को प्रसन्न करने के लिए तप योग करना तो आम के महावृक्ष से लकड़ियाँ चाहने जैसा है। वस्तुत: तप का उद्देश्य यह नहीं है। तप तो किसी महान् लाभ के लिए किया जाना चाहिए, ऋद्धि-सिद्धि तो स्वत: प्राप्त हो जाती है जैसे– धान्य की खेती करने पर धान के साथ भूसा-पलाल स्वत: मिल जाता है वैसे ही तप द्वारा निर्जरा होने के साथ-साथ सांसारिक सुख भूसा-पलाल की भाँति स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं। कोई भी सुज्ञ किसान भूसे के लिए खेती नहीं करता है वैसे ही भौतिक लाभ के लिए तप नहीं करना चाहिए। तप आत्मशुद्धि के महान् उद्देश्य से प्रेरित होकर ही किया जाना चाहिए।

इस विषय में यह तथ्य भी विचारणीय है कि तप यदि नैतिक जीवन की एक अनिवार्य प्रक्रिया है तो उसे किसी लक्ष्य के निमित्त होना चाहिए।

जैन साधना का लक्ष्य शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि है, आत्म शुद्धिकरण है। लेकिन यह शुद्धिकरण क्या है ? जैन दर्शन मानता है कि प्राणी मानसिक, वाचिक एवं कायिक क्रियाओं के माध्यम से कर्म-वर्गणाओं के पुद्गलों को अपनी ओर आकर्षित करता है और ये आकर्षित कर्म-वर्गणाओं के पुद्गल राग-द्वेष या कषाय-वृत्ति के कारण आत्मा से एकीभूत हो, उसकी शुद्ध सत्ता, शक्ति एवं ज्ञान ज्योति को आवृत्त कर देते हैं। अत: शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि के लिए आत्मा के शुद्ध स्वरूप को आवृत्त करने वाले कर्म-वर्गणाओं के पुद्गलों का पृथकीकरण आवश्यक है। पृथकीकरण की यह क्रिया निर्जरा कही जाती है, जो दो रूपों में सम्पन्न होती है। जब कर्म वर्गणा के पुद्गल अपनी निश्चित समयावधि के पश्चात अपना फल देकर स्वत: अलग हो जाते हैं तो यह सविपाक निर्जरा कहलाती है और जब प्रयास पूर्वक कर्म-पुद्गलों को आत्मा से अलग किया जाता है तो उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं तथा जिस प्रक्रिया के द्वारा अविपाक निर्जरा की जाती है, वही तप है। इस प्रकार प्रयास पूर्वक कर्म पुद्गलों को आत्मा से अलग कर उसके स्वरूप को प्रकट कर देना ही तप का प्रयोजन है।

दशवैकालिकसूत्र में आचार्य शय्यंभव ने तप समाधि का उद्देश्य बतलाते हुए स्पष्ट कहा है कि

1. इहलोक (वर्तमान जीवन की भोगाभिलाषा) के निमित्त तप नहीं करना चाहिए।
2. परलोक (पारलौकिक भोगाभिलाषा) के निमित्त तप नहीं करना चाहिए।
3. कीर्ति, रूप, शब्द और प्रशंसा के लिए तप नहीं करना चाहिए।
4. निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से तप नहीं करना चाहिए।[2]

तप का मुख्य फल निर्जरा है। जैसे– अग्नि सोने को शुद्ध करती है, फिटकरी मैले जल को निर्मल बनाती है, सोड़ा या साबुन मलिन वस्त्र को उज्ज्वल बनाता है, उसी प्रकार तप आत्मा को शुद्ध, निर्मल और उज्ज्वल रूप प्रदान करता है।

आचार्य भद्रबाहु ने कहा है जैसे– मलिन वस्त्र जल आदि शोधक द्रव्यों से उज्ज्वल हो जाता है वैसे ही भाव तप के द्वारा कर्म मल से मुक्त होकर आत्मा शुद्ध व पवित्र बन जाती है।[3]

हम देखते हैं कि मनुष्य कोई भी काम करता है तो उसके सामने उस कार्य-फल की कल्पना भी रहती है। साथ ही उसका उद्देश्य और लक्ष्य भी रहता है। एक कवि ने कहा है –

लक्ष्यहीन फलहीन कार्य को, मूरख जन आचरते हैं।
सुज्ञ सुधीजन प्रथम कार्य का, लक्ष्य सुनिश्चित करते हैं।।

जब सामान्य कार्य भी लक्ष्य के बिना नहीं होता, तब तप जैसा दुरूह, कठोर, देह दमनीय कार्य बिना लक्ष्य-परिणाम के कैसे सम्भव है? अत: मानना होगा कि तप का उद्देश्य भी निश्चित है।

एक बार भगवान महावीर राजगृह नगर में पधारे। वहाँ गणधर गौतम ने प्रभु से कई प्रश्न पूछे। उनमें एक प्रश्न तप के विषय में पूछा – भगवन्! तप करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है? भगवान ने उत्तर में कहा – "तवेण वोदाणं जणयइ" तप से व्यवदान होता है। व्यवदान का अर्थ है – दूर हटाना। आदान का अर्थ है – ग्रहण करना। सुस्पष्ट है कि आत्मा तपस्या के द्वारा कर्मों को दूर हटाता है, कर्मों का क्षय करता है, अशुभ कर्मों को निर्जरित करता है। बस यही तप का उद्देश्य है और यही तप का फल है।[4]

जैन परम्परा में प्रभु महावीर को तपोयोगी और प्रभु पार्श्वनाथ को ध्यानयोगी माना गया है। भगवान पार्श्वनाथ के युग में अज्ञान तप का बोल-बाला था। लोग भौतिक सिद्धियों के लिए तप करते थे, पंचाग्नि साधते थे, वृक्षों पर ओंधे लटकते थे। यदि कोई उनसे पूछता कि आप यह तप, जप, यज्ञ आदि क्यों करते हो? तो उनका एक ही उत्तर होता – "स्वर्गकामो यजेत" अर्थात स्वर्ग की प्राप्ति हेतु यज्ञ तप करो। अमुक शक्ति को पाने के लिए तप करो इससे आगे उनका कोई उद्देश्य नहीं था जबकि भगवान पार्श्वनाथ ने जनता को तप का उद्देश्य समझाते हुए कहा – तप शरीर को सुखाने या ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के लिए नहीं, किन्तु आत्मा को कर्म बन्धनों से मुक्त करने के लिए है। जो बात भगवान महावीर ने कही वही बात भगवान पार्श्वनाथ ने भी कही थी। आज भले ही उनके स्वयं के वचन हमारे पास नहीं हैं, किन्तु उनकी परम्परा के विद्वान्

श्रमणों के वचन अधुनाऽपि भगवतीसूत्र में इस बात की साक्षी देते हैं कि भगवान पार्श्वनाथ ने तप का उद्देश्य क्या बताया है?

भगवतीसूत्र के वर्णनानुसार एक बार तुंगिया नगरी के तत्त्वज्ञ श्रावकों ने प्रभु पार्श्वनाथ के स्थविर श्रमणों से तत्त्व चर्चा करते हुए पूछा – भन्ते! आप तप क्यों करते हैं? तप का क्या फल है? उत्तर में श्रमणों ने कहा – तप का फल है व्यवदान, कर्म निर्जरा। जो बात भगवान महावीर ने गौतम स्वामी से कही है, वही बात पार्श्वसंतानीय श्रमणों ने श्रावकों से कही है।[5] इतना ही नहीं समस्त तीर्थङ्करों ने, आचार्यों ने भी यही बात कही है। जैन संस्कृति का एक ही स्वर है कि तप केवल कर्म निर्जरा के लिए करना चाहिए।

कामना युक्त तप क्यों नहीं?

अब एक मार्मिक प्रश्न खड़ा होता है किसी भी भौतिक अभिलाषा, या यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि के लिए तप क्यों नहीं किया जाय? इस निषेध का मतलब क्या है? पूज्य मधुकरमुनि ने इसका जवाब देते हुए कहा है कि जैन धर्म सुखवादी धर्म नहीं है, मुक्तिवादी धर्म है। सुखवादी तो सिर्फ संसार के सुखों में उलझा रहता है लेकिन मुक्तिवादी धर्म कहता है कि सुख और दुःख दोनों ही बन्धन हैं। आदमी सुख प्राप्ति का प्रयत्न कर उसे प्राप्त भी कर लेता है; किन्तु उस सुख-भोग के साथ नया पाप कर्म भी बंधता जाता है। इससे शुभ कर्म क्षीण होकर अशुभ कर्म का उदय प्रारम्भ हो जाता है। थोड़े से सुख के बाद भयंकर दुःख प्राप्त होते हैं। गीता में बताया है- जो सकाम कर्म करते हैं, पुण्य की अभिलाषा या स्वर्ग की कामना से तप करते हैं, वे मरकर स्वर्ग को प्राप्त भी कर लेते हैं; किन्तु वहाँ अप्सराओं के मोह-माया में फंसकर अपने समस्त पुण्यों का क्षय कर डालते हैं और फिर पुण्यहीन होकर पुनः दुःखों के महागर्त्त में गिर जाते हैं। संसार के जितने भी सुख हैं, वे सब दुःख की खान हैं। इसलिए जो भी कर्म करे, वह अशुभ कर्म को नष्ट करने के लिए करना चाहिए।

दूसरी बात यह भी है कि भौतिक लाभ के लिए तप करने वाले का उद्देश्य बहुत सीमित होता है, वह छोटे से उद्देश्य के लिए बहुत बड़ा कष्ट उठाता है जबकि कर्म निर्जरा के लिए किया गया तप असीम अचिन्तनीय फल होता है।

एक आदमी अमृत का उपयोग कीचड़ से सने पाँव धोने के लिए करता है और एक मरते हुए प्राणी को जीवनदान देने के लिए। जिस तरह अमृत के

उपयोग में यह महान् अन्तर है उसी प्रकार तप के उद्देश्य में भी महान् अन्तर है। भौतिक लाभ के लिए तप करना अमृत से, मिट्टी से सने पैर धोने जैसा है। कामनायुक्त तप का फल सिर्फ स्वर्ग है, भौतिक सुख है जबकि निष्काम तप का फल सम्पूर्ण कर्मों का क्षयकर अनन्त आनन्दमय मोक्ष को प्राप्त करना है।

कई लोग सामायिक करते हैं, दान देते हैं, थोड़ी सी सेवा करते हैं और चाहते हैं हमारा नाम हो, प्रशंसा हो। यदि अट्ठम तप किया है तो देवता स्वप्न में आकर दर्शन दें– यह सब आकांक्षाएँ सत्कर्म के फल को क्षीण करने वाली हैं।

भगवान महावीर के जीवन चरित्र में वर्णन आता है कि जब चन्दन-बाला ने प्रभु महावीर को उड़द बाकुले बहराये तो आकाश से रत्नों की वर्षा हुई। वह सम्पूर्ण धरती रत्नों से, हीरो-पन्नों से भर गयी। यह देखकर एक वेश्या ने भी अपने गुरुजी को बुलाया और खूब मिष्ठान्न खिलाये। फिर बार-बार आकाश की तरफ देखने लगी। यह देखकर बाबाजी ने पूछा – बार-बार ऊपर क्यों देख रही हो? वेश्या ने चन्दनबाला का प्रसंग बतलाते हुए कहा – मेरे घर रत्नों की वर्षा क्यों नहीं हुई? बाबाजी बोले –

वा सती वो साध थो, तू वेश्या मैं भांड।
थांरे-म्हारे योग सूं, पत्थर पडसी रांड।।

कहने का भाव यह है कि निष्काम भाव से सुपात्र को दिया हुआ उड़द का बाकला भी कितना महान् फल देने वाला सिद्ध हुआ। इसी प्रकार आत्मशुद्धि के उद्देश्य से किया गया तप,जप, दान आदि सभी सत्कर्म महान् फलदायी होते हैं। भगवान महावीर ने इसीलिए कहा है – **''नो पूयणं तवसा आवहेज्जा''** तप से पूजा आदि की कामना मत करो। तपस्या का पवित्र लक्ष्य आत्मशुद्धि एवं कर्म निर्जरा ही होना चाहिए।[6]

इस समस्त विवेचन का सार यही है कि साधक के सामने तप का उद्देश्य महान् और ऊँचा रहना चाहिए। मुक्ति एवं मोक्ष सुख को लक्ष्य में रखकर ही तप साधना करनी चाहिए।

प्राय: नास्तिक विचारक तपस्या को देह दण्डन, देह कष्ट रूप मानते हैं, लेकिन यह उचित नहीं है। जैन दार्शनिक भाषा में प्रत्युत्तर दें तो यह स्पष्ट है कि तप में देह दण्डन किया नहीं जाता, हो जाता है। तप का प्रयोजन आत्म

परिशोधन है न कि देह-दण्डन। घृत की शुद्धि के लिए घृत को तपाना होता है न कि पात्र को। उसी प्रकार आत्मशुद्धि के लिए आत्म-विकारों को तपाया जाता है न कि शरीर को। शरीर तो आत्मा का भाजन (पात्र) होने से तप जाता है, तपाया नहीं जाता। जिस तप में मानसिक कष्ट हो, वेदना हो, वह तप नहीं है। पीड़ा का होना एक बात है और उसकी अनुभूति करना दूसरी बात है। तप में पीड़ा हो सकती है लेकिन व्याकुलता की अनुभूति नहीं। पीड़ा शरीर का धर्म है और व्याकुलता की अनुभूति आत्मा का। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें पीड़ा व अनुभूति को पृथक्-पृथक् देखा जा सकता है। जैन बालक जब उपवास करता है तो उसे भूख की पीड़ा अवश्य होगी, लेकिन वह पीड़ा व्याकुलता की अनुभूति नहीं करता। वह उपवास, तप के रूप में करता है और तप तो आत्मा का आनन्द है। तो कहना यह है कि तप को केवल देह दण्डन मानना बहुत बड़ा भ्रम है। वह अपने आप में बहुत व्यापक है।[7]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जैन साधना में तप का उद्देश्य आत्म परिशोधन, पूर्वबद्ध कर्म-पुद्गलों को आत्म तत्त्व से पृथक् करना और शुद्ध आत्म तत्त्व को प्रकट करना ही सिद्ध होता है।

हिन्दू-परम्परा भी जैन-परम्परा के समान ही यह मानती है कि तप के द्वारा कर्म-रज दूरकर मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है। मुण्डकोपनिषद् के दूसरे मुण्डक का 11वाँ श्लोक इस सन्दर्भ में विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उसमें कहा गया है कि "जो शान्त विद्वत्जन वन में रहकर भिक्षाचर्या करते हुए तप और श्रद्धा का सेवन करते हैं। वे विरज हो- कर्म रज को दूरकर सूर्य द्वारा ऊर्ध्व मार्ग से वहाँ पहुँच जाते हैं जहाँ वह पुरुष (आत्मा) अमूल्य एवं अव्यय होकर निवास करता है।"

बौद्ध साधना में तप का प्रयोजन पापकारक अकुशल धर्मों को तपा डालना माना गया है। इस सन्दर्भ में बुद्ध और निर्ग्रन्थ उपासक सिंह सेनापति का संवाद पर्याप्त प्रकाश डाल देता है।[8]

इस प्रकार बौद्ध साधना में भी जैन साधना के समान, तप को आत्मा की अकुशल चित्तवृत्तियों को क्षीण करने हेतु स्वीकार किया गया है।

तप साधना के लाभ

कर्म शरीर को तपाने वाला अनुष्ठान तप कहलाता है। तप ज्योति भी है और ज्वाला भी है, तप शुद्धि भी है और सिद्धि भी है, तप साधना भी है और

मोक्ष का साध्य भी है। तीर्थङ्कर पुरुषों ने कहा है कि तपस्या से आत्म की परिशुद्धि होती है, सम्यक्त्व निर्मल बनता है तथा चेतना के स्वाभाविक गुण धर्म अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन व अनन्त चारित्र उज्ज्वल-उज्ज्वलतर बनते हैं। तपस्या का अपर नाम त्याग और प्रत्याख्यान भी है।

एक बार गौतम स्वामी ने प्रभु महावीर से पूछा कि प्रत्याख्यान से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है? भगवान इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि

पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरूंभइ ।
पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ ।।

प्रत्याख्यान करने से आस्रव द्वारों का यानी कर्माणुओं के आने के मार्ग का निरोध होता है तथा प्रत्याख्यान (त्याग) करने से इच्छाओं का निरोध हो जाता है। इच्छा निरोध होने से यह जीव सर्व द्रव्यों, पदार्थों में तृष्णा रहित हो जाता है और तृष्णा रहित होने से वह परम शान्ति को प्राप्त होता हुआ विचरता है।[9]

तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का प्रत्याख्यान (त्याग) किया जाता है फिर उस वस्तु को प्राप्त करने अथवा प्राप्त हुई का उपभोग करने की इच्छा नहीं होती। इस प्रकार इच्छा निरोध से इस जीव की समस्त पदार्थों पर से तृष्णा उठ जाती है और जब तृष्णा उठ गयी तो फिर बाह्य और आभ्यन्तर के सन्ताप से रहित होकर वह परम शान्ति में विचरण करता है।

भगवान महावीर ने उत्तराध्ययनसूत्र में तप का मुख्य लाभ बतलाते हुए यह भी कहा है कि **"तवेण वोदाणं जणयइ"** तप से जीव व्यवदान अर्थात पूर्व सञ्चित कर्मों का क्षय करके आत्मशुद्धि की प्राप्ति करता है।[10]

कहने का मूलार्थ यह है कि तप एक प्रकार की विशिष्ट अग्नि है जो कर्ममल को जलाकर भस्मसात कर देने का पूर्ण सामर्थ्य रखती है। इसी बात को पुष्ट करते हुए प्रभु महावीर ने एक जगह पुनः कहा है कि– **"तवेण परिसुज्झइ"** तपस्या से आत्मा की विशुद्धि होती है।[11]

जिस प्रकार कोई बड़ा तालाब जल आने के मार्ग का निरोध करने से, जल को उलीचने से, सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है उसी प्रकार संयमी पुरुष के पाप कर्म के आने के मार्ग का निरोध होने से करोड़ों भवों के संचित कर्म तपस्या के द्वारा निजीर्ण हो जाते हैं।[12]

उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार शान्त्याचार्य ने तप योग के निम्न परिणाम कहे हैं। तदनुसार निःसंगता, शरीर लाघव, इन्द्रिय विजय, संयम रक्षा, शुभ ध्यान और कर्म निर्जरा– ये तप के मुख्य परिणाम हैं।[13]

इसी तरह छेद ग्रन्थों में प्रमुख दशाश्रुतस्कन्ध में आचार्य भद्रबाहु ने तप के परिणाम बताते हुए कहा है कि **''तवसा अवहट्ट लेसस्स दंसणं परिसुज्झइ''** तपस्या से लेश्याओं को संवृत करने वाले साधक का दर्शन अर्थात सम्यक्त्व परिशुद्ध होता है, निर्मल होता है।[14]

इसी प्रकार के महान् फल की प्राप्ति वैदिक ग्रन्थों में भी मानी गयी है। मैत्रायणी आरण्यक में कहा गया है कि[15]

तपसा प्राप्यते सत्वं, सत्वात् संप्राप्यते मनः ।
मनसा प्राप्यते त्वात्मा, ह्यात्मापत्त्या निवर्तते ।।

तप के द्वारा सत्त्व (मनोविजय की ज्ञान शक्ति) प्राप्त होता है, सत्त्व से मन वश में होता है, मन वश में होने से दुर्लभ आत्मत्त्व की प्राप्ति होती है और आत्मा की प्राप्ति हो जाने पर संसार से छुटकारा मिल जाता है तथा आत्मा कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाती है।

इस प्रकार जैनेतर दर्शनों ने भी तप का अन्तिम लाभ मोक्ष माना है। महर्षि वशिष्ठ से पूछा गया कि संसार में सबसे दुर्लभ अथवा दुष्प्राप्य क्या है? उन्होंने कहा - मोक्ष! फिर पूछा गया - वह दुष्प्राप्य मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है? तो उत्तर दिया– **''तपसैव महोग्रेण यद् दुरापं तदाप्यते''** अर्थात संसार में जो सर्वाधिक दुर्लभ वस्तु है वह तपस्या के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।[16]

उक्त विवेचन का सार यही है कि तपस्या के द्वारा इच्छाओं का निरोध होकर आत्मा स्व-स्वरूप को उपलब्ध करती है। इसलिए कहा जा सकता है कि तप का मुख्य लाभ निर्वाण प्राप्ति है।

तप और आसन

तप संकल्प शक्ति का एक उत्कृष्ट रूप है तो आसन मनः स्थैर्य का एक श्रेष्ठ अभ्यास है। यदि सूक्ष्म बुद्धि से मनन करें तो यह सहजगम्य हो जाता है कि तप एवं आसन दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। तपश्चर्या में आसन योग समाहित है तो आसनयोग में तप भी समाविष्ट है।

सुखपूर्वक अधिकतम समय तक स्थिर होकर शरीर को साधना आसन कहलाता है। साधक तपश्चर्या में किसी न किसी स्थिति में शरीर को साधकर रखता है। स्वामी स्वात्माराम ने आसन की यथार्थ स्थिति का चित्रण करते हुए कहा है कि आसन से न केवल शरीर स्वस्थ रहता है बल्कि वह शरीर के भारीपन को दूरकर उसे आलस्य मुक्त रखता है। बाह्यत: तप का भी यही प्रभाव देखा जाता है।[17] बौद्ध धर्म में तपश्चर्या के लिए आसन को अनिवार्य माना है। वैदिक परम्परा भी 'स्थिर सुखमासनं' को स्वीकार करती है। सामान्यतया त्रिविध-परम्पराओं में तपोयोग हेतु निश्चित आसनों के प्रयोग का निर्देश है। जिस आसन द्वारा मन स्थिर होता है वही आसन तपाराधना के लिए उपयोगी कहा गया है।

तप साधना काल में चित्तस्थैर्य परमावश्यक है और उसका सद्भाव पद्मासन, सिद्धासन, वज्रासन आदि से ही शक्य है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि तप और आसन के बीच एक अविभाज्य सम्बन्ध है।

तप और प्राणायाम

तपश्चर्या के यथार्थ स्वरूप को उजागर करने में प्राणायाम एक महत्त्वपूर्ण घटक है। प्राणायाम के द्वारा प्राण का नियन्त्रण एवं मन की चञ्चलता दूर होती है। तपश्चर्या के लिए मन की एकाग्रता अनिवार्य है। उस स्थिति में प्राणायाम प्रयोग से तपःसाधना को सुलभ और सरल बनाया जा सकता है। वायु के ग्रहण और निष्कासन की प्रक्रिया श्वसन-क्रिया है। इसी श्वसन-प्रणाली को नियन्त्रित करना प्राणायाम है।

योग दर्शन के अनुसार प्राणायाम चित्त संस्कारों को स्थिर बनाकर अविद्या आदि क्लेशों को नष्ट कर विवेक ख्याति को प्राप्त कराने में सहायकभूत है।[18] वैदिक मन्तव्य में विवेक ख्याति ही ज्ञान का चरमोत्कर्ष है और प्रकारान्तर से इसे ही तप का परम उत्स स्वीकार किया गया है।

बौद्ध मत में प्राणायाम 'आनापानस्मृति' के नाम से विश्रुत है। इसके अभ्यास से कर्मस्थान की भावना सिद्ध होती है जो तप का ही प्रतिरूप है। इसकी सहायता से बौद्ध अनुयायी विशेष फल को प्राप्त करते हैं।[19]

जैन चिन्तन में प्राणायाम, तपश्चर्या का एक प्रमुख साधन माना गया है। तपश्चर्या में मन को संक्लेश रहित करने एवं शरीर को साधने में प्राणायाम आधारभूत तत्त्व है।

श्रमण एवं वैदिक संस्कृति की प्राय: सभी परम्पराओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणायामों का उल्लेख है जो शरीर स्थित विभिन्न प्रकार की वायु को नियन्त्रित कर मन चञ्चलता को दूर करते हैं। मन की चञ्चल वृत्तियों को शान्त किये बिना तपोयोग सम्भव नहीं है। शरीर शास्त्र के अनुसार मन और वायु के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राणायाम वायु को नियन्त्रित करके सम्पूर्ण देह को नियन्त्रण में रखता है। शरीर नियन्त्रण का अभिप्राय इन्द्रिय नियन्त्रण है। शरीर एवं इन्द्रिय इन दोनों के नियन्त्रण से तपश्चर्या क्षेत्र में समुचित विकास कर जीवन के चरम-लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

उक्त वर्णन के आधार पर कह सकते हैं कि तप सिद्धि के लिए प्राणायाम एक आवश्यक साधन है। प्राणायाम से तप:कर्म को दृढ़ बल एवं पुष्ट आधार प्राप्त होता है, तपो साधना में अभिवृद्धि होती है एवं तपश्चर्या का मार्ग निष्कण्टक बनता है। अत: तप काल में प्राणायाम अवश्य करना चाहिए।

तप और ध्यान

तपश्चर्या में ध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ध्यान मन की चंचलता-विकलता-विषमता को हटाकर उसे आत्म केन्द्रित करता है जिसका अवसान समाधि माना गया है। स्वरूपत: तप का उत्स भी प्रकारान्तर से समाधि ही माना जाता है, क्योंकि तपस्वी को वैरागी कहा जाता है। वैरागी वही कहलाता है जो वासना रूपी संस्कार को निर्मूल कर देता है। समाधि की पूर्ण अवस्था इसी स्थिति का द्योतक है।

महर्षि पतञ्जलि ने उक्त कथन की स्पष्टता में कहा है कि ध्यान के निरन्तर अभ्यास से कुसंस्कारों का अभाव हो जाता है और यह अवस्था निर्बीज समाधि है।[20] बौद्ध-परम्परा में चित्त कुशलों को स्थिर करना ही ध्यान माना गया है और इसी ध्यान को निर्वाण प्राप्ति में साधकतम कहा है। जैन परम्परा में चित्त एकाग्रता को ध्यान कहा है तथा उसे संवर और निर्जरा का कारण बतलाया है जो अन्तत: मोक्ष-प्राप्ति का हेतु बनता है।[21]

तपश्चर्या और ध्यानाभ्यास में मुख्यत: भेद नहीं है। भारतीय चिन्तकों ने ध्यान के पर्याय के रूप में तप, समाधि, स्वान्तनिग्रह, अन्तःसंलीनता, समरसी भाव जैसे– शब्दों का प्रयोग किया है। इस सम्बन्ध में मूल पाठ निम्नोक्त है –

योगो ध्यानं समाधिश्च, धी-रोधः स्वान्तनिग्रहः,
अन्तःसंलीनता चेति, तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः।[22]

अत: स्पष्ट है कि प्रयोजन की दृष्टि से तप और ध्यान में प्राय: साम्य है। आत्मा में इन दोनों का समन्वय स्थापित करते हुए कहा गया है कि आत्मा, अपनी आत्मा के द्वारा, अपनी आत्मा के लिए, अपनी आत्मा के हेतु से, अपनी आत्मा में, अपनी आत्मा का ही ध्यान करता है।[23]

तपश्चर्या और ध्यान काल में मूलत: आत्मतत्त्व का ही अनुभव करना होता है। इस प्रकार किञ्च हेतुओं से ध्यान और तप समस्तरीय हैं। यद्यपि तपश्चर्या ध्यान युक्त हो तो पूर्ण फलदायी होती है तथा अनन्तर से मोक्ष सुख उपलब्ध करवाती है।

विविध दृष्टियों से तप साधना की मूल्यवत्ता

जैन साधना का लक्ष्य मोक्ष या शुद्ध आत्म तत्त्व की उपलब्धि है और वह तप साधना से ही संभव है। भारतीय परम्परा में तप का क्या स्थान है? तप योग का मूल्य क्या है? इस तथ्य के सम्बन्ध में जैन साहित्य ही नहीं, वरन् हिन्दू और बौद्ध आगमों में भी विशद वर्णन प्राप्त होता है।

तप भारतीय साधना का प्राण है। जिस प्रकार शरीर में उष्मा जीवन के अस्तित्व का द्योतक है, उसी प्रकार साधना में तप भी उसके दिव्य अस्तित्व का बोध कराता है। तप आध्यात्मिक उष्मा है। धर्म के बिना अहिंसा, संयम और सत्य का कोई अस्तित्व नहीं है। तप रहित अहिंसा, अहिंसा नहीं है, तप रहित सत्य, सत्य नहीं है, तप रहित साधना, साधना नहीं है। इसीलिए धर्म की व्याख्या करते हुए आगमों में कहा गया है कि **"अहिंसा संजमो तवो।"**

अहिंसा, संयम और तप - यह धर्म की त्रिवेणी है। धर्म की इस त्रिपथगा में तप अन्त में है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह तृतीय श्रेणी का धर्म है, किन्तु इससे यही सिद्ध होता है कि तप सर्वोपरि है और वह अहिंसा एवं संयम साधना के लिए भी आवश्यक है। बिना तप के अहिंसा एवं संयम अपने पूर्णत्व स्वरूप को प्राप्त नहीं होते।

तप का दायरा अत्यन्त व्यापक है, इसलिए उसका मूल्यांकन अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है।

जैन धर्म की दृष्टि से– जैन धर्म में तप को धर्म का प्राण तत्त्व माना गया है। जैन धर्म का मुख्य स्तम्भ श्रमण कहा जाता है, वह तप की साक्षात प्रतिमा होता है। आपको अवगत होगा कि आज जिसे हम जैन धर्म कहते हैं वह प्राचीन

समय में 'निर्ग्रन्थ धर्म' या 'श्रमण धर्म' कहलाता था। जैन आगमों से ज्ञात होता है कि प्राचीन युग में भगवान महावीर को 'जैन मुनि' नहीं, किन्तु स्थान-स्थान पर 'निग्गंथे नायपुत्ते'' अथवा ''समणे भगवं महावीरे'' इन्हीं विशेषणों से पुकारा गया है। इससे यह पता चलता है कि पूर्वकाल में जैन मुनियों को निर्ग्रन्थ और श्रमण कहा जाता था।

भगवान महावीर ने साधु के चार नाम बताये हैं[24]–

माहणे त्ति वा, समणे त्ति वा।
भिक्खु त्ति वा, निग्गन्थे त्ति वा।।

इन नामों का विश्लेषण करते हुए वृत्तिकार आचार्य शीलांक ने कहा है– किसी भी प्राणी की हिंसा न करने की जिसकी प्रवृत्ति है वह माहन कहलाता है। जैसा कि मूल पाठ है – **''माहण त्ति प्रवृत्तिर्यस्याऽसौ माहनः।''**

जो शास्त्र की नीति एवं मर्यादा के अनुसार **''यः शास्त्रनीत्या तपसा कर्म भिनत्ति स भिक्षुः।''** तप साधना करता हुआ कर्म बन्धनों का भेदन करता है, वह भिक्षु है।[25]

आचार्य भद्रबाहु के अनुसार **''जो भिंदेइ खुहं खलु सो भिक्खू भावओ होइ।''** जो मन की भूख अर्थात तृष्णा एवं आसक्ति का भेदन करता है, वही भाव रूप में भिक्षु है।[26]

निर्ग्रन्थ की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि **''निग्रतो ग्रंथाद निर्ग्रन्थः।''** जो ग्रन्थि यानी गांठ से रहित है, वह निर्ग्रन्थ है।[27]

श्रमण को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि **''श्राम्यति तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमणः''** अर्थात जो तपस्या के द्वारा शरीर को खेद-खिन्न करता है वह श्रमण है।[28]

यहाँ 'श्रमण' शब्द को विश्लेषित करने का अभिप्राय यह है कि उसे जैनागमों में तपस्वी का वाचक और प्रतीक माना गया है। जैन धर्म की यह गौरवमयी परम्परा श्रमण के बल पर ही प्रवर्तित है। यदि श्रमण जैसा साधक मौजूद न हो तो तप धर्म ही क्या, जैन धर्म भी जीवन्त नहीं रह सकता। जैन श्रमण का साधना मन्त्र ही तप होता है।

जैन धर्म के ऐतिहासिक ग्रन्थों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि यहाँ जितने भी महापुरुष हुए हैं उन सभी ने तप द्वारा उच्च पद को प्राप्त किया

है। इस विश्व में जितने भी श्रेष्ठ पद हैं उन्हें तप के द्वारा ही प्राप्त किया गया है। इस युग के आदिपुरुष, प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव ने एक हजार वर्ष तक कठोर तपश्चर्या करके केवलज्ञान प्राप्त किया।[29] शायद हम ऐसा मान लेते हैं कि महापुरुषों को सहज ही सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं किन्तु वैसा "न भूतो न भविष्यति।"

भगवान महावीर ने भी साढ़े बारह वर्ष की उग्र तपस्या द्वारा ही केवलज्ञान को उपलब्ध किया। उनकी कठोर तप साधना का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में भी किया गया है। वहाँ प्रभु महावीर को "दीघतपस्सी" कहा गया है। आचारांग, आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि आदि ग्रन्थों में भी भगवान महावीर की कठिन तपस्या का रोमांचकारी वर्णन प्राप्त होता है। आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौवें अध्ययन का पठन तो हृदय को द्रवित कर देता है, पाठक घोर आश्चर्य में डूब जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने यहाँ तक लिखा है कि अन्य तीर्थङ्करों की अपेक्षा भगवान महावीर का तप कर्म अत्यन्त उग्र था।[30]

बोलचाल की भाषा में कहा जा सकता है कि तेईस तीर्थङ्करों की तपस्या एक तरफ और भगवान महावीर की तपस्या एक तरफ यानी तेईस तीर्थङ्करों की तुलना में भगवान महावीर की तपो साधना कई गुणा अधिक थी। सामान्य तौर पर कहें तो उन्होंने बारह वर्ष और तेरह पक्ष की दीर्घ अवधि में मात्र 349 दिन आहार ग्रहण किया था, शेष दिन वे निर्जल और निराहार ही रहे।[31] प्रभु के तप साधना की तालिका इस प्रकार है[32]– एक–छः मासी तप, एक–पाँच दिन न्यून छः मासी तप, नौ– चातुर्मासिक तप, दो– त्रिमासिक तप, दो– सार्ध द्विमासिक तप, छह– द्विमासिक तप, दो–सार्ध मासिक तप, बारह– मासिक तप, बहत्तर– पाक्षिक तप, एक–भद्र प्रतिमा (दो दिन), एक– महाभद्र प्रतिमा (चार दिन), एक– सर्वतोभद्र प्रतिमा (दस दिन), दो सौ उनतीस– छट्ठ भक्त, बारह– अष्टम भक्त।

इसके अतिरिक्त संगमदेवकृत उपसर्ग, शूलपाणियक्ष कृत उपसर्ग, चण्डकौशिक सर्प द्वारा दिया गया उपसर्ग, कटपूतना नामक व्यन्तरी देवी द्वारा किया गया उपसर्ग, लम्बी अवधि तक नासाग्र दृष्टि ध्यान, खड़े-खड़े कायोत्सर्ग ध्यान, कीट-जन्तुओं द्वारा किये गये उपद्रव, अभिग्रह, रूक्ष तुच्छ आहार का सेवन आदि द्वादश प्रकार सम्बन्धी तपो योग की संख्या तो अनगिनत है।

भगवान महावीर के जीवन का तलस्पर्शी अध्ययन किया जाये तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि वे तपो विज्ञान के एक अद्वितीय महापुरुष थे। उन्होंने अपने समय में प्रचलित देह दमन रूप बहिर्मुख तप को आभ्यन्तर तप के साथ जोड़ उसे व्यापक और आध्यात्मिक रूप प्रदान किया।

तप की मूल्यवत्ता को समझने के लिए यह कहना भी आवश्यक होगा कि भगवान महावीर ने स्वयं ही तप कर्म नहीं किया अपितु उनके शिष्य और शिष्याएँ भी उत्कृष्ट तप की साधना करती रही हैं। अन्तकृत्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा आदि आगम पृष्ठों पर धन्ना अणगार, प्रसन्नचन्द्र राजर्षि, मेताराज मुनि जैसे– उग्र साधकों के तप की एक लम्बी सूची प्राप्त होती है।[33] शेष बाईस तीर्थङ्कर भी छद्मस्थ अवस्था में तप साधना से जुड़े रहे हैं। यदि सभी तीर्थङ्करों के पूर्व भवों का अध्ययन करें तो पता चलता है कि उन्होंने पूर्व भवों में महान् तपाराधनाएँ की थीं। बीस स्थानक तप की आराधना करने का उल्लेख तो सभी तीर्थङ्करों के लिए समान रूप से प्राप्त होता ही है। पूर्वाचार्यों एवं गीतार्थ मुनियों ने इस बात की पुष्टि करते हुए कहा है – ''तीजे भव वर थानक तपकरी, जेणे बांध्यु जिन नाम'' इसी प्रकार अन्य तपों का वर्णन भी पढ़ने को मिलता है जैसे कि आवश्यकनिर्युक्ति,[34] आवश्यकचूर्णि[35] और समवायांगटीका[36] के अनुसार भगवान महावीर के जीव ने नन्दनभव (25वाँ भव) में एक लाख वर्ष तक निरन्तर मासक्षमण की तपस्या की थी और उन मासक्षमणों की संख्या 11,60,000 थी।[37] तप महत्त्व के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि सभी तीर्थङ्कर तप के साथ ही प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं, उन्हें तप युक्त अवस्था में ही केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति होती है तथा उन्हें निर्वाणपद की प्राप्ति भी तप कर्म के साथ ही होती है।

किस तीर्थङ्कर ने कौन से तप के साथ दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण को प्राप्त किया यह वर्णन भी स्पष्ट रूप से देखा जाता है। आगे तप विधियों में इसकी पर्याप्त चर्चा करेंगे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जैन धर्म में तपश्चरण की परम्परा अनादि, तीर्थङ्कर सेवित व अविच्छिन्न रूप से प्रवर्तित है।

तीर्थङ्कर की दृष्टि में– सामान्यतया श्रेष्ठता की पृथक्-पृथक् श्रेणियाँ होती है। जैनत्व की अपेक्षा इस दुनियाँ में तीर्थङ्कर पुरुष सर्वोत्कृष्ट श्रेणी में आते हैं, कोई भी व्यक्ति उनकी बाह्य या आभ्यन्तर शक्ति की तुलना में नहीं होता। हमसे

बहुत अधिक शक्ति सम्पन्न देवी-देवता भी तीर्थङ्करों के चरण-युगलों में मस्तक टिकाये हर पल सेवारत रहते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने वीतरागस्तोत्र में कहा है कि तीर्थङ्कर पुरुष एक करोड़ देवता से सदैव परिवृत्त रहते हैं अर्थात उनकी सेवा में एक करोड़ देव हमेशा विद्यमान रहते हैं।[38] णमुत्थुणं (शक्रस्तव) में तीर्थङ्करों को 'लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं' – लोक में उत्तम, लोक के नाथ आदि विशेषणों से सम्बोधित कर उनकी स्तुति की गयी है। पूर्व पुरुषों के निर्देशानुसार कहा जाता है कि संसार में उनके जैसा अन्य कोई जीव पुण्यशाली नहीं होता। वे अनन्तबल, अनन्तसुख और अनन्तसम्पदा के स्वामी होते हैं।

हाँ, तो यहाँ तीर्थङ्कर पद की चर्चा करने का भाव यह है कि यह संसार की उत्कृष्ट पदवी तप साधना से प्राप्त होती है। ज्ञाताधर्मकथासूत्र में तीर्थङ्कर गौत्र बांधने के बीस उपाय बतलाये गये हैं। उनमें सेवा, स्वाध्याय, तपश्चर्या, गुरुभक्ति, ज्ञानाराधना आदि का अन्तर्भाव होता है।[39] ये उपाय बारह प्रकार के तप में गिने जाते हैं। जब साधक निर्दिष्ट उपायों को उत्कृष्ट रूप से वहन कर भाव विशुद्धि को प्राप्त करता है तभी वह तीर्थङ्कर गौत्र कर्म का उपार्जन करता है। यह अनुभूत सत्य है कि बिना साधना के सिद्धि नहीं मिलती। जैन धर्म में साधना का एक अर्थ तप है।

तीर्थङ्करों के बाद भावितात्मा अणगारधर्मी यानी मुनि धर्म का पद श्रेष्ठ माना गया है। यह साधु का पद भी तप साधना के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। "साधु होवै सो साधै काया" जो शरीर को, मन को साधता है, तपाता है, वही साधु होता है। पूर्व में श्रमण की व्याख्या में भी बताया गया है कि जो श्रम करता है, तप करता है वही श्रमण, वही तपस्वी होता है।

सारांश यह है कि तीर्थङ्कर और मुनि जैसे दुर्लभ पद भी तपोयोग से सहज हासिल होते हैं।

ग्रन्थों की दृष्टि से– जैन परम्परा के कई ग्रन्थों में तप महत्ता के स्वर गुंजायमान है। उपाध्याय यशोविजय जी रचित 'ज्ञानसार' का 31वाँ अष्टक तप सम्बन्धित है। इस अष्टक के प्रारम्भ में बाह्य और आभ्यन्तर द्विविध तपों को इष्ट माना गया है। अन्तरंग तप तो इष्ट होता ही है किन्तु उसे वृद्धिगत करने वाला होने से बाह्य तप भी इष्ट रूप से आचरणीय है। इसमें तपस्वी कौन? तप साधना का अधिकारी कौन? तप साधना के आवश्यक नियम आदि विषयों पर सम्यक्

प्रकाश डाला गया है। सोमप्रभसूरि (तेरहवीं शती) रचित सिन्दूरप्रकरण में तप का मूल्यांकन करते हुए कहा गया है कि

यत् पूर्वार्जितकर्मशैल कुलिशं, यत्कामदावानल-
ज्वालाजालजलं यदुग्रकरण, ग्रामाहिमन्त्राक्षरम्।
यत्प्रत्यूहतमः समूहदिवसं, यल्लब्धि लक्ष्मीलता-
मूलं तद्विविधं यथाविधि तपः, कुर्वीतवीतस्पृहः ।।81।।

तप का प्रभाव अचिन्त्य है। यह तप पूर्व सञ्चित कर्म रूपी पर्वतों के लिए वज्र समान, काम रूपी दावानल को शान्त करने के लिए जल समान, अत्यन्त उग्र इन्द्रिय समूह रूपी सर्प विष को दूर करने के लिए मन्त्राक्षर समान तथा विघ्न रूप गाढ़ अन्धकार का भेदन करने के लिए दिन के समान है।

इसका स्पष्टार्थ यह है कि जो आत्माएँ निस्पृह भाव से विधि पूर्वक तपाराधना करती हैं उन आत्माओं के द्वारा पूर्व भवों में उपार्जित किये गये कर्म रूपी पर्वतों को तप रूपी वज्र क्षणभर में विनष्ट कर देता है, जिसके हृदय में काम रूपी दावानल की प्रचण्ड ज्वालाएँ सुलग रही हों वह आत्मा तप धर्म रूप जल द्वारा उन ज्वालाओं को शान्त कर देता है, अत्यन्त उग्र स्वभावी इन्द्रियों के विष को तप रूपी मन्त्राक्षर क्षणार्ध में दूर कर देते हैं। विघ्न रूप गाढ़ अन्धकार तपाराधना रूप दिवस द्वारा नष्ट हो जाता है तथा लब्धि रूपी लक्ष्मी लता की जड़ तपाराधना है अर्थात तपाराधना द्वारा अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसलिए निस्पृह भाव से विधि पूर्वक तप करना चाहिए।

सिन्दूरप्रकरण के ग्रन्थकार तप धर्म के मूल्य का वर्णन करते हुए यह भी कहते हैं कि

यस्माद् विघ्नपरंपरा विघटते, दास्यं सुराः कुर्वते,
कामः शाम्यति दाम्यतीन्द्रियगणः, कल्याणमुत्सर्पति ।
उन्मीलन्ति महर्धयः कलयति, ध्वंसं चयः कर्मणां,
स्वाधीनं त्रिदिवं शिवं च भवति, श्लाघ्यं तपस्तन्न किम्।।82।।

तप धर्म की आराधना से विघ्न की परम्परा का नाश होता है, देवता सेवा करते हैं, कामवासनाएँ शान्त हो जाती हैं, इन्द्रिय नियन्त्रण की शक्ति प्रगटती है, कल्याण का विस्तार होता है, महान् ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं, कर्म समूह का नाश होता है, स्वर्ग स्वाधीन होता है और मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। इस तरह तपोयोग निर्मूलतः प्रशंसा योग्य है।

ग्रन्थकार तप धर्म की महत्ता दर्शाते हुए इस बात को सिद्ध करते हैं कि कर्म समूह को नष्ट करने के लिए तप के सिवाय अन्य कोई साधन नहीं है–

कान्तारं न यथेतरो ज्वलयितुं, दक्षो दवाग्निं विना,
दावाग्निं न यथापरः शमयितुं, शक्तो विनाम्भोधरम् ।
निष्णातः पवनं विना निरसितुं, नान्यो यथाम्भोधरम्,
कर्मौघं तपसा विना किमपरो, हन्तुं समर्थस्तथा ।।83।।

जिस प्रकार जंगल को नष्ट करने के लिए सामान्य अग्नि नहीं, वहाँ तो दावानल ही उपयोगी होता है, दावानल को शान्त करने के लिए कूप, सरोवर आदि का अल्प जल काम नहीं आता, वहाँ बादल की वर्षा ही दावानल को शान्त कर सकती है तथा बादलों के समूह को छिन्न-भिन्न करने के लिए पंखे का पवन काम नहीं आता वहाँ तो प्राकृतिक प्रचण्ड पवन ही मेघ समूह को बिखेर सकता है, उसी प्रकार कर्म समूह का नाश सामान्य क्रियाकाण्ड रूप धर्म से सम्भव नहीं है। उन्हें नष्ट करने में तप आराधना ही समर्थ होती है। इस चर्चा से सिद्ध होता है कि कर्म समूह को भस्मीभूत करने में तप धर्म ही शक्तिशाली है।

सिन्दूरप्रकरण के रचयिता निम्न श्लोक द्वारा तप धर्म के आभ्यन्तर गुणों को दर्शाते हुए उसका महत्त्व बताते हैं कि

संतोषस्थूलमूलः प्रशमपरिकरः, स्कन्धबन्धप्रपंचः,
पंचाक्षीरोधशाखः स्फुरदभयदलः, शीलसंपत्प्रवालः ।
श्रद्धाम्भः पूरसेकाद्विपुलकुलबलैश्वर्य सौन्दर्यभोगः,
स्वर्गादिप्राप्ति पुष्पः शिवपद फलदः, स्यात्तपः पादपोऽयम्: ।।84।।

इस श्लोक में तप धर्म को कल्पवृक्ष की उपमा से उपमित करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि फैली हुई तप रूप कल्पवृक्ष की मुख्य जड़ सन्तोष गुण प्रधान है, उस वृक्ष की शाखा आदि (स्कन्ध बंध) शान्ति के उपकरण हैं, पाँच इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखना– वह कल्पवृक्ष की छोटी-बड़ी डालियाँ हैं, जीवों को अभयदान देना– कल्पवृक्ष का पत्र समूह है, शील रूप सम्पत्ति को सहेज कर रखना– कल्पवृक्ष के नवीन पत्रों का उद्भव है, श्रद्धा रूप जल के सिंचन से प्रकट हुआ उच्च कुल, बल, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, सांसारिक सुखोपभोग और स्वर्गादि की प्राप्ति– ये सभी कल्पवृक्ष के पुष्प हैं तथा मोक्ष की प्राप्ति यह कल्पवृक्ष का फल है। इस वर्णन से कहा जा सकता है कि तप धर्म सभी धर्मों

का मूल है और इसके माध्यम से समग्र सिद्धियाँ एवं समृद्धियाँ पायी जा सकती हैं।

अन्य प्राचीन ग्रन्थों में तप का वैशिष्ट्य बतलाते हुए कहा गया है कि

अथिरंपि थिर वंकंपि, उज्जुअं दुल्लहं वि तह सुलहं।
दुरुज्झं वि सुरूज्झं, तवेण संपज्जए कज्जं।।

अर्थात तप के प्रभाव से अस्थिर मन स्थिर होता है, वक्र चित्त वाला सरल हो जाता है, दुर्लभ वस्तु सुलभ हो जाती है और दीर्घ प्रयत्न से सिद्ध होने वाला कार्य सरलता से हो जाता है। इससे अधिक क्या कहा जाये? जगत में कहीं भी किसी प्रकार का सुख देखा जाता है उसका कारण तप ही है।

आयुर्वेद की दृष्टि से– अनुभूति के स्तर पर कहा जाता है कि तप से तन की शुद्धि होती है, शरीर में रक्त का प्रवाह सही रूप से होता है, पाचनतन्त्र ठीक से संचालित रहता है। नियमित भोजन के सेवन से पाचन क्रिया गड़बड़ा जाती है, क्योंकि भोजन को पचाने वाला तन्त्र भी एक प्रकार से मशीन जैसा कार्य करता है। किसी भी मशीन का अधिक उपयोग करने पर उसका खराब होना निश्चित है जबकि तपस्या करते रहने पर उसे विश्राम मिलता है। दूसरी बात जब पाचन क्रिया ठीक नहीं होती है तो कई बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, किन्तु तप से रोगों का शमन होता है जैसे कि किसी व्यक्ति को कब्ज की तकलीफ है तो समझिये उसकी अग्नि (पाचनतन्त्र) मन्द है और उसके कारण गैस आदि बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं लेकिन तप करने से अग्नि की शक्ति स्वयमेव बढ़ जाती है और उसके प्रभाव से पाचनतन्त्र सुचारु रूप से कार्य करने लगता है। परिणामत: कब्जियत आदि की समस्याएँ दूर हो शरीर स्वस्थता को प्राप्त होता है। तप के दौरान नवीन अन्न ग्रहण न करने से पूर्व भुक्त अन्न का पाचन भी सम्यक् प्रकार से हो जाता है जिससे पुराने दोष भी नष्ट हो जाते हैं। प्रत्युत जमा हुआ पुराना मल तप से भस्म हो जाता है। कहने का भावार्थ यह है कि तप साधना से शरीर निरोग व पूर्ण स्वस्थ रहता है।

किंवदन्ती है कि एक बार देवताओं के वैद्य अश्विनी कुमार अद्भुत योगी का रूप बनाकर महान् चिकित्सक आचार्य वाग्भट्ट के पास पहुंचे, उनसे प्रश्न किया – वैद्य प्रवर! ऐसी कौनसी औषध है जो न पृथ्वी पर पैदा होती है, न पर्वत पर लगती है और न ही जल में पैदा होती है, जिसमें किसी प्रकार का रस

नहीं है तथापि वह शरीर के लिए अत्यन्त हितकर है।[40] वाग्भट्ट ने चिन्तन के सागर में डुबकी लगाते हुए कहा - आयुर्वेद में एक महान् औषधि है जो न भूमि पर पैदा होती है, न पर्वत पर और जल में ही। उस औषधि का नाम है लंघन।[41] योगी उस उत्तर को सुनकर प्रसन्न वदन वहाँ से प्रस्थित हो गया। इस वर्णन से निर्णीत होता है कि आयुर्वेद की अपेक्षा तप का गहरा महत्त्व है।

प्राकृतिक चिकित्सा की दृष्टि से– आधुनिक युग में प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति लोकमानस में अत्यधिक प्रिय बन चुकी है। यह अवगत होना चाहिए कि इस चिकित्सा पद्धति में किसी तरह की औषधि का उपयोग नहीं होता, केवल सात्त्विक भोजन या उपवास के द्वारा शारीरिक शुद्धि करवायी जाती है।

कुछ समय पूर्व इस चिकित्सा में चिकित्सज्ञ उपवास के दौरान नीबू, शहद, लोंग आदि का उपयोग करना आवश्यक मानते थे, परन्तु शनैः शनैः गहरे अनुसन्धान के बल पर वे इस निष्कर्ष पर पहुंच रहे हैं कि उपवास में केवल गरम पानी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं लेना चाहिए। उनका अभिमत यह है कि जब शरीर में भारीपन महसूस हो, दर्द, अपच या ज्वर आदि की स्थिति पैदा हो उस समय उपवास कर लेना चाहिए। उपवास से शरीर में जो निरुपयोगी या गन्दे कोश हैं वे शीघ्र ही बाहर निकल जाते हैं और शरीर रोगों से ठीक हो जाता है। उपवास द्वारा शरीर में हुई रक्त कणों की कमी धीरे-धीरे पूरी हो जाती है अर्थात श्वेत कण (WBC) क्रमशः घटने लगते हैं और रक्त कण (RBC) बढ़ने लगते हैं। इसके सिवाय यदि शरीर में शर्करा की मात्रा अधिक हो तो वह जलकर नष्ट हो जाती है।[42]

वस्तुतः उपवास के प्रारम्भिक काल में शरीर यन्त्र शुद्धि प्रारम्भ करता है जिससे शरीर में रहे हुए पुराने दोष मूत्र के द्वारा निर्गत होते हैं। गुर्दा मूत्र के द्वारा अन्दर में रहा हुआ कूड़ा बाहर फेंकता है। जब शरीर के सभी मल बाहर निकल जाते हैं तब मूत्र आदि में पूर्ण स्वाभाविकता आ जाती है। शरीर में बढ़ी हुई अम्लता भी उपवास से कम हो जाती है। कितने ही व्यक्तियों को उपवास काल में सिरदर्द, वमन, बेचैनी, घबराहट आदि अधिक मात्रा में होने लगती है। इससे अधिकांश व्रती यह समझते हैं कि अम्लता में वृद्धि हो रही है पर वास्तविकता यह है कि इससे पित्त आदि शरीर से बाहर होकर उसे रोगमुक्त बनाते हैं। जो अम्लता बाद में परेशान करती या नष्ट होती वह उपवास द्वारा पहले उदय में आकर क्षीण हो जाती है।

पूर्व में कह चुके हैं कि नियमित अथवा अधिक मात्रा में भोजन करने से शरीर यन्त्रों को पचाने के लिए उतना ही श्रम करना होता है। जब उपवास के माध्यम से भोजन बन्द कर दिया जाता है तब शरीर, पाचन संस्थान आदि सभी को विश्रान्ति मिलती है, परिणामस्वरूप शरीर में जमा हुआ मल बाहर निकल जाता है।

डॉ. जे.एच. टिडेन के मतानुसार शरीर के दूषित पदार्थों की निकासी के लिए उपवास से बढ़कर दूसरी कोई चिकित्सा नहीं है, यही एक विशिष्ट और विश्वसनीय उपचार है।[43]

डॉ. फेलेक्स एस.एल. आसवाल्ड के मन्तव्यानुसार शरीर की भीतरी सफाई के लिए उपवास सबसे उत्तम तरीका है। वर्ष भर में केवल तीन दिन के उपवास से शरीर की सफाई करने और विषैले पदार्थों को नष्ट करने में जितनी सफलता पा सकते हैं उतनी रक्तशोधक कड़वी औषधियों की सैकड़ों बोतलों के सेवन से भी नहीं मिल सकती।

शरीर विज्ञान के अनुसार शरीर के प्रत्येक अवयव में नित नये कोशों का निर्माण होता है। जितना अधिक शारीरिक श्रम किया जाता है, श्रम के अनुपात से कोश नष्ट होने की गति में भी अभिवृद्धि हो जाती है। नियमत: बाल्यकाल से कोशों में अभिवृद्धि होती है तथा प्रौढ़ावस्था में कोशों की वृद्धि रुककर स्थिर हो जाती है। इसी तरह रुग्णावस्था में भी कोशों की मात्रा घटने लगती है जबकि उपवास द्वारा देह शुद्धि होने से कोशों की घटती मात्रा में कमी आ जाती है।

वास्तविकता यह है कि उपवास काल में शरीर में से चर्बी कोश की मात्रा अवश्य कम होती है, किन्तु विभिन्न अवयवों को सञ्चालित करने की शक्ति बढ़ जाती है। इतना ही नहीं अतिरिक्त चर्बी दूर होने से शरीर में स्फूर्ति, मस्तिष्क में चिन्तन शक्ति और विचारों में स्फुरणाएँ बढ़ जाती हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों ने उपवास तप के सम्बन्ध में जो भी मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं वह तप की मूल्यवत्ता के विषय में बहुत कम हैं। तीर्थङ्कर पुरुषों ने इससे कई गुना अधिक शारीरिक लाभों को शास्त्रीय भाषा में उपदिष्ट किया है। आज विज्ञान जिसे सिद्ध कर रहा है या अनुसन्धान प्रयोग से कुछ प्रत्यक्ष करके दर्शा रहा है केवलज्ञानियों की ज्ञान पर्याय में वह सब बिना प्रयोग के प्रत्यक्ष सिद्ध है। उन्हें किसी प्रयोगशाला की जरूरत नहीं रहती।

आज के बुद्धिजीवियों को विश्वस्त करने हेतु वैज्ञानिक अनुसन्धान के उदाहरणों को प्रस्तुत किया गया है और उससे यह प्रमाणित होता है कि ज्ञान में अपूर्ण विज्ञान भी जब तप के मूल्य को प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा है तब पूर्ण ज्ञानी तीर्थङ्कर पुरुष का कहा हुआ अथवा जाना हुआ सत्यांश सत्य है। यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि उपवास काल में कभी-कभार रोग उभर आते हैं; किन्तु उनसे घबराने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्युत वह उभार रोग से मुक्त होने का लक्षण है।

वैज्ञानिक दृष्टि से– वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी तप: साधना का महत्त्व बहुत अधिक है। शरीर शास्त्रियों का मानना है कि शरीर का आभ्यन्तर यन्त्र रबड़ की नलियों के सदृश है, जो व्यक्ति अधिक भोजन करता है उसकी वह नली फैल जाती है। उस नली के फैलने से रक्त संचरण की स्वाभाविक क्रिया में व्याघात होता है जबकि उपवास आदि तप के दौरान भोजन ग्रहण न करने से नलियाँ सिकुड़कर अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाती हैं। रक्त में से व्यर्थ का पानी निकल जाता है और रक्त गाढ़ा बन जाता है जिससे शरीर में हल्कापन अनुभव होता है। किन्तु नलिकाओं की दीवार से शीघ्र ही पुराना श्लेष्म निकलकर रक्त मिश्रित हो जाता है फलत: व्यक्ति को बेचैनी का अनुभव हो सकता है, पर जब श्लेष्म मूत्र द्वारा बाहर निकल जाता है तो पुन: बेचैनी या घबराहट मिट जाती है। यही कारण है कि तपस्वियों को उपवास के पांचवें-छठें दिन की अपेक्षा बीसवें-इक्कीसवें दिन अधिक शक्ति का अनुभव होता है। शरीर में से सम्पूर्ण मल विकार निकल जाने से स्वस्थता में अभिवृद्धि होती है।

श्रुत आराधना की दृष्टि से– पूर्वाचार्यों ने कहा है कि

ज्ञान सार संसार मां, ज्ञान परम सुख हेत।
ज्ञान बिना जग जीवड़ो, न लहे तत्त्व संकेत।।

इस संसार में ज्ञान उत्तम है, वही परम सुख का हेतु है और उसके बिना इस जगत का कोई भी जीव तत्त्वबोध को प्राप्त नहीं कर सकता।

समस्त प्रकार के ज्ञानों में श्रुत ज्ञान श्रेष्ठ है, क्योंकि वह उन्मार्गगामी जीव को सन्मार्ग की ओर ले जाता है। इस श्रुत ज्ञान में अनेक गहन शास्त्रों का समावेश है इसीलिए आचार्य हरिभद्र ने उसकी तुलना समुद्र के साथ की है। वे भगवान महावीर की स्तुति करते हुए कहते हैं –

बोधागाधं सुपदपदवी, नीर पुराभिरामं,
जीवा हिंसा विरल लहरी, संगमागाहदेहं ।
चूलावेलं गुरुगम-मणी, संकुलं दूरपारं,
सारं वीरागमजलनिधिं, सादरं साधु सेवे ।।

वीर प्रभु का आगम समुद्र अपरिमित ज्ञान के कारण गम्भीर है, ललित पदों की रचना रूप जल से मनोहर है, जीवदया-सम्बन्धी सूक्ष्म विचारों रूप मोतियों से भरपूर होने के कारण उसमें प्रवेश करना कठिन है, चूलिका आलापकरूप रत्नों से भरपूर है और जिसको सम्पूर्ण रूप से पार करना अत्यन्त मुश्किल है, उस ज्ञान की मैं (आचार्य) आदरपूर्वक सेवा करता हूँ।

यहाँ श्रुत ज्ञान की विशिष्टता बतलाने का अभिप्राय यह है कि सामान्य पुरुष इस तरह के गहन श्रुत को सरलता से प्राप्त नहीं कर सकता, परन्तु विशिष्ट तप का आश्रय लेकर इस कार्य को शक्य किया जा सकता है। यही कारण है कि मुनियों के लिए योगोद्वहन का और गृहस्थों के लिए उपधान तप का विधान है।

यहाँ किसी के मनस केन्द्र में यह प्रश्न उभर सकता है कि सूत्र सिद्धान्तों को सम्यक् रीति से ग्रहण करने के लिए धारणा शक्ति अच्छी होनी चाहिए, सैद्धान्तिक अर्थों को भली-भाँति समझ सके उसके लिए बुद्धि तीव्र होनी चाहिए तथा सिद्धान्तों का सूक्ष्म रहस्य पाने के लिए एकाग्रता होनी चाहिए अर्थात लोक व्यवहार में ज्ञानार्जन के लिए धारणा, बुद्धि और एकाग्रता का होना आवश्यक मानते हैं फिर उसके स्थान पर योगोद्वहन और उपधान की योजना क्यों? इसका उत्तर यह है कि जब मानसिक जड़ता का नाश होता है और चित्त का विक्षेप अत्यन्त अल्प हो जाता है तभी धारणा शक्ति, बुद्धि और एकाग्रता का विकास होता है। ऐसी परिस्थिति तप साधना से ही उत्पन्न हो सकती है। इस कारण तपोयुक्त योगोद्वहन और उपधान की योजना यथार्थ है। पुनर्उल्लेख्य है कि मानसिक जड़ता दूर होने एवं चित्त का विक्षेप न्यून होने पर श्रुत ज्ञान की आराधना का फल शीघ्रता से प्राप्त हो जाता है अर्थात श्रुत ज्ञान का तीव्रता से विकास होता है। इस तरह योगोद्वहन और उपधान तप श्रुत ज्ञान की आराधना में अत्यन्त सहयोग करते हैं। सैद्धान्तिक भाषा में कहें तो मानसिक जड़ता ज्ञानावरणीय कर्म के उदय का परिणाम है और चित्त का विक्षेप मोहनीय कर्म के

उदय का परिणाम है। तपश्चर्या के आलम्बन से ज्ञानावरणीय व मोहनीय इन दो कर्मों को ही नहीं, सम्पूर्ण अष्ट कर्मों को नष्ट किया जा सकता है। इस वजह से भी श्रुतज्ञान की आराधना में तपोमय योगोद्वहन तथा उपधान क्रिया का आलम्बन इष्ट है।

यहाँ कुछ जन यह भी कहते हैं कि बहुत से श्रावक-श्राविकाएँ उपधान तप करते हैं, किन्तु उनका श्रुत ज्ञान वृद्धि (क्षयोपशम) को प्राप्त हुआ हो, ऐसा अनुभव में नहीं आता, इसका कारण क्या? उसका जवाब है कि यदि शास्त्र वर्णित अवधान विधि का यथार्थ आलम्बन अपनाया जाये तो तद्रूप परिणाम दिखता ही है। जैसे कि मीठा खाने से मुँह मीठा होता ही है, गुड़ खाने पर मुख मीठा न हो, यह कैसे हो सकता है? अतः स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि तप साधना से श्रुत ज्ञान का विकास पूर्ण रूप से शक्य है।

उत्कृष्ट मंगल की दृष्टि से– जिस क्रिया से विघ्न का नाश हो और कल्याण की प्राप्ति हो उसे मंगल कहा जाता है। मंगल दो प्रकार का होता है– एक तो लौकिक व्यवहार में आने वाली कठिनाइयों को दूर कर भौतिक कल्याण करता है और दूसरा आत्म विकास में बाधक अप्रशस्त भावों को दूरकर परमानन्द की प्राप्ति करवाता है। इसमें प्रथम मंगल को द्रव्य मंगल कहा जाता है और दूसरे मंगल को भाव मंगल कहते हैं। तप साधना में दोनों ही मंगल समाहित हैं, इसलिए इसे सर्वश्रेष्ठ मंगल के रूप में गिना जाता है।

तप से विघ्न परम्परा दूर होती है। इस विषयक अनेकों उदाहरण इतिहास के पृष्ठों पर देखे जाते हैं जैसे कि आयंबिल तप के प्रभाव से श्रीपाल राजा का कुष्ठ रोग दूर हो गया। द्वैपायन ऋषि के श्राप से द्वारिका नगरी तब तक सुरक्षित रही, जब तक आयंबिल तप अखण्ड रूप से होते रहे।

तप को आदि मंगल माना गया है। जैन आगम साहित्य एवं आगमिक परम्परा का सम्यक् अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि अर्हद् संस्कृति में तप के स्वीकार पूर्वक ही श्रमणत्व जीवन अंगीकार किया जाता है। यानी मुमुक्षु जिस दिन चारित्र वेश धारण करता है उसे उस दिन उपवास या आयंबिल तप अवश्य करना होता है, बिना तप के यावज्जीवन का सामायिक व्रत और पंच महाव्रत का आरोपण नहीं करवाया जाता। जीत परम्परा के अनुसार आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तिनी आदि पदस्थापना के अवसर पर भी नवीन पदधारी

को उपवासादि का प्रत्याख्यान करवाया जाता है। यह तप मंगल वृद्धि के लिए करते हैं। अनन्तबली तीर्थङ्कर पुरुषों ने भी अपने जीवन में जो भी श्रेष्ठ कार्य किये हैं जैसे- दीक्षा, केवलज्ञान, धर्म देशना आदि के प्रारम्भ में तपश्चरण अवश्य करते हैं। प्रत्येक शुभ कार्य के आदि में तप करते हैं, क्योंकि तप को परम मंगल, महा मंगल कहा गया है। भावार्थ यह है कि सभी तीर्थङ्कर तप के साथ ही प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं, तप के साथ ही उन्हें केवलज्ञान होता है। यह नियम जैन संस्कृति के समग्र श्रमणाचार पालक साधु-साध्वियों के लिए एक समान है।

कर्म क्षय की दृष्टि से- तप की शक्ति अद्भुत है। वह प्रगाढ़ रूप से बंधे हुए कर्मों को भी नष्ट करने की ताकत रखती है। जो कर्म आत्मा के साथ तादात्म्य भाव को प्राप्त हो गये हैं तथा जिन कर्मों के कटु परिणामों को भोगना निश्चित है, वह निकाचित कर्म कहलाता है। निकाचित कर्मों का संचय अनेक भवों से उपार्जित किया हुआ होता है और उस कारण वे कर्म अत्यन्त गाढ़ रूप में बंधे होते हैं, अत: उनका नाश करना बहुत कठिन है। तदुपरान्त तपोयोग के द्वारा निकाचित कर्मों को भी नष्ट किया जा सकता है जैसे- सुवर्ण में रहे हुए मैल को अग्नि पृथक् कर देती है, दूध में रहे हुए जल को हंस पृथक् कर देता है, वैसे ही आत्म प्रदेशों के साथ रहे हुए कर्म मैल को तप पृथक् कर देता है। आर्ष वाणी कहती है कि- **''भवकोडि संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ''**

अर्थात करोड़ों भव में संचित किये गये कर्म भी तप से स्थिर (नष्ट) हो जाते हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सोमप्रभसूरि ने कहा है जैसे- दावानल के बिना अटवी को जलाने में कोई समर्थ नहीं है जैसे- मेघ के बिना दावाग्नि को शान्त करने में कोई समर्थ नहीं है जैसे- तीव्र पवन के बिना मेघ को छिन्न-भिन्न करने में कोई समर्थ नहीं है वैसे ही तप के बिना कर्म समूह को विनष्ट करने में कौन समर्थ हो सकता है? अर्थात कोई नहीं।

यहाँ कोई ऐसा कहते हैं कि ''ज्ञान रूपी अग्नि समस्त कर्मों को जलाकर भस्म कर देती है'' यह भगवद्गीता (4/37) का वचन है। तब तप द्वारा सभी कर्म समूह का नाश होता है यह कैसे माना जा सकता है? इसका सीधा समाधान यह है कि यहाँ 'कर्म' शब्द से आत्मा के शुद्ध स्वरूप को मलिन करने वाली एक प्रकार की पौद्गलिक वर्गणाओं का सूचन है और भगवद्गीता के

उपर्युक्त वचन में 'कर्म' शब्द से क्रियाकाण्ड का सूचन है। इस प्रकार दोनों कर्म शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ के द्योतक हैं।

भगवद्गीता में 'कर्म' शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि जिसे सर्व संशय को छेद करने वाला श्रेष्ठ ज्ञान उत्पन्न हो जाता है उसके लिए विधि-विधान या क्रियाकाण्ड की आवश्यकता नहीं रहती।

पुराणों में कहा गया है कि तपस्वी, दानपरायण, वीतरागी व तिक्षिक (परीषह सहिष्णु) साधक मृत्यु के पश्चात तीन लोक के ऊपर शोक वर्जित स्थान को प्राप्त करता है। जैन परिभाषा में इस स्थान को सिद्धशिला कहा जाता है। इसका मतलब है कि जिस आत्मा ने सर्व कर्मों को नष्ट कर दिया है वह सिद्धशिला में विराजमान होती है।

अधिक क्या कहें? तारा, तृण या रेती के कण से भी अधिक मुनि-साधकों ने तप का आश्रय ग्रहण किया है और आज भी हजारों की संख्या में तप का सेवन किया जा रहा है। इस तथ्य का मुख्य कारण यही है कि तप में सर्व पापों को नष्ट करने की शक्ति विद्यमान है। यदि तप में उक्त प्रकार का सामर्थ्य न हो तो सन्त, साधक, ऋषि, महर्षि, तपस्वी, तीर्थङ्कर जैसे नामों की व्यवस्था ही नहीं रह पायेगी। अत: शान्तचित्त से तप के विषय में चिन्तन करना चाहिए। श्रुति-स्मृतियों में भी कहा गया है कि "तपसा किल्विषं हन्ति'– तप से पापों का नाश होता है।

संक्षेपत: तप की पापनाशक-कर्मनाशक शक्ति में सन्देह नहीं करना चाहिए, प्रत्युत आत्म विकास हेतु तप कर्म का आश्रय लेते रहना चाहिए।

इन्द्रिय नियन्त्रण की दृष्टि से– शास्त्र वचन है 'इच्छानिरोधस्तप:' अर्थात (इन्द्रियों और मन की) इच्छाओं का निरोध करना ही तप है। जीवन में तप और इन्द्रिय निग्रह का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इन्द्रिय निग्रह के लिए तप और तप के लिए इन्द्रिय निग्रह आवश्यक है।

बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तप से इन्द्रियाँ सधती हैं। अनशन में सर्वथा आहार का त्याग होता है। आवश्यकता से एक ग्रास भी कम खाना, एक घूंट भी कम पीना ऊनोदरी तप है। भिक्षाचरी में भिक्षावृत्ति द्वारा विधिवत आहार प्राप्त करते हैं। रस परित्याग नाम के तप से रसनेन्द्रिय पर विजय पाई जा सकती है। कई बार अनेक पदार्थ भोगने पर भी तृप्ति नहीं होती, अत: उस जिह्वा को

सरस भोजन से विरत रखकर वश में किया जाता है। कायक्लेश में शारीरिक सुखों का त्याग करते हैं। इस प्रकार बाह्य तप इन्द्रिय निग्रह में अहं भूमिका निभाते हैं।

प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप के आसेवन से भी पाँचों इन्द्रियाँ संतुलित एवं मर्यादित अवस्था में स्थिर रहती हैं क्योंकि विनय, वैयावृत्य, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि क्रियाएँ इन्द्रिय निग्रह में ही संभव है।

यहाँ आधुनिक तर्कवादी यह कहते हैं कि इच्छाओं एवं इन्द्रियों पर निग्रह क्यों किया जाये? यह प्रगति में बाधक है अत: अव्यावहारिक और अनुपयुक्त है। इसके समाधान में भगवान महावीर कहते हैं कि यदि कैलाश पर्वत के समान सोने-चाँदी के असंख्य पर्वत हो जायें तो भी मनुष्य को सन्तोष नहीं होता क्योंकि इच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त हैं। अत: शान्ति पूर्ण जीवन के लिए इन्द्रियों पर निग्रह और इच्छाओं पर नियन्त्रण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है और यह इन्द्रिय-निग्रह तप द्वारा ही सुसाध्य है।

मनोबल वर्धन की दृष्टि से– तप की साधना केवल मनुष्य ही कर सकता है, अन्य प्राणियों के लिए सम्भव नहीं है क्योंकि तप में तपन होती है और यह तपन बाह्य न होकर आन्तरिक होती है। पशु-पक्षी प्राकृतिक उष्मा को सह लेते हैं पर अपनी भीतरी तपन को नहीं सह पाते हैं। इसका अर्थ यह है कि भीतरी तपन बड़ी उग्र होती है।

प्रश्न होता है कि जो ताप-संताप या दाह प्रदान करता हो ऐसे तप को क्यों धारण करना चाहिए? मानवीय जीवन में उसकी क्या सार्थकता है?

तप साधना का बहुत बड़ा अंग है। इससे तीन रूपों में साधना को बल मिलता है। जिस प्रकार अग्नि एक होने पर भी लकड़ी, कण्डा, भूसा आदि के संयोग से अलग-अलग कही जाती है उसी प्रकार तपस्या एक होने पर भी मन, वचन और कार्य के विभिन्न भेदों से सम्बन्धित होने के कारण कई प्रकार की कही जाती है। इस साधना का सबसे बड़ा लाभ मनोबल की प्राप्ति है।

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मन के दो रूप हैं– ज्ञात और अज्ञात। ज्ञात मन से अज्ञात मन की क्रिया अधिक सूक्ष्म होती है। साधक तपस्या के बल पर अज्ञात मन पर नियन्त्रण कर लेता है और शरीर तथा मन की नियामिका शक्ति को अधिकृत कर लेता है जिससे उसे वास्तविक चैतन्य की उपलब्धि होती है। यही तपस्या का लक्ष्य है।

प्राय: लोग समझते हैं कि तपस्या सन्त-साधुओं के लिए है। इससे हमारा क्या प्रयोजन है? किन्तु ऐसी बात नहीं है। मनुष्य मात्र के लिए छोटी-बड़ी तपस्या बहुत आवश्यक है। तप से मन को केन्द्रित करने की शक्ति प्राप्त होती है। जीवन में बड़े से बड़े कार्यों की सफलता के लिए इस शक्ति की अत्यन्त जरूरत है चाहे राजकार्य हो चाहे व्यापार अथवा कला और विज्ञान सम्बन्धी अन्य कार्य हों सभी के सम्पादन हेतु मनोयोग की उपयोगिता स्पष्ट ही है। मन को बलवान बनाना इसलिए भी आवश्यक है कि हमारे शरीर में सबसे अधिक और निरन्तर गतिशील रहने वाला मन है। इसकी क्रियाशक्ति पर सम्पूर्ण शरीर का व्यापार अवलम्बित है। हम यह भी कह सकते हैं कि तप एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया है जिससे मन को स्फूर्ति एवं बल मिलने के साथ-साथ शरीर के सब अंगों और आत्मा को भी बल मिलता है।[44]

गृहस्थ धर्म (गृहस्थ आचार) की दृष्टि से– जैन शास्त्रों में गृहस्थ के लिए भी तप का विधान किया गया है। पूर्वाचार्यों ने गृहस्थ के आवश्यक नियमों की चर्चा करते हुए उसमें तप आचरण को गृहस्थ धर्म के रूप में स्वीकार किया है, जैसा कि

कर्तव्या देवपूजा शुभगुरुवचनं, नित्यमाकर्णनीयं
दानं देयं सुपात्रे प्रतिदिनममलं,पालनीयं च शीलम्।
तप्यं शुद्धं स्वशक्त्या तप इह महती, भावना भावनीया
श्रद्धानामेव धर्मो जिनपतिगदितः, पूतनिर्वाणमार्गः।।

प्रतिदिन वीतरागदेव की पूजा करना, सद्गुरु के वचन सुनना (उपदेश श्रवण करना), सुपात्र को दान देना, निर्मल शील का पालन करना, यथाशक्ति तप का आचरण करना और उदात्त भावनाओं का चिन्तन करना– यह जिनेश्वरों के द्वारा कहा गया निर्वाण मार्ग का गृहस्थ धर्म है।

किन्हीं ग्रन्थों में श्रावक धर्म की परिचर्चा करते हुए तप को आवश्यक बतलाया है, जैसा कि द्रष्टव्य है –

त्रैकाल्यं जिनपूजनं प्रतिदिनं, संघस्य सन्माननं
स्वाध्यायो गुरुसेवनं च विधिना, दानं तथाऽऽवश्यकम्।
शक्त्या च व्रतपालनं वरतपो, ज्ञानस्य पाठस्तथा
सैष श्रावकपुंगवस्य कथितो, धर्मो जिनेन्द्रागमे।।

प्रतिदिन जिनेश्वर परमात्मा की त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न व संध्या) पूजा करना, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ का सम्मान करना, स्वाध्याय करना, विधिपूर्वक गुरु की सेवा करना, यथाशक्ति दान देना, आवश्यक क्रिया (षडावश्यक) करना, यथाशक्ति व्रतों का पालन करना, श्रेष्ठ तप का आचरण करना और शास्त्र पाठों का स्मरण करना यह जिनागमों में कहा गया श्रावक धर्म है।

गृहस्थ के दैनिक छः कर्म बतलाये गये हैं। वहाँ भी तप धर्म को सन्निविष्ट किया गया है, इसके लिए निम्न पाठ अवलोकनीय है–

देवपूजा गुरुपास्तिः, स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने-दिने।।

तीर्थङ्कर भगवान की पूजा करना, गुरु की सेवा करना, स्वाध्याय करना, संयम पालन करना, तप करना और दान देना– ये गृहस्थों के छः नित्यकर्म हैं।

गृहस्थ रात्रिक प्रतिक्रमण करते हुए उसमें छहमासी तप का कायोत्सर्ग करते हैं। यदि वैसा चिन्तन नहीं कर सकते हैं तो चिन्तन कायोत्सर्ग के रूप में 'लोगस्ससूत्र' का स्मरण करते हैं। यदि यह पाठ भी न आता हो तो सोलह अथवा अड़तालीस नवकार मन्त्र गिनने की प्रवृत्ति है। वस्तुतः छहमासी तप का चिन्तन निम्न प्रकार से करना चाहिए–

भगवान महावीर ने छह मास का तप किया था। हे चेतन! तुम यह तप कर सकते हो? यहाँ मन में ही उत्तर देते हुए चिन्तन करना कि मेरी न वैसी शक्ति है और न ही वैसा परिणाम। पश्चात अनुक्रम से एक-एक उपवास कम करते हुए विचार करना, ऐसा करते हुए पांच मास, चार मास, तीन मास, दो मास, एक मास तक मन को स्थिर करना। फिर एक दिन कम मासक्षमण, दो दिन कम मासक्षमण, इस भाँति तेरह दिन न्यून सत्रह उपवास का विचार करना। फिर हे चेतन! तुम चौंतीस भक्त (सोलह उपवास) करो, बत्तीस भक्त करो, तीस भक्त करो। इस तरह दो-दो भक्त कम करते हुए चतुर्थ भक्त अर्थात उपवास तक चिन्तन करना। यदि उपवास करने की भी शक्ति न हो तो अनुक्रम से आयंबिल, नीवि, एकासन, बीयासन, अवड्ढ, पुरिमड्ढ, साढ पौरुषी, पौरुषी और नवकारसी तप पर्यन्त विचार करना। तप चिन्तन करते समय जहाँ तक तप करने की शक्ति हो उस सम्बन्ध में यह सोचना कि "शक्ति है किन्तु परिणाम नहीं है" तदनन्तर

वहाँ से तप क्रम को घटाते-घटाते जो प्रत्याख्यान करना हो वहाँ चिन्तन को रोक कर मन में उस तप का निश्चय करके कायोत्सर्ग पूर्ण करना चाहिए।

जो गृहस्थ रात्रिक प्रतिक्रमण नहीं कर सकते हैं वे गुरु को वन्दन करते समय उनके मुख से तप का प्रत्याख्यान ग्रहण करें। कदाच वन्दन के समय भी प्रत्याख्यान न ले सकें तो व्याख्यान सुनने के बाद अवश्य लें। कहने का सार यही है कि गृहस्थ को प्रतिदिन किसी न किसी प्रकार का तप अवश्य करना चाहिए। यही कारण है कि गृहस्थ के नित्य कर्मों में उसे स्थान दिया गया है।

तपागच्छ-परम्परा में श्रावक के दैनिक स्वाध्याय का एक पाठ है – "मन्नह जिणाणमाणं।" इस पाठ में स्पष्ट कहा गया है कि "पव्वेसु पोसहवयं दानं शीलं तवो अ भावो अ"– पर्व के दिन गृहस्थ को पौषधव्रत करना चाहिए तथा शेष दिनों में दान, शील, तप और भाव की आराधना करनी चाहिए। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पूर्वाचार्यों ने गृहस्थ धर्म के उत्तरोत्तर विकास हेतु तप आचार को अपरिहार्य माना है, क्योंकि इससे द्रव्यत: शरीर एवं भावत: चैतसिक मन दोनों निर्मल और स्वस्थ बनते हैं।

भौतिक सुख-समृद्धियों की दृष्टि से– तप का आचरण करने से न केवल पाप कर्म ही क्षीण होते हैं अपितु भौतिक सुख-समृद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। संसार में भौतिक समृद्धि की दृष्टि से चक्रवर्ती का पद सबसे श्रेष्ठ और सबसे दुर्लभ माना गया है। वह चक्रवर्ती पद तपश्चरण के द्वारा ही सम्प्राप्त होता है। कथानुयोग कहता है कि भरत चक्रवर्ती ने अपने पूर्व जन्मों में हजारों वर्ष तक तपस्या, सेवा और स्वाध्याय तप की आराधना की थी उसी के प्रभाव से वे चक्रवर्ती पद प्राप्त कर सके। सनत्कुमार चक्रवर्ती का जीवन चरित्र पढ़ते हैं तो ज्ञात होता है कि उन्होंने भी हजारों वर्ष तक तपश्चर्याएँ कीं, उसके बाद ही चक्रवर्ती पद पर आरूढ़ हो सके। कोई भी चक्रवर्ती, चक्रवर्ती के भव में जन्म लेने के साथ ही चक्रवर्ती नहीं बन जाता, हर एक भौतिक उपलब्धि के लिए उन्हें तप करना होता है। जैन-परम्परा में चक्रवर्ती के तेरह तेले प्रसिद्ध हैं। वे अपने कार्यों को सिद्ध करने हेतु समय-समय पर तपस्या करते रहते हैं।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र में वर्णन आता है कि इस अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती भरत की आयुधशाला में जब सर्वप्रथम चक्ररत्न प्रकट हुआ (जिसके बल पर वे चक्रवर्ती कहलाये) तब आयुधशाला के आरक्षक ने महाराज भरत को

बधाई दी। यह शुभ संवाद सुनकर भरत प्रसन्नता से झूम उठे। उन्होंने बधाई सन्देशवाहक को बहुत सा प्रीतिदान दिया, फिर चक्ररत्न की पूजा की, पश्चात चक्ररत्न के अधिष्ठायक देव को प्रसन्न करने के लिए पौषधशाला में आकर तीन दिन का निर्जल तप (तेला) करके मागध तीर्थ नामक देव को प्रसन्न किया।[45]

चक्रवर्ती की भाँति वासुदेव और बलदेव भी असीम सुख के भोक्ता होते हैं। वासुदेव के पास तीन खण्ड की राज्य लक्ष्मी होती है, फिर भी अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए उन्हें विशेष सहयोग एवं दिव्य बल की आवश्यकता होती है। उस दिव्य बल को पाने के लिए ये भी तपाराधना करते हैं तथा देवता को प्रत्यक्ष कर अपने अभीष्ट को पूर्ण करते हैं।

कल्पसूत्रटीका में प्रसंग आता है कि जब पद्मनाभ राजा ने सौन्दर्य के वशीभूत होकर द्रौपदी का अपहरण कर लिया। तब उसे पुनः लौटा लाने के लिए वासुदेव श्रीकृष्ण अट्ठम तप कर लवणसमुद्र के अधिष्ठायक देव को जागृत करते हैं तथा दो लाख योजन विस्तृत समुद्र को पार करने हेतु सहयोग मांगते हैं। उस समय देव शक्ति से निर्विघ्नतया अमरकंका नगरी पहुंचकर द्रौपदी को ले आते हैं।

शास्त्रों में एक घटना यह भी वर्णित है कि एक बार माता देवकी के मन में पुत्र क्रीड़ा की इच्छा प्रगट होती है तब उस कामनापूर्ति हेतु श्रीकृष्ण अट्ठम (तेला) तप करके देवता को प्रसन्न करते हैं और एक भाई की याचना करते हैं। तप के परिणामस्वरूप गजसुकुमाल का जन्म होता है तथा देवकी की अभिलाषा पूर्ण होती है।

इस प्रकार प्रत्येक कठिन कार्य की सिद्धि एवं भौतिक सुख की परिपूर्ति हेतु तपश्चरण का आलम्बन लिया जाता रहा है। किसी भी दुःसाध्य कार्य को तप के द्वारा सुसाध्य बनाया जाता रहा है। इस प्रकार तप के माध्यम से दुष्कर को सुकर, असम्भव को सम्भव और कठिन को सरल बनाया जा सकता है।[46]

देव सान्निध्य की दृष्टि से– श्रमणाचार का प्रतिपादक ग्रन्थ दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि **"देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो"** (1/1) जिस साधक का चित्त सदा धर्म में रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। यहाँ धर्म से तात्पर्य तप धर्म समझना चाहिए। वैसे भी इस सूत्र में अहिंसा, संयम और तप को धर्म बतलाया गया है। तपस्वी के तपोबल

का ही प्रभाव होता है कि उसके चरणों में मानव तो क्या? अनन्त ऐश्वर्यवान्, असीम शक्ति के स्वामी देवता और इन्द्र भी झुकते हैं।

वैदिक पुराणों में बहुत सी ऐसी कथाएँ आती हैं जिनमें बताया गया है कि अमुक तपस्वी के तपोबल से इन्द्र महाराज का सिंहासन कांप उठा। जैन शास्त्र भगवतीसूत्र[47] में वर्णन आता है कि एक बार असुरों की राजधानी बलिचंचा नगरी का इन्द्र आयु पूर्ण कर गया। वहाँ दूसरा कोई इन्द्र उत्पन्न नहीं हुआ, तब असुर घबराने लगे – हम अनाथ हो गये हैं ? क्या करें ? नये स्वामी को कहाँ से कैसे प्राप्त करें जो शत्रुओं से हमारा व हमारे राज्य का बचाव कर सके ? इसी चिन्ता में घूमते हुए असुरकुमारों की दृष्टि एक घोर बाल तपस्वी पर ठहरी। उस तपस्वी का नाम था तामली तापस। वह तापस वर्षों से बेले-बेले की तपस्या कर रहा था, उसमें तप पारणे के दिन इक्कीस बार धोया हुआ चावल का सत्त्वहीन पानी लेता था, इस तरह साठ हजार वर्ष तक उसने कठोर तप किया। उसका शरीर अत्यन्त जर्जर, किन्तु मुख मण्डल तपो तेज से दमक रहा था। असुरकुमारों ने तामली तापस को देखकर सोचा कि "यह बाल तपस्वी यदि हमारा स्वामी बनने का निदान (अभिग्रह) कर आयु पूर्ण करे तो हमें सचमुच एक महान तेजस्वी, शक्तिशाली स्वामी प्राप्त हो सकता है। तत्पश्चात अगणित असुरकुमार और असुरकुमारियाँ दिव्य रूप धारण कर उसके सामने आये। तपस्वी को प्रसन्न करने के उद्देश्य से बत्तीस प्रकार के नाटक, विविध संगीत आदि का प्रदर्शन करने लगे। अति विनम्रता के साथ वन्दना कर उनसे प्रार्थना करने लगे – हे महान् तपस्वी! हम पर दया करिये, हम अनाथ हैं, स्वामीहीन हैं, आप जैसे नाथ हमें प्राप्त हो जायें तो हम सब भली-भाँति आनन्दपूर्वक एवं सुरक्षित जीवन यापन कर सकते हैं। इसलिए आप हमारे सम्बन्ध में निदान करें और यहाँ से आयु पूर्ण कर हमारी बलिचंचा राजधानी का इन्द्र बनना स्वीकार करें।

आगमकार कहते हैं कि असुरकुमारों की दीनता व विनय भरी प्रार्थना सुनकर भी तामली तापस ने उसे स्वीकार नहीं किया। वे अपने ध्यान में ही लीन रहे। फिर आयुष्य पूर्णकर ईशानकल्प (दूसरे देवलोक) में ईशानेन्द्र के रूप में जन्म लेते हैं।

कहने का भावार्थ यह है कि तपोमय जीवन को देवता भी चाहते हैं तथा सच्चे तपस्वी कभी भी भौतिक सुख-समृद्धि के प्रलोभन में नहीं बहते, अन्यथा

स्वर्ण के मूल्य वाली साधना पानी के मोल बिक जाती है।

स्वरूपत: तप शक्ति के सामने देवत्व शक्ति नगण्य है। देवी-देवता हमेशा तप शक्ति के अधीन रहते हैं। इसीलिए तो कहा जाता है कि दीर्घ तपस्या करने वाले साधकों में अट्ठम तप के बाद देवताओं का वास होता है, शासन रक्षक देवी-देवताओं का बल होता है।

यह अनुभूत सत्य है और व्यवहार में हम देखते भी हैं कि कदाच् खुराक से अल्प भोजन करना शुरू कर दें अथवा स्वास्थ्य गड़बड़ होने से पर्याप्त मात्रा में आहार न ले पायें तो दो-चार दिन में ही कमजोरी महसूस होने लगती है। जबकि आठ, ग्यारह, सोलह, तीस आदि दिनों तक कण मात्र भी आहार का सेवन नहीं करने वाले अधिकांश तपस्वी आराम से चलते हैं, आराधना करते हैं, घरेलू कार्य भी कर लेते हैं, ऐसा क्यों? इसका जवाब यही है कि उनमें सम्यग दृष्टि देवों का बल रहता है और पारणा करते ही वह सत्त्व गायब हो जाता है। शारीरिक धर्म के अनुसार तो खुराक मिलते ही शरीर में अधिक शक्ति का संचार होना चाहिए, किन्तु तपस्या के पारणे में कुछ विपरीत होता है। फिर शनैः-शनैः शरीर स्वाभाविक स्थिति में आता है तो समझना यही है कि तपस्या से देवता भी आधीन हो जाते हैं। हम जिस देवगति को पाने के लिए लालायित हैं वह देवत्व तपस्या द्वारा मानव योनि में भी उपलब्ध किया जा सकता है।

आध्यात्मिक लब्धियों एवं सिद्धियों की दृष्टि से– तप केवल भौतिक सिद्धि और समृद्धि का प्रदाता ही नहीं, किन्तु वह अनन्त आध्यात्मिक समृद्धि का प्रदाता भी है। तप से भौतिक एवं आध्यात्मिक सर्व प्रकार की शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इस विराट् विश्व में जितनी भी शक्तियाँ हैं, विभूतियाँ हैं और लब्धियाँ हैं वे तप से सम्प्राप्त होती हैं। एतदर्थ ही एक आचार्य ने कहा है – "तपो मूलाहि सिद्धयः" समस्त सिद्धियाँ तप मूलक है। आचार्य नेमिचन्द्र ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि **"परिणाम तव वसेणं, इमाइं हुंति लद्धीओ।"** – जितनी भी लब्धियाँ हैं वे तप से ही प्रगट होती हैं। तप करने से आत्मा में एक अद्भुत तेज का संचार होता है। प्रत्येक आत्मा अनन्त अक्षय शक्तियों का पिण्ड है उनमें कुछ शक्तियाँ, लब्धि, निधि एवं सिद्धि के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा जगत व्यवहार में उन शक्तियों की अपार महिमा भी है अतः तपोयोग के मूल्य को दर्शाने के लिए वह वर्णन निम्न प्रकार हैं।[48]

(i) अट्ठाइस लब्धियों की प्राप्ति– कर्म आवरणों का क्षय होने पर स्वत: आत्मा से जो शक्ति प्रकट होती है उसे लब्धि या सिद्धि कहा जाता है। भौतिक शक्तियाँ मन्त्र-तन्त्र-यन्त्रादि से प्राप्त होती हैं, किन्तु अध्यात्म शक्तियाँ तपस्या, अभिग्रह जैसी कठोर साधना से अर्जित होती हैं। भौतिक शक्ति 'जादू' कहलाती है, किन्तु आध्यात्मिक शक्ति 'सिद्धि' कही जाती है।

आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा है कि परिणामों की विशुद्धता,चारित्र धर्म की अतिशयता एवं महान तप के आचरण से लब्धियाँ प्राप्त होती है। लब्धियाँ विशुद्ध आत्मशक्ति हैं। उनके लिए देव शक्ति या मन्त्र शक्ति की आवश्यकता नहीं, वे तो तप से सहज उपलब्ध होती हैं।[49]

वैदिक-परम्परा के आचार्य पतञ्जलि ने लब्धियों को 'विभूतियाँ' कहा है[50] और बौद्ध दर्शन ने इसे 'अभिज्ञा' कहा है।

लब्धि का अर्थ है लाभ अथवा प्राप्ति। तपस्या आदि के द्वारा जब जिस विषय के कर्मदलिक दूर होते हैं तब उस-उस सम्बन्धी आत्मशक्तियाँ प्रगट हो जाती हैं और वही लब्धि रूप कही जाती हैं। आचार्य अभयदेव ने इस सम्बन्ध में कहा है कि **"आत्मनो ज्ञानादि गुणानां तत्कर्म क्षयादितोलाभः"–** आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य आदि गुणों का तत्सम्बन्धित कर्मों के क्षय एवं क्षयोपशम से जो लाभ प्राप्त होता है, उसे लब्धि कहते हैं। आत्मा की शक्ति अनन्त है और वह अनन्त रूपों में प्रकट हो सकती है, किन्तु वह जितने रूपों में प्रकट होती है उतनी ही लब्धियाँ बन जाती हैं। मूलागमों में यह विवेचन सामान्य रूप से तथा उत्तरवर्ती ग्रन्थों में विस्तार से दृष्टिगत होता है।[51]

भगवतीसूत्र में दसविध लब्धियाँ बतायी गयी हैं–

1. ज्ञानलब्धि, 2. दर्शनलब्धि, 3. चारित्रलब्धि, 4. चारित्राचारित्रलब्धि, 5. दानलब्धि, 6. लाभलब्धि, 7. भोगलब्धि, 8. उपभोगलब्धि, 9. वीर्यलब्धि और 10. इन्द्रियलब्धि।[52]

ये लब्धियाँ एकान्त तपोजन्य नहीं मानी गयी हैं, किन्तु इनके विकास में तप मुख्य कारण बनता है।

आचार्य नेमिचन्द्र ने अट्ठाईस लब्धियों का उल्लेख किया है। वे संक्षेप में इस प्रकार है[53]–

1. आमर्षौषधिलब्धि – आमर्ष का अर्थ है स्पर्श। जिस मुनि को यह लब्धि प्राप्त होती है उस विशिष्ट आत्मा के हाथ आदि का स्पर्श होने पर स्वयं

के और दूसरों के रोग शान्त हो जाते हैं। यानी हाथ आदि के स्पर्श मात्र से रोगों का निवारण हो जाना, आमर्षोषधिलब्धि कहलाती है।

2. विप्रुडौषधिलब्धि – विप्रुड् का अर्थ है अवयव। मल एवं मूत्र के अवयव विप्रुड् कहलाते हैं। इस लब्धि के प्रभाव से तपस्वी का मूत्र-पुरीष (मल) सुगन्धित और जिसका स्पर्श होने मात्र से रोगी का रोग शान्त हो जाता है ऐसी योग शक्ति को विप्रुडौषधिलब्धि कहते हैं।

3. खेलौषधिलब्धि – खेल का अर्थ है श्लेष्म या थूक, औषधि यानी उपचार। इस लब्धि के प्रभाव से साधक का श्लेष सुगन्धित एवं औषध की भाँति रोगशमन में उपयोगी बनता है, अत: इसका नाम खेलौषधिलब्धि है। प्रस्तुत लब्धिधारक मुनि के श्लेष्म में वह शक्ति होती है कि जिसके स्पर्श करने मात्र से रोग समाप्त हो जाते हैं।

4. जल्लौषधिलब्धि – जल्ल अर्थात शरीर के विभिन्न अवयव जैसे– आँख, कान, मुख, जीभ, नाक आदि का मल-पसीना अथवा मैल। जिसके कान, नाक, मुख आदि के मैल को लगाने से रोग शान्त हो जाते हैं, उसे जल्लौषधि लब्धि कहते हैं।

5. सर्वौषधिलब्धि – इस लब्धिधारक मुनि का सम्पूर्ण शरीर ही औषधिमय होता है, अत: उसके शरीर के किसी भी अवयव से रोगी का स्पर्श करवाने पर वह रोगमुक्त हो जाता है। इसलिए इसे सर्वौषधि लब्धि कहा गया है।

ध्यातव्य है कि प्रथम की चार लब्धियों में शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों के स्पर्श से रोगोपशमन होता है, किन्तु इस लब्धिधारी का समूचा शरीर ही पारस जैसा होता है। वह जहाँ से भी, जिस किसी को छू ले तुरन्त चमत्कार हो जाता है।

6. संभिन्नश्रोतालब्धि – इस लब्धि की व्याख्या कई प्रकार से की गयी है। प्रथम अर्थ के अनुसार इस लब्धि को प्राप्त करने वाला साधक शरीर के किसी भी भाग से सुन सकता है। साधारणतया कान से ही सुना जाता है, किन्तु लब्धि के प्रभाव से नाक, जीभ या आँख से भी सुन सकते हैं यानी प्रत्येक इन्द्रिय श्रोत्रेन्द्रिय का कार्य कर सकती है।[54]

दूसरे अर्थ के अनुसार साधारणत: एक इन्द्रिय एक ही कार्य कर सकती है जैसे– आँख देख सकती है, जीभ स्वाद ले सकती है किन्तु तपस्या के प्रभाव

से साधक को ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है कि किसी भी एक इन्द्रिय से पांचों इन्द्रियों का काम कर सकता है। प्रकारान्तर से एक अर्थ यह भी किया गया है कि संभिन्न श्रोतोलब्धि के धारक योगी की श्रोत्रेन्द्रिय इतनी प्रचण्ड हो जाती है कि वह चक्रवर्ती की विशाल सेना जो बारह योजन में फैली हुई है, उस सैन्य में बजने वाले विविध वाद्यों एवं विविध स्वरों को एक ही साथ अलग-अलग करके सुन सकता है।

सामान्यतया एक साथ हजारों ध्वनियों को पृथक्-पृथक् पहचानना मुश्किल होता है, किन्तु यह लब्धिधारी प्रत्येक ध्वनि को अपने-अपने रूप में पहचान लेता है। अत: सूक्ष्म और दूरस्थ विषय को ग्रहण करने की शक्ति संभिन्न श्रोतालब्धि कहलाती है।[55]

7. अवधिलब्धि – अवधि यानी मर्यादा। जिस श्रमण को यह लब्धि प्राप्त होती है उसे इन्द्रियों की सहायता के बिना मात्र आत्मशक्ति से मर्यादा में रहे हुए रूपी द्रव्यों का ज्ञान होता है, अत: इसे अवधिलब्धि कहते हैं।

8. ऋजुमतिलब्धि – मनःपर्यव ज्ञान के दो भेद हैं – 1. ऋजुमति और 2. विपुलमति। अढ़ाई द्वीप में कुछ कम (अढ़ाई अंगुल कम) क्षेत्र में रहे हुए संज्ञी प्राणियों के मनोभावों को सामान्य रूप से जानना ऋजुमति मनःपर्यव ज्ञान है। यह मनोज्ञान जिस लब्धि के कारण से प्राप्त होता है उस लब्धि को ऋजुमति लब्धि कहते हैं।

9. विपुलमतिलब्धि – यह मनःपर्यव ज्ञान का दूसरा प्रकार है। सम्पूर्ण अढ़ाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी प्राणियों के मनोभावों को स्पष्ट रूप से, सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों को भी दर्पण की भाँति जान लेना विपुलमति मनःपर्यव ज्ञान है। यह शक्ति जिस लब्धि के निमित्त से प्राप्त होती है, वह विपुलमति लब्धि कहलाती है।

10. चारणलब्धि – 'चारण' एक प्रकार का रूढ़ शब्द है। जैन ग्रन्थों में इसका प्रयोग आकाशगामिनी शक्ति के रूप में हुआ है। तदनुसार इस लब्धि के प्रभाव से श्रमण को आकाश में आने-जाने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है, अत: इसे चारणलब्धि कहते हैं।

भगवतीसूत्र में चारणलब्धि के दो भेद बताये गये हैं[56]–

1. जंघाचारण और 2. विद्याचारण।

1. जंघाचारण मुनि को जंघा के बल पर उड़ने की शक्ति प्राप्त होती है। इस शक्ति के प्रभाव से पद्मासन लगाकर जंघा पर हाथ लगाते ही वह आकाश में उड़ जाता है।

यह लब्धि चारित्र एवं तप के विशेष प्रभाव से प्राप्त होती है। भगवतीसूत्र में इसकी साधना विधि का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि निरन्तर बेले-बेले तप करने वाले को विद्याचारण एवं निरन्तर तेले-तेले तप करने वाले को जंघाचारण लब्धि की प्राप्ति होती है।[57]

जंघाचारण लब्धिवाला आकाश में उड़ान भरने से पूर्व किसका आश्रय लेता है, एक ही उड़ान में कितना दूर पहुंच सकता है, ऊर्ध्वलोक में उड़ान करे तो वह सीधा कहाँ पहुँचता है, वापस लौटते हुए कितना समय लगता है, मध्य में कहाँ विश्राम लेता है, इत्यादि वर्णन भी आगमों में देखा जाता है।

2. विद्याचारण लब्धि तप और विद्या के विशेष अभ्यास द्वारा प्राप्त होती है। जंघाचारण में चारित्र की प्रधानता रहती है और इसमें ज्ञान की। जंघाचारण से विद्याचारण की शक्ति कम होती है, क्योंकि इसका तप क्रम अपेक्षाकृत सरल होता है। ग्रन्थों में बताया गया है कि जंघाचारणलब्धि वाला तीन बार आँख की पलक झपकने जितने समय में एक लाख योजन परिमाण जम्बूद्वीप के इक्कीस चक्कर लगा सकता है, किन्तु विद्याचारणलब्धि वाला इतने समय में सिर्फ तीन चक्कर ही लगा पाता है। जंघाचारण में गति की तीव्रता अधिक होती है। आज के जेट विमान, फ्रांस के मिराज विमान, चन्द्रयान आदि अभी भी जंघाचारण और विद्याचारणलब्धि की शक्ति से बहुत पीछे हैं। फिर इनमें यंत्रबल है जबकि उनमें आत्मबल का ही चमत्कार होता है।

दिगम्बर आचार्य यतिवृषभाचार्य ने चारणलब्धि के अनेक अन्तर्भेदों का भी वर्णन किया है। जैसे **जलचारण–** जल में भूमि की तरह चलना, **पुष्पचारण–** फूल का सहारा लेकर चलना, **धूमचारण–** आकाश में उड़ते धुएँ का आलम्बन लेकर उड़ना, **मेघचारण–** बादलों को पकड़कर चलना, **ज्योतिश्चारण–** सूर्य एवं चन्द्र की किरणों का आलम्बन लेकर गमन करना आदि।[58]

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि विद्याचारणलब्धि में और विद्याधरों की आकाशगामिनी शक्ति में अन्तर है। विद्याधरों को भी विद्याभ्यास करना पड़ता है, किन्तु वह जन्मगत एवं जातिगत संस्कार रूप में भी प्राप्त होती है। कुछ योगी

मन्त्रशक्ति से भी आकाश में उड़ान भरते हैं जबकि विद्याचारणलब्धि मन्त्र-तन्त्र एवं जन्मगत कारण से नहीं, अपितु तप के साथ विद्याभ्यास करने से प्राप्त होती है।

11. आशीविषलब्धि – आशी = दाढ़, विष = जहर अर्थात जिनकी दाढ़ों में भयंकर विष होता है उन्हें आशीविष कहा जाता है। प्रकारान्तर से जिनकी जीभ या मुख से निकली श्वास विष के समान अनिष्ट प्रभावकारी होती है, उन्हें आशीविष लब्धिवाला माना गया है।

आशीविष के दो भेद हैं – 1. कर्म आशीविष और 2. जाति आशीविष।

1. कर्म आशीविष – तप-चारित्र आदि अनुष्ठान के द्वारा जो विषयुक्त शक्ति प्राप्त होती है, उसे कर्म आशीविष कहा गया है। यह शक्ति साधना विशेष से प्राप्त होती है, इसलिए इसे लब्धिजन्य माना गया है। इस लब्धि वाला शाप आदि देकर दूसरों का नाश कर सकता है। उसकी वाणी में इतनी शक्ति और प्रभाव होता है कि क्रोध में किसी को कह दे कि 'तेरा नाश हो' तो वह वाणी विष की तरह शीघ्र ही उसके प्राण हरण कर लेती है।

2. जाति आशीविष – आशीविष का यह दूसरा प्रकार लब्धिजन्य नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध जन्मगत- जातिगत स्वभाव से है जैसे– साँप, बिच्छु आदि में जातिगत विष होता है। इसीलिए कहा जाता है कि "साँप का बच्चा क्या छोटा क्या बड़ा" वह तो जन्मते ही विषधर होता है। जाति आशीविष चार प्रकार के होते हैं – 1. बिच्छु 2. मेंढ़क 3. साँप और 4. मनुष्य।

बिच्छु से मेढ़क, मेढ़क से साँप, साँप से मनुष्य का विष अधिक प्रबल होता है। स्थानांगसूत्र में इस विषयक विस्तृत वर्णन किया गया है।[59]

12. केवलीलब्धि – चार घाती कर्मों के क्षय से जो केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होता है, वह केवलीलब्धि है।

13. गणधरलब्धि – गण को धारण करने वाले, तीर्थङ्करों की अर्थ रूप वाणी को सूत्रबद्ध करने वाले एवं तीर्थङ्कर परमात्मा के प्रमुख शिष्य गणधर कहलाते हैं। अत: गणधर पद को प्राप्त करना गणधरलब्धि कहलाती है।

14. पूर्वधरलब्धि – आगमिक टीकाओं में 'पूर्व' शब्द के अनेक अर्थ किये गये हैं। सामान्यत: तीर्थङ्कर परमात्मा द्वादशांगी का मूल आधारभूत जो सर्वप्रथम उपदेश गणधरों को देते हैं वह पूर्व कहलाता है। पूर्व की संख्या चौदह

मानी गयी हैं, जिन्हें दस से चौदह पूर्व का ज्ञान होता है, वे पूर्वधर कहलाते हैं। जिस शक्ति के प्रभाव से पूर्वों का ज्ञान प्राप्त होता है, वह पूर्वधरलब्धि कहलाती है।

15. अर्हल्लब्धि – अरिहन्त तीर्थङ्कर को कहते हैं। जिस लब्धि के प्रभाव से अर्हत पद प्राप्त होता है, वह अर्हल्लब्धि कहलाती है।

16. चक्रवर्तीलब्धि – छह खण्ड के स्वामी को चक्रवर्ती कहते हैं। जिस लब्धि के प्रभाव से चक्रवर्ती पद की प्राप्ति होती है वह चक्रवर्तीलब्धि कहलाती है।

17. बलदेवलब्धि – बलदेव वासुदेव के बड़े भाई हैं जो प्राय: सात्त्विक एवं धार्मिक प्रकृति के होते हैं। बलदेव का पद बड़ा महत्त्वपूर्ण है, वे इस पद को छोड़कर मुनि बनते हैं और कर्म क्षय कर मुक्ति प्राप्त करते हैं। जिस शक्ति के प्रभाव से बलदेव पद की प्राप्ति होती है उसे बलदेवलब्धि कहते हैं।

18. वासुदेवलब्धि – वासुदेव तीन खण्ड के अधिपति, सात रत्नों के स्वामी एवं युद्ध में शूरवीर होते हैं। नियमत: राजसी और तामसी प्रकृति के तथा भोगप्रिय एवं राज्यसत्ता के आकांक्षी होते हैं।

वासुदेव में बीस लाख अष्टापद का बल होता है। उसके बल का अनुमान करने के लिए आचार्यों ने एक उदाहरण दिया है – एक वासुदेव कुएँ के तट पर बैठा हो, उसे जंजीरों से बांधकर उसकी समस्त सेना के हाथी, घोड़े, रथ और पदाति, पसीना-पसीना हो जाये यों चतुरंगिणी सेना के साथ सोलह हजार राजा उस जंजीर को दम लगाकर खींचते रहे। फिर भी वे वासुदेव को खींच नहीं सकते, किन्तु वासुदेव उस जंजीर को बायें हाथ में पकड़ कर बड़ी आसानी से अपनी ओर खींच सकते हैं।[60]

वासुदेव में जितना बल होता है, उससे दुगुना बल चक्रवर्ती में होता है और उससे अनन्त गुना बल तीर्थङ्कर परमात्मा में होता है। जिस शक्ति के उत्पन्न होने से वासुदेव पद प्राप्त होता है, वह वासुदेवलब्धि है।[61]

19. क्षीरमधुसर्पिराश्रवलब्धि – जिस लब्धि के प्रभाव से वक्ता के वचन सुनने वालों को दूध, मधु एवं घृत के समान अत्यन्त प्रिय एवं सुखकारी लगते हैं वह क्षीरमधुसर्पिराश्रवलब्धि कहलाती है। यानी जिनके वचन दूध, मधु व घृत के सदृश शरीर और मन को सुख प्रदाता हों वह इस लब्धि के धारक होते हैं।

टीकाकारों ने दूध की मधुरता का वर्णन करते हुए कहा है कि पुण्ड्रेक्षु अर्थात गन्ने के खेतों में चरने वाली एक लाख गायों का दूध पचास हजार गायों को, पच्चास हजार गायों का दूध पच्चीस हजार को, इस क्रम से आधा-आधा करते हुए दो गायों का दूध एक गाय को पिलाने पर उससे निकले हुए दूध द्वारा बना हुआ घी जितना मधुर होता है उससे अधिक वचन माधुर्यता इस लब्धि से मिलती है अथवा जिस लब्धि के प्रभाव से पात्र में आया हुआ स्वाद रहित आहार भी दूध, घी और मधु की तरह स्वादिष्ट एवं पुष्टिकर बन जाता है उसे भी क्षीरमधुसर्पिराश्रवलब्धि कहते हैं।[62]

20. कोष्ठकबुद्धिलब्धि – जिस प्रकार कोठे में डाला हुआ धान्य बहुत काल तक सुरक्षित रह सकता है उसी प्रकार जिस शक्ति के प्रभाव से सुना हुआ या पढ़ा हुआ सूत्र-अर्थ चिरकाल तक यथावत याद रहता है, वह कोष्ठकबुद्धिलब्धि कहलाती है।[63]

21. पदानुसारिणी लब्धि – जैसे एक चावल के दाने से पूरे चावलों के पकने का पता चलता है वैसे ही जिस शक्ति के अतिशय से सूत्र के एक पद को सुनकर आगे के बहुत से पदों का ज्ञान बिना सुने ही अपनी बुद्धि से कर लेता है, उसे पदानुसारिणी लब्धि कहते हैं।[64]

22. बीजबुद्धिलब्धि – जैसे बीज विकसित होकर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है वैसे ही जिस शक्ति के अतिशय से प्रधान (बीज) भूत एक अर्थ को सुनकर अश्रुत अनेक अर्थों का ज्ञान कर लिया जाता है, वह बीजबुद्धि लब्धि कहलाती है।

यह लब्धि गणधरों में प्रमुख रूप से होती है। वे तीर्थङ्कर परमात्मा के मुख से अर्थ प्रधान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिपदी को सुनकर अनन्त अर्थों से भरी हुई द्वादशांगी की रचना कर देते हैं।[65]

23. तेजोलेश्यालब्धि – आत्मा की एक प्रकार की तैजस् शक्ति को तेजोलेश्या कहते हैं। जिस शक्ति के प्रभाव से क्रुद्ध आत्मा में से तैजस् पुद्गल ज्वाला के रूप में बाहर निकलकर उसके लिए अप्रिय एवं अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति को भस्म कर सकती है वह तेजोलेश्या लब्धि कहलाती है।

इस शक्ति से कई योजनों पर्यन्त में रही हुई वस्तु को भी भस्म किया जा सकता है। यह तेजोलब्धि आज के अणुबम से अधिक विस्फोटक है। तेजोलेश्या

का प्रयोग जिस पर जितनी दूर तक संकल्प करके किया जाता है उतने ही क्षेत्र को वह प्रभावित करती है, जबकि बम तो फटने के बाद विध्वंस भी करता है।

24. शीतलेश्यालब्धि – यह तेजोलेश्या की प्रतिरोधी शक्ति है। जिस शक्ति से आत्मा अपने शीत-तेज पुद्गलों को तेजोलेश्या से जलते हुए आत्मा पर छोड़कर उसे भस्म होने से बचा सकता है, वह शीतलेश्या लब्धि कहलाती है।

भगवान महावीर के समय में कूर्म गाँव में वैश्यायन नाम का तपस्वी अज्ञान तप करता था। स्नानादि न करने से उसके सिर में जुएँ पड़ गयीं, उसे देखकर गोशालक ने 'यूका शय्यातर' (जुंओं का जाला) कहकर उसका उपहास किया, जिसके कारण उस तपस्वी ने क्रुद्ध होकर गोशालक को भस्मीभूत करने हेतु उस पर तेजोलेश्या का प्रयोग किया। उस समय भगवान महावीर ने गोशालक को सौम्यदृष्टि से निहारा, तत्क्षण तेजोलेश्या शान्त हो गयी।

25. आहारकलब्धि – किसी भी प्राणी की रक्षा, तीर्थङ्करों की ऋद्धि का दर्शन अथवा अपने संशयों का निराकरण करने के लिए जिस शक्ति से चौदह पूर्वधर मुनि आत्मप्रदेशों द्वारा स्फटिक के समान उज्ज्वल एक हाथ का पुतला बनाते हैं और उसे यथास्थान भेजकर पुनः शरीर में प्रविष्ट करवाते हैं, वह आहारकलब्धि कहलाती है।

26. वैक्रियलब्धि – जिस शक्ति से मनचाहे रूप बनाने की योग्यता प्राप्त होती है वह वैक्रियलब्धि कहलाती है। स्पष्टार्थ है कि वैक्रियलब्धि से शरीर के छोटे-बड़े, सुन्दर-विद्रूप हजारों रूप बनाये जा सकते हैं। यह लब्धि मनुष्य और तिर्यञ्च को आराधनाजन्य एवं देवता-नारकी को सहज प्राप्त होती है।

27. अक्षीणमहानसीलब्धि – जिस शक्ति के प्रभाव से छोटे से पात्र में लायी हुई भिक्षा लाखों व्यक्तियों को तृप्त कर देती है, फिर भी पात्र परिपूर्ण रहता है। वह पात्र तभी खाली होता है जब लब्धिधारी स्वयं उस भिक्षा का उपयोग करता है, उसे अक्षीणमहानसीलब्धि कहते हैं।

गणधर गौतमस्वामी को यही लब्धि प्राप्त थी। इसी लब्धि के प्रभाव से वे सिर्फ एक पात्र में रही हुई भिक्षा द्वारा 1503 तापसों को मन इच्छित पारणा करवा सके।[66]

28. पुलाकलब्धि – जिस शक्ति के उत्पन्न होने पर साधक शासन एवं संघ की सुरक्षा के लिए चक्रवर्ती की सेना से भी अकेला जूझ सकता है, वह

पुलाकलब्धि कहलाती है। इस लब्धि के प्राप्त होने पर मुनि को देवता के समान अपूर्व समृद्धि एवं बल प्राप्त हो जाता है तथा यह लब्धि सिर्फ मुनि को ही प्राप्त होती है।

स्पष्ट है कि तप और चारित्र की विशिष्ट साधना के द्वारा आत्मा की समग्र शक्तियों को उद्घाटित किया जा सकता है। उपर्युक्त अट्ठाईस लब्धियाँ तो आत्मशक्ति की कल्पना हेतु उदाहरण मात्र हैं। दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अंगसूत्र (पूर्व) में इन लब्धियों के प्राप्ति की तपस्या विधि का विस्तृत वर्णन किया गया बताते हैं, किन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है।

(ii) अष्ट महासिद्धि की प्राप्ति – अष्ट सिद्धियाँ भी तप के आधीन हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने महासिद्धि का उल्लेख करते हुए नवपदपूजा की ढाल में कहा है कि

आमोसही पमुहा बहु लद्धि, होवे जास प्रभावे।
अष्ट महासिद्धि नवनिधिप्रगटे, नमीए ते तप भावे रे।।

कहने का तात्पर्य यह है कि तप-साधना के प्रभाव से योगी पुरुष को अणिमादि आठ विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, जो निम्न हैं –

1. अणिमा – इस शक्ति के अतिशय से साधक अपना शरीर अणु जितना बनाकर मृणालतन्तु में प्रवेश कर सकता है और वहाँ चक्रवर्ती की तरह सुखभोग कर सकता है। इतना ही नहीं, इस सिद्धि के बल से तपस्वी सर्वत्र विचरण कर सकता है और किसी की दृष्टि का विषय भी नहीं बनता।

2. महिमा – इस सिद्धि के बल से साधक अपने शरीर को पर्वतादि के समान विशाल बना सकता है जैसे– मुनि विष्णुकुमार ने आवश्यकता होने पर अपने शरीर को एक लाख योजन मेरूपर्वत के परिमाण जितना बनाया था।

3. लघिमा – इस सिद्धि के प्रभाव से तपस्वी अपने शरीर को आकड़े की रूई जैसा हल्का बना सकता है।

4. गरिमा – इस सिद्धि के बल पर शरीर को वज्र से भी भारी बनाने की शक्ति प्राप्त होती है।

5. वशिता – इस सिद्धि के फलस्वरूप प्राणीमात्र को वश में करने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है।

6. प्राकाम्य – इस सिद्धि के प्रभाव से तपस्वी जल में स्थल की तरह और स्थल में जल की तरह चलने की शक्ति प्राप्त करता है।

7. प्राप्ति – इस सिद्धि से अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही अपने-अपने अंगोपांगों को इच्छित प्रदेश तक फैलाने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है। जैसे कि इस सिद्धि को प्राप्त करने वाला स्वयं की अंगुली से मेरूपर्वत के शिखर का अथवा चन्द्रमा का स्पर्श कर सकता है।

8. ईशिता – इस सिद्धि के प्रभाव से अपूर्व ऋद्धि को विस्तृत करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। स्पष्टार्थ है कि इस सिद्धि की प्राप्ति से सिद्धिप्रापक योगी चक्रवर्ती या इन्द्र सदृश ऋद्धि का विस्तार कर सकता है। कुछ विद्वानों की मान्यतानुसार सिद्धियाँ योग से प्राप्त होती हैं, परन्तु जैन आचार्यों ने तप की व्याख्या इतनी व्यापक की है कि उसमें योग विद्या का स्वत: समावेश हो जाता है।

(iii) नवनिधि की प्राप्ति– नौ प्रकार की निधियाँ तप से ही प्रकट होती हैं। यह नवनिधि नौ तरह के निधान के समान है। प्रवचनसारोद्धार की टीका में बताया गया है कि नवनिधियाँ शाश्वतकल्प की पुस्तकें हैं और उनमें सम्पूर्ण विश्व स्थिति का कथन किया गया है। इन निधियों को एक प्रकार से ज्ञान का खजाना समझना चाहिए। नवनिधि का सामान्य स्वरूप इस प्रकार है –

1. नैसर्पनिधि – इस निधि में ग्राम, आकर, नगर, पत्तन, द्रोणमुख, मडम्ब, गृह व आपण (बाजार) की रचना से सम्बन्धित व्याख्या है।

2. पाण्डुकनिधि – इस निधि में गणित, गीत, चौबीस प्रकार के धान्य के बीज तथा उनकी उत्पत्ति के प्रकार वर्णित हैं।

3. पिंगलनिधि – इस निधि सम्बन्धी कल्पों में पुरुष, स्त्री, हाथी, घोड़ा आदि के पहनने योग्य आभूषण बनाने की विधि बतायी गयी है।

4. सर्वरत्ननिधि – इस निधि में चक्रवर्ती के चौदह रत्नों का वर्णन किया गया है।

5. महापद्मनिधि – इस निधि से सम्बन्धित कल्पों में वस्त्रों की उत्पत्ति, उनके प्रकार, वस्त्र धोने की रीति तथा सात धातुओं की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

6. कालनिधि – इस निधि में ज्योतिष ज्ञान, तीर्थङ्करों के वंश का कथन तथा सौ प्रकार के शिल्प का वर्णन किया गया है।

7. महाकालनिधि – इस निधि से सन्दर्भित कल्पों में सप्त धातु, उनके विविध भेद तथा उनकी उत्पत्तियों का वर्णन है।

8. माणवकनिधि – इस निधि में योद्धाओं की उत्पत्ति, शस्त्र सामग्री, युद्ध नीति और दण्डनीति का निरूपण है।

9. शंखमहानिधि – इस निधिकल्प में गद्य, पद्य, नृत्य, नाटक आदि का कथन किया गया है।

उक्त नव निधियाँ विशिष्ट तप से प्रकट होती हैं। प्रवचनसारोद्धार के अनुसार प्रत्येक निधि 8-8 चक्र पर प्रतिष्ठित है। इन निधियों की लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई क्रमश: 12, 9 और 8 योजन है। इनका निवास स्थान गंगा नदी का मुख है। जब चक्रवर्ती छह खण्ड को जीतकर अपने नगर में लौटता है तब ये निधियाँ पाताल से निकलकर चक्रवर्ती का स्वत: अनुगमन करती हैं। ये निधियाँ सुवर्णमय हैं। इनके कपाट वैडूर्यमणि से निर्मित हैं तथा ये विविध रत्नों से परिपूर्ण चन्द्र, सूर्य एवं चक्र के आकारों से चिह्नित हैं।[67]

(iv) गौतम स्वामी को अमृतत्त्व की प्राप्ति– जैन परम्परा में गौतम स्वामी के व्यक्तित्व को एवं उनकी तप साधना को सर्वोत्कृष्ट माना गया है। आज भी गौतमस्वामी का स्मरण श्रद्धा और समर्पण के साथ किया जाता है। उनके सम्बन्ध में एक दोहा बहुत प्रसिद्ध है–

अंगूठे अमृत बसे, लब्धितणा भंडार।
श्री गुरु गौतम सुमरिये, वांछित फल दातार।।

गौतमस्वामी के अंगुष्ठ में अमृत का निवास था और वे लब्धियों के भण्डार थे। इसका मतलब यह है कि तपस्या के द्वारा उनके शरीर का प्रत्येक रोम रसायन बन गया था। उनके शरीर के किसी भी अंग-उपांग से किसी भी वस्तु का स्पर्श होता वह कंचन बन जाती। यह लब्धि उन्हें कठोर तप साधना के द्वारा ही प्राप्त हुई थी।

भगवान महावीर ने गौतम गणधर की कठोर तप साधना का वर्णन करते हुए शास्त्रों में स्थान-स्थान पर बताया है – "उग्गतवे- घोरतवे- तत्ततवे- महातवे" अर्थात गौतम उग्र तपस्वी, घोर तपस्वी, तप्त तपस्वी और महा तपस्वी है। अभयदेवसूरि ने भगवती टीका में लिखा है कि "यदन्येन प्राकृत पुंसा न शक्यते चिन्तयितुमपि तदविधेन तपसा युक्त:" अर्थात गौतमस्वामी ऐसा उग्र तपश्चरण करते थे कि साधारण मनुष्य तो उस तपो धर्म की कल्पना भी नहीं कर सकता है। जिस दिन गौतमस्वामी ने भगवान महावीर का शिष्यत्व चारित्र

के रूप में स्वीकार किया, उसी दिन से बेले-बेले की तपस्या के पारणे आयंबिल तप की आराधना प्रारम्भ कर दी। इसी कठोर तपश्चर्या के द्वारा उनका शरीर अमृत से परिपूर्ण बन गया था। इसी बात को लक्षित करके कहा जाता है कि उनके अंगूठे में अमृत का वास था। सचमुच में तो सम्पूर्ण देह ही इस अमृतत्त्व से युक्त थी; किन्तु शरीरविज्ञान के अनुसार संचरण की दृष्टि से अंगूठे को महत्त्व दिया गया है।

शास्त्रकार कहते हैं कि गणधर गौतम ने तप के बल पर ऐसी शक्ति भी अर्जित कर ली थी, जिसके प्रभाव से किञ्चित क्रोध आने पर सोलह महाजन पदों को क्षण भर में भस्मसात किया जा सकता था।

इस वर्णन का मूल हार्द यही है कि तप साधना के माध्यम से देहजन्य और चित्जन्य समस्त शक्तियाँ एवं सुख सामग्रियाँ उपलब्ध की जा सकती हैं।

वैदिक धर्म की दृष्टि से– वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर तप का वर्णन देखा जाता है। वहाँ तप की महत्ता का सामान्य वर्णन करते हुए कहा गया है कि तप से जीवन तेजस्वी, ओजस्वी और प्रभावशाली बनता है। वैदिक संहिताओं में तप के लिए 'तेजस्' शब्द व्यवहृत हुआ है। जीवन को तेज व ओजयुक्त बनाने के लिए तपस् साधना की प्रेरणा दी गयी है।

वैदिक ऋषि तप के मूल्य का सबलतम उद्घोष करते हुए कहते हैं कि तपस्या से ही ऋत् और सत्य उत्पन्न हुए हैं।[68] तपस्या से ही वेद उत्पन्न हुए हैं।[69] तपस्या से ही व्रत खोजा जाता है।[70] तपस्या से ही मृत्यु पर विजय पायी जाती है और ब्रह्मलोक प्राप्त किया जाता है।[71] तपस्या के द्वारा ही तपस्वी जन लोक कल्याण का विचार करते हैं।[72] तपस्या से ही लोक में विजय प्राप्त की जाती है।[73] तप ही मेरी प्रतिष्ठा है।[74] तप के द्वारा ही श्रेष्ठ और परमज्ञान प्रकट होता है।[75] जो तपता है और अपने कर्त्तव्य में संलग्न रहता है वह संसार में सर्वत्र यश को सम्प्राप्त होता है।[76] धर्म के जितने भी अंग हैं चाहे वह ऋत् हो, सत्य हो, तप हो, श्रुत हो, शान्ति हो चाहे दान हो वे सभी तप के ही अंग हैं।[77] तप से आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है।[78] स्वर्ग सम्प्राप्ति के सप्त द्वारों में प्रथम द्वार तप है[79] और तप को केन्द्र बनाकर ही धर्म विकसित हुआ है। इससे भी बढ़कर हिन्दू-परम्परा तो तप रूप साधन को साध्य के तुल्य मानती हुई कहती है कि 'तप ही ब्रह्म है'।[80] जैन साधना में भी तप को आत्मिक गुण

मानकर उसे साध्य और साधन दोनों रूप में स्वीकार किया गया है।

आचार्य मनु कहते हैं कि संसार में जो कुछ है, वह तप ही है। इस संसार में जो कुछ भी दुर्लभ और दुस्तर है वह सब तपस्या से साध्य है। तपस्या की शक्ति दुरतिक्रम है। तप सबको जीत सकता है तप को कोई जीत नहीं सकता।[81] निम्न आचरण करने वाले भी तपस्या से तप्त होकर किल्विषी योनि से मुक्त हो जाते हैं।[82] इस भाँति तप की महत्ता के सम्बन्ध में अनेकों साक्ष्य वैदिक ग्रन्थों से उदधृत किये जा सकते हैं।

बौद्ध धर्म की दृष्टि से– जैन और बौद्ध दोनों ही निकट पड़ोसी धर्म हैं और श्रमण धर्म के नाम से पुकारे जाते है फिर भी जैन और हिन्दू-परम्परा में तप शब्द का प्रयोग जिस कठोर आचार के अर्थ में हुआ है वह बौद्ध की मध्यममार्गी साधना के कारण उतने कठोर अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। तथागत बुद्ध मध्यम मार्ग के उपदेष्टा थे, अत: उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा कि तप वैसा करना चाहिए जिससे न स्वयं को और न दूसरों को कष्ट हो। बौद्ध मत में जिस प्रयास से चित्तशुद्धि होती है, वही तप है।

आम लोगों में यह धारणा है कि महात्मा बुद्ध तप के विरोधी थे। इस तथ्य को प्रमाणित करते हुए कहा जाता है कि साधना काल के प्रारम्भ में उन्होंने छ: वर्ष तक उग्र साधना की थी, लेकिन सफलता न मिल पाने के कारण वे तपस्या से उदासीन हो गये। एक दिन कोई गायक मण्डली उनके समीप से गुजर रही थी, उनमें एक अनुभवी गायिका किसी नवशिक्षित युवती से कह रही थी सितार के तारों को इतना भी ढीला मत छोड़ो कि वे बजे ही नहीं और इतना अधिक मत कसो कि वे टूट ही जायें। तपस्या से उद्विग्न बुद्ध ने यह शब्द सुने तो बुझा मन प्रकाशित हो उठा। विचार किया,यह जीवन न केवल आराम या भोगप्रधान है और न ही देहदण्ड-दमन रूप ही है। अत: मध्यम मार्ग को अपनाया जाना चाहिए, वे उस मार्ग की ओर तुरन्त प्रस्थित हो गये।

यह घटना इस बात को सिद्ध करती है कि भगवान बुद्ध ने प्रारम्भकाल में तथा कुछ समय के अनन्तर युवावस्था, प्रौढ़ावस्था में भी तपश्चरण को अपनाये रखा था। हाँ! पूर्व और पश्चात की तप साधना में तारतम्यता की अपेक्षा अवश्य अन्तर रहा होगा, क्योंकि परवर्ती समय में उन्होंने मध्यम मार्ग को चुन लिया था।

बौद्ध साहित्य में तप की मूल्यवत्ता को दर्शाने वाले कई सन्दर्भ प्राप्त होते हैं जैसे– भगवान बुद्ध ने महामंगलसुत्त में कहा है कि तप, ब्रह्मचर्य, आर्य सत्यों का दर्शन और निर्वाण का साक्षात्कार ये उत्तम मंगल हैं।[83] कासिभारद्वाजसुत्त में भी तथागत ने कहा है कि मैं श्रद्धा का बीज बोता हूँ, उस पर तपश्चर्या की वृष्टि होती है तथा शरीर, वाणी से संयम रखता हूँ और आहार में परिमित रहकर सत्य द्वारा मैं स्वयं के दोषों का निरीक्षण करता हूँ।[84] दिट्ठिवज्जसुत्त में बताया गया है कि किसी तप या व्रत के करने से कुशल धर्म बढ़ते हैं, अकुशल धर्म घटते हैं, अत: उसे अवश्य करना चाहिए।[85]

बुद्ध ने अपने शिष्यों को एक बार भोजन करने के लिए कहा है तथा बौद्ध श्रमणों को रस में आसक्ति रखने का भी निषेध किया है। मज्झिमनिकाय, महासीहनादसुत्त में बुद्ध की कठिन तपश्चर्याओं का विस्तृत वर्णन है।

उपर्युक्त वर्णन से एक तथ्य यह सामने आता है कि भगवान बुद्ध ने तप को कठोर देह दण्ड के रूप में स्वीकार नहीं किया तो जैन धर्म भी तप को केवल देहदण्ड नहीं मानता, वह चित्त शुद्धि, ध्यान आदि को भी तप मानता है। इस दृष्टि से विचार करें तो जैन धर्म का आभ्यन्तर तप बौद्ध धर्म से समानता रखता है।

व्यावहारिक दृष्टि से– कुछ लोग तप को देह दण्डन रूप क्रिया मानते हैं। इस देह दण्डन को यदि कुछ ढीले अर्थ में लिया जाये तो उसकी व्यावहारिक उपादेयता सिद्ध हो जाती है जैसे– व्यायाम के रूप में किया गया देह दण्डन (शारीरिक कष्ट) स्वास्थ्य रक्षा एवं शक्ति संचय का कारण होकर जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में भी लाभप्रद होता है, वैसे ही तपस्या के रूप में देह-दण्डन का अभ्यास करने वाला कष्ट-सहिष्णु शक्ति विकसित कर लेता है, जो वासनाओं के संघर्ष में ही नहीं, जीवन की सामान्य स्थितियों में भी सहायक होती है।

एक उपवास का अभ्यासी व्यक्ति यदि किसी परिस्थिति में भोजन नहीं कर पाता तो इतना व्याकुल नहीं होगा जितना कि अनभ्यस्त व्यक्ति। व्याकुलता शरीर और मन दोनों के लिए हानिकारक है। साथ ही व्यवहार जगत में सभ्यता व शिष्टाचार के प्रतिकूल आचरण है, किन्तु तप साधना से व्याकुलता पर विजय पायी जा सकती है।

कष्ट सहिष्णुता का अभ्यास आध्यात्मिक जगत के लिए भी आवश्यक है।

कष्ट सहिष्णु साधक ही अध्यात्म की उँचाइयों को छू सकता है। आत्म साधना के पथ पर किसी न किसी तरह दैहिक कष्ट सहना ही होता है जब साधक देह कष्ट से ऊपर उठ जाता है, सचमुच में साधना तभी फलती एवं पूर्णता को प्राप्त होती है। इस प्रकार तपश्चर्या व्यावहारिक पक्ष को सन्तुलित व समन्वित रखती हुई ही अध्यात्म विकास में सहयोगी बनती है।

जहाँ तक तपश्चर्या के पीछे लोकोत्तर फल की कामना का प्रश्न है वहाँ मानना होगा कि आध्यात्मिक दृष्टि के बिना शारीरिक यन्त्रणा अपने आप में कोई तप नहीं है। उसमें भी यदि इस शारीरिक यन्त्रणा के पीछे लौकिक या पारलौकिक स्वार्थ है तो फिर उसे तपस्या कहना महान् मूर्खता होगी।[86]

वर्तमान युग की दृष्टि से– अनशन में कितनी शक्ति हो सकती है, इसे आज गाँधी युग का हर व्यक्ति जानता है। तपस्या करने वाले तो उसका प्रत्यक्ष प्रयोग देख चुके हैं। सर्वोदय समाज रचना तो उपवास के मूल्य को स्वीकार करती ही है; किन्तु देश में उत्पन्न अन्न संकट की समस्या ने भी इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है।

आधुनिक चिकित्सक एवं वैज्ञानिक भी इसकी उपादेयता को सिद्ध कर चुके हैं। प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली का तो मूल आधार ही उपवास है। ऊनोदरी या भूख से कम भोजन करना, रस परित्याग करना भी स्वास्थ्य की दृष्टि से मूल्यवान है। इससे संयम में अभिवृद्धि एवं इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है। गांधी जी ने इसी मूल्य को ध्यान में रखकर ग्यारह व्रतों में आस्वाद व्रत का विधान किया था। यद्यपि वर्तमान युग भिक्षा-वृत्ति को उचित नहीं मानता है तथापि समाज-व्यवस्था की दृष्टि से इसका दूसरा पहलू भी है।

जैन आचार-व्यवस्था में भिक्षावृत्ति के जो नियम प्रतिपादित हैं, वे अपने आप में इतने सबल हैं कि भिक्षावृत्ति के सम्भावित दोषों का निराकरण स्वत: हो जाता है। भिक्षावृत्ति के लिए अहं का त्याग आवश्यक है और नैतिक दृष्टि से उसका कम मूल्य नहीं है।

विविध पहलुओं की दृष्टि से– तप के आभ्यन्तर भेदों में ध्यान और कायोत्सर्ग का साधनात्मक दृष्टि से बहुत बड़ा मूल्य है। उन्हीं भेदों में स्वाध्याय, वैयावृत्य (सेवा) एवं विनय का तो सामाजिक एवं वैयक्तिक दोनों दृष्टियों से महत्त्व है। सेवाभाव और अनुशासित जीवन (विनय गुण) ये दोनों सभ्य समाज

के आवश्यक गुण हैं। ईसाई धर्म में तो सेवाभाव को काफी अधिक महत्त्व दिया गया है। आज उसके व्यापक प्रचार का एकमात्र कारण उसकी सेवा भावना व सहयोग भावना ही है। पारिवारिक दृष्टि से सेवाभाव एक आवश्यक तत्त्व है। इस युग को प्रायोगिक रूप देने पर परिवार और समाज में पारस्परिक सौहार्द्रता, संवेदनशीलता, समर्पण भावना, सहयोग भावना, वसुधैव कुटुम्बकम जैसे महान आदर्शों की स्थापना होती है।

आभ्यन्तर तप का चौथा भेद स्वाध्याय है। इसका महत्त्व आध्यात्मिक विकास और ज्ञानात्मक विकास दोनों दृष्टियों से है। एक ओर उससे स्व का अध्ययन होता है तो दूसरी ओर ज्ञान का अनुशीलन। ज्ञान और विज्ञान की सारी प्रगति के मूल में स्वाध्याय ही है। आभ्यन्तर तप का प्रथम भेद प्रायश्चित्त है। यह एक प्रकार से अपराधी द्वारा स्वयाचित-स्वेच्छागृहीत दण्ड है। यदि व्यक्ति में प्रायश्चित्त की भावना जागृत हो जाये तो उसका जीवन ही बदल सकता है। जिस समाज में भूल को दण्ड रूप में स्वीकार करने वाले लोग हों, वह समाज निःसन्देह आदर्श का जीता-जागता उदाहरण होता है। इस तरह तप के मुख्य प्रकारों के विविध मूल्य हैं जिनका समुचित मूल्यांकन सहज नहीं है।[87]

तप-साधना भारतीय संस्कृति का प्राण रही है। श्री भरतसिंह उपाध्याय के शब्दों में भारतीय संस्कृति में "जो कुछ भी शाश्वत है, जो कुछ उदात्त एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व है,वह सब तपस्या से ही सम्भूत है। तपस्या से ही इस राष्ट्र का बल या ओज उत्पन्न हुआ। तपस्या भारतीय दर्शनशास्त्र की ही नहीं, अपितु उसके समस्त इतिहास की प्रस्तावना है। प्रत्येक साधना-प्रणाली वह आध्यात्मिक हो, चाहे भौतिक, सभी तपस्या की भावना से अनुप्राणित है।"

भारतीय संस्कृति में तप के महत्त्व को अधिक स्पष्ट करते हुए काका कालेलकर लिखते हैं कि "बुद्धकालीन भिक्षुओं की तपश्चर्या के परिणामस्वरूप ही अशोक के साम्राज्य का और मौर्यकालीन संस्कृति का विस्तार हो पाया। शंकराचार्य की तपस्या से हिन्दू-धर्म का संस्करण हुआ। महावीर की तपस्या से अहिंसा धर्म का प्रचार हुआ। चैतन्य महाप्रभु, जो मुख शुद्धि के हेतु एक हर्रे भी मुँह में नहीं रखते थे, उनके तप से बंगाल में वैष्णव संस्कृति विकसित हुई।"[88]

यह सब तो भूतकाल के तथ्य हैं, लेकिन वर्तमान युग का जीवन्त तथ्य है – महात्मा गाँधी और अन्य भारतीय नेताओं का तपोमय जीवन, जिन्होंने अहिंसा

के माध्यम से देश को स्वतन्त्र कराया। वस्तुत: तप साधना भारतीय संस्कृति का उज्ज्वलतम पक्ष है और उसके बिना भारतीय संस्कृति में पल रही जैन, बौद्ध या हिन्दू संस्कृति ही क्यों न हो, समुचित रूप में समझा नहीं जा सकता।

तप विधियों के रहस्य

तप का प्रत्याख्यान गुरु मुख से ही क्यों?

किसी भी प्रकार के तप का प्रत्याख्यान, व्रत उच्चारण आदि गुरुमुख से किया जाता है, गुरुजन या साधु-साध्वी का सान्निध्य न हो तो पूज्यजनों से अन्यथा परमात्मा के समक्ष स्वयं द्वारा किया जाता है। प्रश्न उठ सकता है कि गुरु मुख से प्रत्याख्यान क्यों करना चाहिए और उसके क्या फायदें हैं?

सर्वप्रथम तो प्रत्याख्यान लेने से व्यक्ति के मन में दृढ़ता आ जाती है, फिर परिस्थितियाँ उसे कमजोर नहीं बना सकती। इससे अनावश्यक पाप एवं परिग्रह का त्याग भी हो जाता है। गुरु मुख से प्रत्याख्यान लेने पर गुरु कृपा प्राप्त होती है, उनके तप-त्याग एवं संयमबल की ऊर्जा का भावों में संचरण होता है और हमारे भीतर एक नयी स्फूर्ति एवं शक्ति प्रकट होती है। गुरु प्रत्याख्यानग्राही की शक्ति एवं सामर्थ्य देखकर उसे तद्योग्य तपस्या आदि के लिए प्रेरणा देकर मनोबल में वृद्धि करते हैं। जैन परम्परा में किसी भी तप या व्रत प्रत्याख्यान को परमात्मा, गुरु एवं स्वयं ऐसे तीन साक्षियों से तीन बार ग्रहण करने का भी नियम है। इससे व्रत खण्डन की सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती है।

तप काल में बाह्य कार्यों से निवृत्ति आवश्यक क्यों?

तप का मुख्य लक्ष्य मात्र शरीर को कष्ट देना या तपाना नहीं है अपितु स्व रमणता और आत्मतत्त्व की जागृति है। यदि तप के समय में तप आराधक बाह्य क्रियाओं में ही जुटा रहेगा तो वह आत्म चिन्तन में प्रवृत्त कैसे होगा ? दूसरा कारण यह है कि तप के दौरान अधिक से अधिक जीवों को अभयदान देना चाहिए जिसके लिए विवेक एवं निवृत्ति आवश्यक है। तीसरा हेतु यह है कि बाह्य क्रियाओं में प्रवृत्त रहने से शुभ भावों की उत्पत्ति नहीं होती और काम-काज से थकने के कारण तनाव, क्रोध आदि में भी वृद्धि होती है, जिससे स्वयं को और दूसरों को तप के प्रति अभाव उत्पन्न हो सकता है, परन्तु यह बात परिस्थिति सापेक्ष है। यदि किसी के यहाँ कोई काम करने वाला ही न हों अथवा इस कारण बहू, नौकर आदि पर अत्यधिक कार्य भार आ जाने से पारिवारिक

क्लेश आदि उत्पन्न होते हों, ऐसे समय में विवेक रखते हुए स्वयं के लिए ऐसे कार्य रखने चाहिए जिसमें अल्प हिंसा हो, कार्य करते हुए भी शुभ चिन्तन में प्रवृत्त रहा जा सके तथा भावों की शुद्धता एवं निर्मलता रह सके। तप की (Quantity) में ही नहीं (Quality) में भी वृद्धि होनी चाहिए।

तपस्या में खमासमण, जाप, कायोत्सर्ग, साथिया, प्रदक्षिणा आदि क्यों ?

जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक-परम्परा में अधिकांश तपस्याओं के दौरान निश्चित संख्या के अनुसार खमासमण, प्रदक्षिणा, साथिया, कायोत्सर्ग, जाप आदि करने का विधान है। इसमें निम्न रहस्य अन्तर्भूत होने चाहिए–

• तपस्या के दिनों में बाह्य कार्यों से निवृत्ति मिल पाने के कारण स्वभाव से जुड़ने का एक सुन्दर अवसर उपस्थित होता है उसका सदुपयोग करने हेतु कायोत्सर्ग के माध्यम से ध्यान रूपी आभ्यंतर तप में प्रवृत्त होते हैं। ध्यान को मोक्ष का अनन्तर कारण माना गया है। जहाँ अनशन आदि तप के द्वारा शारीरिक राग को समाप्त करने का प्रयास किया जाता है वहीं कायोत्सर्ग के माध्यम से राग भाव को क्षीण कर ज्ञाता-द्रष्टा में रहने का प्रयत्न किया जाता है। आत्मा का अन्तिम लक्ष्य एवं तपस्या का मुख्य ध्येय मोक्ष है उसी की सम्प्राप्ति हेतु कायोत्सर्ग का विधान किया गया है।

• पूर्वाचार्यों के मतानुसार किसी भी तपाराधना की सफलता के लिए कम से कम 20 माला यानी 2000 का जाप करना आवश्यक है। दूसरा कारण यह है कि किसी एक मन्त्र पर चित्त को स्थिर करने से एकाग्रता बढ़ती है, मन का बाहरी भटकाव कम होता है तथा आन्तरिक शान्ति एवं समाधि की प्राप्ति होती है। इससे मन्त्र सिद्धि भी होती है। • खमासमण देने से विनय गुण की प्राप्ति, अहंकार का दमन एवं भक्ति योग में वृद्धि होती है। पूज्य के सम्मुख झुकने से लघुता का गुण प्रकट होता है। शारीरिक शिथिलता दूर होती है। शरीर के साथ-साथ मन भी कोमल बनता है। वीतराग परमात्मा के प्रति समर्पण एवं श्रद्धा भाव कर्म निर्जरा और अभीष्ट सिद्धि में सहायक बनते हैं। • प्रदक्षिणा के द्वारा भव भ्रमण से छुटकारा पाने के भाव उत्पन्न होते हैं। उस समय तपवाही सोचता है कि मन्दिर की फेरी देना भी कठिन कार्य जैसा लग रहा है तब संसार में परिभ्रमण करना कितना पीड़ादायक है? इस तरह के भाव प्रगट होने पर निजता में प्रभुता को पाने की ओर अग्रसर होता है।

यहाँ यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि आज का व्यस्त जीवन जीने वाले कई लोग प्रश्न करते हैं कि हम तपस्या तो फिर भी कर सकते हैं पर इन क्रियाओं के लिए हमारे पास समय नहीं है या इतनी बड़ी क्रियाओं में हमारा मन नहीं लगता? तो ऐसे लोग जो सही में मुम्बई जैसी फास्ट लाइफ जीते हैं, जहाँ सुबह पांच बजे से ही उन्हें काम पर निकलना पड़ता है और बाद में माला आदि फेरने का भी समय नहीं रहता, वे ज्ञानी गुरु भगवन्तों द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त कर परिस्थिति सापेक्ष वर्तन कर सकते हैं। परन्तु जो लोग मात्र बड़ी क्रियाओं के नाम पर क्रिया नहीं करते और ऐसे ही टेलीविजन आदि देखकर समय बिताते हैं, उनके लिए तपस्या करना मात्र भूखे रहना है। ऐसी तपस्या शारीरिक लाभ भले दे दें पर मानसिक या आध्यात्मिक प्रगति में सहायक नहीं बनती तथा शारीरिक दृष्टि से भी उतनी लाभदायी नहीं होती।

तपस्या में देववन्दन आवश्यक क्यों ?

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक-परम्परा में तप के साथ देववन्दन करना अनिवार्य माना गया है। वह देववन्दन क्या और क्यों किया जाता है? तथा इसे कितनी बार करना चाहिए?

चैत्यवन्दन भाष्य के अनुसार पांच शक्रस्तव (णमुत्थुणंसूत्र) एवं दो स्तुति युगल के द्वारा तीर्थङ्कर परमात्मा का जो उत्कृष्ट चैत्यवन्दन किया जाता है, यही देववन्दन कहलाता है। देववन्दन एक शुभ अनुष्ठान है। इस क्रिया के द्वारा मूलत: अरिहन्त परमात्मा को वन्दन एवं उनके गुणों का स्मरण करते हैं। अरिहन्त प्रभु की कृपा से ही तप जैसी कठिन साधना संभव है। दुनियाँ में सर्वश्रेष्ठ पुरुष अरिहन्त परमात्मा ही होते हैं अत: उनके नाम सुमिरण एवं आराधना से समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं। जिसके निमित्त से कार्य सिद्धि हो उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना, उपकृत होना, अहोभाव जागृत करना, लौकिक कर्त्तव्य भी है। देववन्दन कृतज्ञता ज्ञापन का भी सूचक है। देववन्दन का दूसरा फलितार्थ है कि यह एक परमात्म भक्ति का उपक्रम है। भक्ति करने से परमात्मा का गुणानुराग एवं वैसे ही गुणों का विकास हमारे भीतर भी होता है। भक्ति से एक धनात्मक ऊर्जा (पॉजिटिव एनर्जी) अथवा विधेयात्मक शक्ति प्राप्त होती है तथा मानसिक शान्ति की अनुभूति होती है।

देववन्दन कितनी बार किया जाये? इस सम्बन्ध में ऐसा है कि कई तपों

में एक बार तो कुछैक तपों जैसे– नवपद, बीस स्थानक आदि में त्रिकाल देववन्दन का विधान है। इसके पीछे मुख्य कारण यह कहा जा सकता है कि नवपद आदि शाश्वत तप हैं। बीसस्थानक की आराधना प्रत्येक तीर्थङ्करों के द्वारा एवं उनके शासनकाल में होती ही है। अत: ऐसे तप विशेष की महिमा दर्शाने के लिए तीन बार देववन्दन की परम्परा बनायी गयी है। वैसे बिना तप के भी देववन्दन किया जा सकता है।

देववन्दन कब करना ?

जिन तपस्याओं में त्रिकाल देववन्दन का नियम है वहाँ त्रिकाल दर्शन के समय में देववन्दन करना चाहिए यानी सूर्योदय के बाद से दिन के पहले प्रहर तक प्रथम देववन्दन, दूसरे प्रहर के मध्य समय में मध्याह्नकाल का देववन्दन तथा सूर्यास्त से पूर्व तीसरी बार का देववन्दन करना चाहिए। जहाँ एक बार देववन्दन का विधान है वह मध्याह्नकाल में करना चाहिए, क्योंकि देववन्दन न करने तक आराधक का मन प्रत्याख्यान में स्थिर रहेगा। वैसे मध्याह्नकाल पूजा-भक्ति के लिए उत्कृष्ट भी माना गया है।

कई जगह रूढ़ि परम्परा से यह धारणाएँ पाल रखी है कि देववन्दन साढ़े बारह बजे तक कर लेना चाहिए, कारण विशेष से न हो तो उसके बाद नहीं किया जा सकता?

वैसे पुरिमड्ढ तक तो देववन्दन का विधान है ही। इसके समय निर्धारण का एक कारण उस क्रिया के लिए समय नियोजन की अपेक्षा से होना चाहिए, अन्यथा कोई कभी भी करेगा तो उस क्रिया का अपना महत्त्व नहीं रहेगा, परन्तु किसी कारणवश यदि बाद में करना पड़े तो उसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि देववन्दन यह परमात्मा का गुणगान है जो कि कभी भी किया जा सकता है।

वर्तमान में देववन्दन के स्थान पर नवकार मन्त्र की एक माला गिनने की परम्परा भी देखी जाती है। यह परिस्थितिवश आया हुआ अपवाद मार्ग है, जिसके निम्न कारण पाये जाते हैं –

यदि किसी को देववन्दन के सूत्र पाठ आते ही न हों और कोई करवाने वाला भी न हो। ऐसे साधकों के मन में क्रिया पूर्ण नहीं हुई, ऐसा खेद न रहे या इस कारण वे तप से ही वञ्चित न रह जाएँ, इसलिए उन लोगों के लिए एक माला का विधान हो सकता है। दूसरा कारण यह सम्भव है कि कोई परिस्थिति

विशेष से देववन्दन न कर पायें तो वह एक माला गिनकर उसकी पूर्ति कर ले, अन्यथा क्रिया अपूर्ण रह जायेगी ऐसा कहा गया हो अथवा सुना हो, इसलिए भी नवकारवाली गिनने का प्रचलन देखा जाता है। परन्तु यदि कोई टालमटोली या ऐसे ही देववन्दन न करे और फिर उसकी जगह एक माला गिने तो यह लापरवाही या क्रिया की अवहेलना होगी।

तपोत्सव में बढ़ रहे आडम्बर एवं प्रदर्शन कितने प्रासंगिक?

तप आत्मशुद्धि और स्व-जागृति की प्रक्रिया है। इसके प्रति बहुमान के भाव तो सबके हृदय में होने ही चाहिए तथा उत्तम रूप से तप का बहुमान भी होना चाहिए। तप के उद्यापन में आडम्बर आदि धर्म की प्रभावना हेतु किये जाते हैं, परन्तु इसमें तप कर्ता के मन में स्वयं का अभिनंदन करवाने या लेने की भावना नहीं होनी चाहिए। वर्तमान में इसका रूप और भाव दोनों बदल गये हैं जिससे धर्म एवं तप की प्रभावना के स्थान पर हिलना हो रही है।

आज अट्ठाई से लेकर उससे ऊपर की तपस्याओं में लेने-देने की परम्परा बहुत अधिक बढ़ गयी है। सामान्य परिस्थिति वाले लोगों को तप करने से पहले सोचना पड़ता है, क्योंकि यदि किसी के पास पचास हजार, लाख रुपया खर्च करने के लिए है तो वह तप में साधर्मीवात्सल्य, अच्छी प्रभावना, शासन माता के गीत आदि कर सकता है और इसी के साथ पीहर पक्ष वालों के भी सामान्य में पन्द्रह-बीस हजार का खर्चा आ जाता है। इस हेतु आधुनिक युग में कई लोग तपस्या से कतराते हैं, आज तपस्या स्टेटस सिम्बल बन गयी है। इन सामाजिक रूढ़ियों के कारण लोग तप से विमुख होते जा रहे हैं।

आज कई सम्पन्न श्रावकों के द्वारा तप का आयोजन रखा जाता है जिसमें पूर्व से ही यह विज्ञापन शुरू कर देते हैं कि अमुक-अमुक प्रकार के कार्यक्रम और अल्पाहार आदि की व्यवस्था रहेगी जिससे अधिक लोग जुट सकें। जिस प्रकार हर सिक्के के दो पहलू होते हैं वैसे ही इसके भी दो पक्ष हैं। इस प्रकार के प्रलोभनों से लोग अधिक आकर्षित होते हैं, परन्तु इससे व्यक्ति तप का सही स्वरूप विस्मृत करता जा रहा है और आराधना का मूल्यांकन भी प्राप्त सामग्री के आधार पर करने लग गया है, जो कि गलत है।

मेरे मतानुसार समाज में तप खर्च को लेकर एक सीमा निश्चित हो जानी

चाहिए। चाहे धनाढ्य लोग हों या सामान्य वर्गीजन। इसके अतिरिक्त किसी को अधिक करना भी हो तो वह साधर्मिक उत्थान, शिक्षा, जीवदया, शासन प्रभावना के कार्यों में अपनी सम्पत्ति का सत्प्रयोग करें।

आज पर्युषण जैसे दिनों में भी शासन माता के गीतों को लेकर बाहर की अभक्ष्य वस्तुएँ नाश्ते में रख दी जाती हैं, साधर्मी वात्सल्य में भी भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक नहीं रखा जाता है। त्याग का अभिनन्दन तो तप-त्याग से ही होना चाहिए, खाना-पीना, सोना-चांदी से कैसा अभिनन्दन? करना है तो उनके निमित्त से जीवन में कोई सत नियम स्वीकार किया जाए तथा प्रत्येक लेन-देन की एक सीमा बांध दी जाए। यदि हो सके तो कम से कम परिग्रह बढ़ाने सम्बन्धी त्याग ही होना चाहिए। वरन् शाता पूछने वालों के सामने तप-त्याग की चर्चा तो कम, किन्तु किसने क्या दिया? कितना दिया? बस यही चर्चा होती है, जिससे तप करके कर्मों की निर्जरा नहीं प्रत्युत कर्म बन्धन बढ़ता है। अत: तप का अभिनन्दन-अनुमोदन तो अवश्य होना चाहिए, पर उसके निमित्त ऐसी परम्पराएँ प्रचलन में न आएं, जिससे तप का मूल्य घटे या उसके प्रति लोगों में हीन भावना उत्पन्न हो। वर्तमान में बाह्य एवं आभ्यन्तर तप को लेकर भी कई प्रश्न उठाये जाते हैं।

बाह्य तप अधिक आवश्यक है या आभ्यन्तर तप ?

लोक व्यवहार में अधिकतम लोग उपवास, एकासना आदि को ही तप के रूप में करते हैं और मानते हैं शेष को वह महत्त्व नहीं, जबकि उनकी साधना भी उतनी ही कठिन है। इस तप में तो सिर्फ स्व-शरीर ही तपता है, परन्तु आभ्यन्तर तप में अहंकार, कषाय आदि तप कर गलते हैं, अत: सभी का अपना स्थान है जिसका जैसा सामर्थ्य हो, उसे वैसी आराधना करनी चाहिए।

जहाँ बाह्य तप इन्द्रियों के प्रति आसक्ति, स्वाद लोलुपता, शरीर राग को कम करता है वहीं आभ्यन्तर तप आन्तरिक गुणों में वृद्धि करते हैं, आत्म निर्मलता को बढ़ाते हैं तथा विनय, मार्दव, आर्जव आदि धर्म में भी वृद्धि करते हैं। अत: दोनों की साधना साथ ही होनी चाहिए।

कुछ लोग यह प्रश्न उठाते हैं कि यदि आभ्यन्तर तप से शुद्धि हो सकती है तो फिर बाह्य तप की क्या आवश्यकता है ?

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं कि दोनों तपों का अपना स्वतन्त्र मूल्य

है। दूसरी बात यह है कि जब तक द्रव्य द्वारा किसी क्रिया से न जुड़ा जाए तब तक हर किसी को भाव भी उत्पन्न नहीं हो सकते। तीसरी बात, शरीर को तो गरिष्ठ भोजन द्वारा हृष्ट-पुष्ट किया जाए और यह सोचे कि आभ्यन्तर शुद्धि रहेगी तो यह सम्भव नहीं लगता, क्योंकि आहार हमारे शरीर और मन दोनों को प्रभावित करता है। शारीरिक राग न्यून नहीं हो, तब तक सेवा आदि कार्य भी नहीं हो सकते।

कई लोग यह तर्क करते हैं कि जैन धर्म अहिंसावादी धर्म है फिर अपने शरीर को कष्ट देने अथवा तप आदि करने में हिंसा नहीं है क्या?

यह प्रश्न उठाने से पहले हिंसा और अहिंसा की सही परिभाषा समझना आवश्यक है। जिस कार्य से किसी की आत्मा या शरीर पीड़ित हो वह हिंसा है, परन्तु तपस्या में इच्छापूर्वक कष्टों को सहन किया जाता है जो कि कर्म निर्जरा एवं देहासक्ति को न्यून करने में हेतुभूत हैं, यह हिंसा की श्रेणी में नहीं आता। जब व्यक्ति व्यापार आदि सीजन के समय में दिन-दिन भर भूखा रहता है तब वह कष्ट भी उसे प्रिय लगता है, वैसे ही आत्म साधना के इच्छुक आत्मार्थियों के लिए तप आदि की पीड़ा आनन्ददायक होती है।

भारतीय ऋषि मुनियों एवं योग साधकों ने अपने साधना एवं अनुभव ज्ञान के आधार पर विश्व संस्कृति को अनेक त्रिकाल प्रासंगिक विधानों से समृद्ध किया, उनकी दृष्टि मात्र आध्यात्मिक या भौतिक विकास तक सीमित नहीं थी, अपितु उसमें शारीरिक स्वस्थता, मानसिक शांतता आदि का भी पुट समाहित रहता था। इस अध्याय के माध्यम से तप का सर्वांगीण स्वरूप दिग्दर्शित करने का प्रयास किया है।

सन्दर्भ-सूची

1. *जैन धर्म में तप स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 93-95*
2. *दशवैकालिकसूत्र, संपा, मधुकरमुनि, 9/4/10*
3. *आचारांगनिर्युक्ति, गा. 283*
4. *उत्तराध्ययनसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 29/27*
5. *भगवतीसूत्र, 2/5/16*
6. *जैन धर्म में तप स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 56-64*
7. *जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भा. 2, पृ. 102*

8. बुद्धलीलासार संग्रह, पृ. 280-281
9. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/13
10. वही, 29/27-28
11. वही, 25/35
12. जहा महातलायस्स, सन्निरूद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥
एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे।
भवकोडी संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥
वही, 30/5-6
13. निःसङ्गता शरीरलाघवेन्द्रियविजयसंयमरक्षणादि।
गुण योगात् शुभध्यानावत्थितस्य कर्मनिर्जरणम् ॥
उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्र 608
14. दशाश्रुतस्कन्ध, संपा. मधुकरमुनि, 5/6, पृ. 35
15. मैत्रायणी आरण्यक, 1/4
16. योगवाशिष्ठ, 2/68/14
17. हठयोगप्रदीपिका, 1/17
18. योगदर्शन, 2/52
19. मज्झिमनिकाय, 2/2/2, विसुद्धिमग्गो, पृ. 269
20. योगदर्शन, 1/51
21. आवश्यकनिर्युक्ति, 1459
22. (क) आर्ष, 21/12
(ख) तत्त्वानुशासन, पृ. 161
23. जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन, दिगे अर्हतदास बन्डोवा, पृ. 161
24. सूत्रकृतांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 1/16/1
25. दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका, अध्ययन 10
26. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, (निर्युक्तिपंचक), गा. 373
27. दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका, अध्ययन 1
28. सूत्रकृतांग, 1/16/1 की शीलांक टीका, पृ. 263
29. कल्पसूत्र, संपा. देवेन्द्रमुनिशास्त्री, 196
30. उग्गं च तवोकम्मं, विसेसओ वद्धमाणस्स।
आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 240

31. (क) तिन्नि सए दिवसाणं, अउणापन्ने य पारणाकालो।
आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 534
(ख) आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, पत्र 227-229
(ग) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, 10/4/651-657
32. कल्पसूत्र, पृ. 185-186
33. (क) अनुत्तरोपपातिकसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 3/1/6
(ख) अन्तकृद्दशांगसूत्र, वर्ग 6-3, वर्ग 8-1-10
34. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 450
35. आवश्यकचूर्णि जिनदासगणिमहत्तर, पृ. 235
36. समवायांगसूत्र अभयदेव टीका, पृ. 100
37. कल्पसूत्र, पृ. 39
38. वीतरागस्तोत्र, 4/14
39. (क) ज्ञाताधर्मकथासूत्र, 8/14
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, 6/24
40. अभूमिज मनाकाशं, पथ्यं रस विवर्जनम्।
सम्मतं सर्वशास्त्राणां, वद वैद्य किमौषधम्?
जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 532
41. अभूमिजमनाकाशं, पत्थ्यं रस विवर्जनम्।
पूर्वाचार्यः समाख्यातां, लंघनं परमौषधम्॥
42. उपवास, पृ. 9-10 वही, पृ. 532
43. उपवास से जीवन रक्षा, पृ. 32-33
44. जिनवाणी, संपा. डॉ. नरेन्द्र भानावत, पृ. 128-131
45. तएणं तस्स भरहस्स...आउहघरसालाए दिव्वे चक्करयणे समुप्पजित्था। तएणं से भरहेराया ... पोसहसाला उवागच्छइ... अट्ठमभत्तं पगिण्हइ। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, 3/53, 57
46. जैन धर्म में तप स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 52-53
47. ततेणं तुम्हे अम्हं ईंदा भविस्सह.....
भगवतीसूत्र, 3/1/36-45
48. प्रवचनसारोद्धार, 270, 1492
49. वही, 270, 1495
50. योगदर्शन, 2/36
51. भगवतीसूत्र, अभयदेवटीका, 8/2
52. दसविहा लद्धी पण्णत्ता... भगवतीसूत्र, 8/2/92

53. आमोसहि विप्पोसहि, खेलोसहि जल्लओसही चेव।
सव्वोसहि संभिन्ने, ओहीरिउ विउलमइलद्धी ॥
चारण आसीविस, केवलिय गणहारिणो य पुव्वधरा।
अरहंत चक्कवट्टी, बलदेवा वासुदेवा वायं ॥
खीरमहुसप्पिआसव, कोट्ठयबुद्धी पयाणुसारी य।
तह बीयबुद्धितेयग, आहारग सीयलेसा य ॥
वेउव्विदेहलद्धी, अक्खीणमहाणसी पुलाया य।
परिणामतववसेणं, एमाई हुंति लद्धीओ ॥
प्रवचनसारोद्धार, 270/1492-1495

54. सर्वत: सर्वैरपि शरीरदेशै: श्रृणोति स संभिन्नश्रोता:।
आवश्यकचूर्णि, अ. 1

55. जैन धर्म में तप स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 74-75

56. भगवतीसूत्र, 20/9/1

57. वही, 20/9/2,6

58. तिलोयपण्णत्ती, 1/4/1034-1048, पृ. 279-280

59. चत्तारि जाइ आसीविसा बिच्छुयजाई... स्थानांगसूत्र, 4/4/514

60. सोलसराय सहस्सा, सव्व बलेणं तु संकलनिबद्धं।
अंछंति वासुदेवं, अगडतडम्मिठियं संतं ॥
घेत्तुण संकलं सो, वामहत्थेण अंछमाणाणं।
भुंजिज्ज बलिं पिज्ज व, महुमहणं ते न चाएंति ॥
जं केसवस्स उ बलं तं, दुगुणं होइ चक्कवट्टिस्स।
तत्तो बला बलवग्गा, अपरिमियबला जिणवरिंदा ॥
आवश्यकनिर्युक्ति, भा. 1/71, 72, 75

61. करोड़ चक्रवर्तियों का बल एक देव में, करोड़ देवों का बल एक इन्द्र में, अनन्त इन्द्रों का बल तीर्थङ्कर की कनिष्ठ अंगुली में होता है।

62. (क) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका, वक्षस्कार 2
(ख) प्रवचनसारोद्धार टीका, द्वार 270
(ग) दूध को मधुर एवं स्वादिष्ट बनाने की ऐसी ही एक कथा बौद्ध ग्रन्थों में भी प्रसिद्ध है। सुजाता नाम की उपासिका थी। वह एक हजार गायों का दूध पाँच सौ गायों को पिलाती, पाँच सौ गायों का ढाई सौ को, इसी क्रम से सोलह गायों का दूध आठ गायों को, आठ का चार को, चार का दो गायों को दूध पिलाकर उसके दूध की खीर बनाती है। उस खीर की भिक्षा वह बुद्ध को देती है।

63. (क) प्रवचनसारोद्धार, 270/1502
    (ख) आगम और त्रिपिटक, पृ. 170
64. वही, 1503
65. वही, 1503
66. वही, 1504
67. प्रवचनसारोद्धार, 213/1218-1231 की टीका
68. ऋग्वेद, 10/190/1
69. तथैव वेदा- मनुस्मृति, 11/243
70. तपसा चीयते ब्रह्म- मुण्डकोपनिषद, 1/1/8
71. अथर्ववेद, 11/3/5/19, पृ. 267
72. वही, 19/5/41
73. तपसा वै लोकं जयंति- शतपथब्राह्मण, 3/4/4/27
74. तपो मे प्रतिष्ठा-तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3/7/7/9, पृ. 1112
75. श्रेष्ठो ह वेदस्तपसोऽधिजातः- गोपथब्राह्मण, 1/1/9
76. योऽसौ तपति स वै शंसति - वही, 2/5/14
77. ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः, शांतं तपो, दानं तपः।
    तैत्तिरीय आरण्यक, 10/8
78. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा। मुण्डकोपनिषद्, 3/1/5
79. महाभारत आदिपर्व, 90/22, पृ. 275
80. तैत्तिरीय उपनिषद्, 3/2/3/4/5
81. यद् दुस्तरं यद् दुरापं, यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्।
    सर्वं तत् तपसा साध्यं, तपोहि दुरतिक्रमम्॥
    मनुस्मृति, 11/238
82. वही, 11/239
83. सुत्तनिपात, 16/10
84. वही, 4/2
85. अंगुत्तरनिकाय, दिट्ठवज्जसुत्त
86. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन,
    भा. 1, पृ. 116
87. बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, पृ. 71-72
88. जीवनसाहित्य, भा. 2, पृ. 197-198

●

अध्याय-4

जैन धर्म की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में प्रचलित तप-विधियाँ

जैन परम्परा में बाह्य तप एवं आभ्यंतर तप दोनों का ही महत्त्वपूर्ण स्थान देखा जाता है। बाह्य तप का स्वरूप अत्यंत विस्तृत है। इस अध्याय में आगम परम्परा से अब तक प्रचलित-अप्रचलित समस्त तपों का वर्णन किया है। इसके माध्यम से बाह्य तप की महत्ता उजागर होगी एवं बाह्य तप में रुचिवंत सुज्ञ जनों को अप्रतिम मार्ग की प्राप्ति होगी। आगमोक्त तपों के माध्यम से साक्षात जिनवाणी की आराधना का लाभ प्राप्त हो सकता है। अत: यहाँ पर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में वर्णित तप-विधियों का वर्णन किया जाएगा।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में वर्णित तपश्चर्या सूची

श्वेताम्बर आगमों एवं पूर्ववर्ती ग्रन्थों में अनेकविध तपों का उल्लेख प्राप्त होता है। उनकी सामान्य जानकारी प्राप्त करने एवं कौन सा तप कितना प्राचीन है? इस मूल्य को दर्शाने हेतु कालक्रम पूर्वक एक सूची प्रस्तुत की जा रही है।

अन्तकृत्दशासूत्र में उल्लिखित तप

1. भिक्षुप्रतिमा तप 2. गुणरत्नसंवत्सर तप 3. रत्नावली तप 4. कनकावली तप 5. महासिंहनिष्क्रीडित तप 6. लघुसिंहनिष्क्रीडित तप 7. लघुसर्वतोभद्र तप 8. महासर्वतोभद्र तप 9. भद्रोत्तरप्रतिमा तप 10. मुक्तावली तप 11. आयंबिल वर्धमान तप। **(पहला एवं आठवाँ वर्ग)**

उत्तराध्ययनसूत्र में निर्दिष्ट तप

इन आगम में निम्न छह तपों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है– 1. श्रेणी तप 2. प्रतर तप 3. घन तप 4. वर्ग तप 5. वर्गवर्ग तप 6. प्रकीर्ण तप।

(30/10-11)

आचार्य हरिभद्ररचित (8वीं शती) पंचाशक प्रकरण में उपदिष्ट तप

इस प्रकरण में लगभग 23 तप विधियों का वर्णन है। जिनके नाम ये हैं – 1. तीर्थङ्कर दीक्षा तप 2. तीर्थङ्कर केवलज्ञान तप 3. तीर्थङ्कर निर्वाण तप 4. चान्द्रायण तप 5. रोहिणी तप 6. अम्बा तप 7. श्रुतदेवता तप 8. सर्वाङ्गसुन्दर तप 9. निरुजशिखा तप 10. परमभूषण तप 11. आयतिजनक तप 12. सौभाग्यकल्पवृक्ष तप 13. दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप 14. योगशुद्धि तप 15. इन्द्रियविजय तप 16. कषायमथन तप 17. अष्टकर्मसूदन तप 18. तीर्थङ्करमातृका तप 19. समवसरण तप 20. नन्दीश्वर तप 21. पुण्डरीक तप 22. अक्षयनिधि तप 23. सर्वसौख्यसम्पत्ति तप।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने गाथा 38 में 'आदि' शब्द का उल्लेख कर अन्य तपों की ओर भी सूचित किया है। साथ ही इन तपों की प्रामाणिक विधियाँ एवं कौनसा तप कब करना चाहिए? इस सम्बन्ध में अनुभवी लोगों से ज्ञात करने का निर्देश दिया है। **(19वाँ प्रकरण)**

आचार्य नेमिचन्द्र (10वीं शती) रचित प्रवचनसारोद्धार में निरूपित तप

प्रस्तुत ग्रन्थ में 38 तप विधियों का विवेचन है। उनके नाम इस प्रकार हैं– 1. इन्द्रियजय तप 2. योगशुद्धि तप 3. रत्नत्रय तप 4. कषायविजय तप 5. कर्मसूदन तप 6. लघुसिंहनिष्क्रीडित तप 7. महासिंहनिष्क्रीडित तप 8. मुक्तावली तप 9. रत्नावली तप10 कनकावली तप 11. भद्र तप 12. महाभद्र तप 13. भद्रोत्तर तप 14. सर्वतोभद्र तप 15. सर्वसुखसम्पत्ति तप 16. रोहिणी तप 17. श्रुतदेवता तप 18. सर्वाङ्गसुन्दर तप 19. निरुजशिखा तप 20. परमभूषण तप 21. आयतिजनक तप 22. सौभाग्यकल्पवृक्ष तप 23. तीर्थङ्करमाता तप 24. समवसरण तप 25. अमावस्या तप 26. पुण्डरीक तप 27. अक्षयनिधि तप 28. चन्द्र प्रतिमा तप 29. सप्तसप्तमिका तप 30. अष्टअष्टमिका तप 31. नवनवमिका तप 32. दशदशमिका तप 33. आयंबिल वर्धमान तप 34. गुणरत्नसंवत्सर तप 35. तीर्थङ्कर निष्क्रमण तप 36. तीर्थङ्कर केवलज्ञान तप 37. तीर्थङ्कर निर्वाण तप 38. बीसस्थानक तप।

(10वाँ, 43 से 45वाँ, 271 वाँ द्वार)

तिलकाचार्यकृत (13वीं शती) 'सामाचारी' में वर्णित तप

इस सामाचारी ग्रन्थ में 30 तप-विधियों का उल्लेख है। उनके नाम निम्न

हैं – 1. कल्याणक तप 2. ज्ञानपञ्चमी तप 3. इन्द्रियजय तप 4. कषायविजय तप5. योगशुद्धि तप 6. उपधान तप 7. सर्वाङ्गसुन्दर तप 8. निरुजशिखा तप 9. आयतिजनक तप 10. परमभूषण तप 11. सौभाग्यकल्पवृक्ष तप 12. चान्द्रायण तप 13. ऊनोदरी तप 14. कर्मसूदन तप 15. तीर्थङ्कर दीक्षा तप 16. तीर्थंकर केवलज्ञान तप 17. तीर्थङ्कर निर्वाण तप 18. दवदन्ती तप 19. वर्धमान तप 20. भद्र तप 21. महाभद्र तप 22. भद्रोत्तर तप 23. महाभद्रोत्तर तप 24. गुणरत्नसंवत्सर तप 25. कनकावली तप 26. रत्नावली तप 27. मुक्तावली तप 28. सिंहनिष्क्रीडित तप 29. आयंबिल वर्धमान तप 30. ग्यारह प्रतिमा तप 31. योगोद्वहन तप।

(तप कुलक नाम का 12वाँ तथा 22-32 अधिकार)

श्रीमत् चन्द्राचार्य (12वीं शती) संकलित 'सुबोधा सामाचारी' में प्रतिपादित तप

प्रस्तुत सामाचारी प्रकरण में लगभग 39 तपों का स्वरूप बतलाया गया है। इन तपों की नाम सूची इस प्रकार है–

1. इन्द्रियजय तप 2. कषायमंथन तप 3. योगशुद्धि तप 4. अष्टकर्मसूदन तप 5. तीर्थङ्करमाता तप 6. समवसरण तप 7. नन्दीश्वर तप 8. पुण्डरीक तप 9. अक्षयनिधि तप 10. सर्वसौख्यसम्पत्ति तप 11. रोहिणी तप 12. अम्बा तप 13. श्रुतदेवता तप 14. सर्वाङ्गसुन्दर तप 15. निरुजशिखा तप 16. परमभूषण तप 17. आयतिजनक तप 18. सौभाग्यकल्पवृक्ष तप 19. ज्ञान-दर्शन-चारित्र तप 20. वज्रमध्य चान्द्रायण तप 21. यवमध्य चान्द्रायण तप 22. तीर्थङ्कर दीक्षा तप 23. तीर्थङ्कर केवलज्ञान तप 24. तीर्थङ्कर निर्वाण तप 25. ज्ञानपञ्चमी तप 26. मुकुटसप्तमी तप 27. माणिक्य प्रस्तारिका तप 28. भद्र तप 29. महाभद्र तप 30. भद्रोत्तर प्रतिमा तप 31. सर्वतोभद्र प्रतिमा तप 32. आयम्बिल वर्धमान तप 33. दवदन्ती तप 34. सप्तसप्तमिका तप 35. अष्टअष्टमिका तप 36. नवनवमिका तप 37. दशदशमिका तप38. उपधान तप 39. योगोद्वहन तप।

(पृ. 8-12, 21-34)

आचार्य जिनप्रभसूरि (14वीं शती) रचित विधिमार्गप्रपा में प्ररूपित तप

प्रस्तुत कृति में लगभग 45 तपों का विधिवत स्वरूप प्राप्त होता है। उनकी नाम सूची निम्नोक्त है–

1. तीर्थङ्कर दीक्षा तप 2. तीर्थङ्कर केवलज्ञान तप 3. तीर्थङ्कर निर्वाण तप

4. कल्याणक तप 5. सर्वाङ्गसुन्दर तप 6. निरुजशिखा तप 7. परमभूषण तप 8. आयतिजनक तप 9. सौभाग्य कल्पवृक्ष तप 10. इन्द्रियजय तप 11. कषायमंथन तप 12. योगशुद्धि तप 13. अष्टकर्मसूदन तप 14. ज्ञान-दर्शन-चारित्र तप 15. रोहिणी तप 16. अम्बा तप 17. श्रुतदेवता तप 18. ज्ञानपंचमी तप 19. नन्दीश्वर तप 20. सत्य सुख सम्पत्ति तप 21. पुण्डरीक तप 22. तीर्थङ्कर मातृ तप 23. समवसरण तप 24. अक्षयनिधि तप 25. स्थविर वर्धमान तप 26. दवदन्ती तप 27. अष्टकर्मउत्तर-प्रकृति तप 28. चन्द्रायण तप 29. ऊनोदरी तप 30. भद्र तप 31. महाभद्र तप 32. भद्रोत्तर तप 33. सर्वतोभद्र तप 34. एकादश अंग तप 35. द्वादशांग तप 36. चतुर्दशपूर्व आराधना तप 37. अष्टापद तप 38. एक सौ सत्तर जिन आराधना तप 39. नवकार तप 40. बीस स्थानक तप 41. धर्मचक्र तप 42. सांवत्सरिक तप 43. बारहमासिक तप 44. अष्टमासिक तप 45. छहमासिक तप।

इनके अतिरिक्त माणिक्यप्रस्तारिका, मुकुटसप्तमी, अमृत अष्टमी, अविधवादशमी, गौतमपड़वा, मोक्षदण्डक, अदुःखदीक्षिता, अखण्डदशमी आदि तपों का नामोल्लेख करते हुए यह सूचन दिया है कि ये तप आगम एवं गीतार्थ द्वारा आचरित न होने के कारण इनका विवेचन नहीं किया है। ग्यारह अंग, अष्टापद आदि तप विशेष स्थविरों (गीतार्थों) द्वारा अप्रवर्तित होने पर भी आराधना के योग्य हैं, इसलिए उनका वर्णन किया है तथा एकावली, कनकावली, रत्नावली, मुक्तावली, गुणरत्नसंवत्सर,क्षुद्रमहल्ल, सिंहनिष्क्रीड़ित आदि तप विशेष वर्तमान में दुष्कर होने से इनका स्वरूप नहीं बतलाया है। इस तरह विधिमार्गप्रपा में अतिरिक्त बहुत से तपों का नाम निर्देश है। **(14वाँ द्वार)**

आचार्य वर्धमानसूरि (15वीं शती) रचित आचारदिनकर में निर्दिष्ट तप

आचारदिनकर में लगभग 100 तपों का निरूपण करते हुए उन्हें तीन भागों में इस तरह विभक्त किया है– 1. तीर्थङ्कर प्ररूपित तप 2. गीतार्थ प्ररूपित तप और 3. सामान्य रूप से आचरित तप। इन तपों की नाम सूची यह है –

• 1. उपधान तप 2. श्राद्धप्रतिमा तप 3. यतिप्रतिमा तप 4. योग तप 5. इन्द्रियजय तप 6. कषायजय तप 7. योगशुद्धि तप 8. धर्मचक्र तप, 9-10. अष्टाह्निकाद्वय तप 11. कर्मसूदन तप।

उक्त ग्यारह तप जिनेश्वर परमात्मा द्वारा कहे गये हैं। इनमें योगोद्वहन तप को छोड़कर शेष सभी तप साधु एवं श्रावकों द्वारा करने योग्य हैं। योगोद्वहन तप साधु-साध्वी के लिए ही करणीय है।

• 1. कल्याणक तप 2. ज्ञान-दर्शन-चारित्र तप 3. चान्द्रायण तप 4. वर्धमान तप 5. परमभूषण तप 6. तीर्थङ्कर दीक्षा तप 7. तीर्थङ्कर केवलज्ञान तप 8. तीर्थङ्कर निर्वाण तप 9. ऊनोदरिका तप 10. संलेखना तप 11. सर्वसंख्या महावीर तप 12. कनकावली तप 13. मुक्तावली तप 14. रत्नावली तप 15. लघुसिंह निष्क्रीडित तप 16. बृहद्सिंह निष्क्रीडित तप 17. भद्रतप 18. महाभद्र तप 19. भद्रोत्तर तप 20. सर्वतोभद्र तप 21. गुणरत्नसंवत्सर तप 22. ग्यारह अंग तप 23. संवत्सर तप 24. नन्दीश्वर तप 25. पुण्डरीक तप 26. माणिक्य प्रस्तारिका तप 27. पद्मोत्तर तप 28. समवसरण तप 29. वीरगणधर तप 30. अशोकवृक्ष तप 31. एक-सौ-सत्तर जिन तप 32. नवकार तप 33. चौदहपूर्व तप 34. चतुर्दशी तप 35. एकावली तप 36. दशविधयतिधर्म तप 37. पञ्चपरमेष्ठी तप 38. लघुपञ्चमी तप 39. बृहत्पञ्चमी तप 40. चतुर्विधसंघ तप 41. धन तप 42. महाघन तप 43. वर्ग तप 44. श्रेणी तप 45. मेरू तप 46. बत्तीस कल्याणक तप 47. च्यवन तप 48. जन्म तप 49. लोकनालि तप 50. कल्याणकाष्टाह्निका तप 51. सूर्यायन तप 52. आचाम्लवर्धमान तप 53. महावीर तप 54. माघमाला तप 55. लक्षप्रतिपत तप।

ये उपरोक्त तप गीतार्थों द्वारा आचरित कहे गये हैं तथा साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप सभी साधकों के द्वारा आचरण करने योग्य हैं।

• 1. सर्वाङ्गसुन्दर तप 2. निरुजशिखा तप 3. सौभाग्यकल्पवृक्ष तप 4. दमयन्ती तप 5. आयतिजनक तप 6. अक्षयनिधि तप 7. मुकुटसप्तमी तप 8. अम्बा तप 9. श्रुतदेवी तप 10. रोहिणी तप 11. मातृ तप 12. सर्वसुख-सम्पत्ति तप 13. अष्टापदपावड़ी तप 14. मोक्षदण्ड तप 15. अदुःखदर्शी तप 16. गौतमपडवा तप 17. निर्वाण तप 18. दीपक तप 19. अमृताष्टमी तप 20. अखण्डदशमी तप 21. परत्रपाली तप 22. सोपान तप 23. कर्मचतुर्थ तप 24. लघु नवकार तप 25. अविधवादशमी तप 26. बृहत्नंद्यावर्त्त तप 27. लघुनंद्यावर्त्त तप।

उपर्युक्त तप गृहस्थों के लिए सांसारिक फल आदि की अपेक्षा कहे गये हैं, जो किसी इच्छा की पूर्ति हेतु किये जाते हैं। **(भा. 2. पृ. 336)**

तुलना – यदि हम ऊपर वर्णित तप सूचियों का गहराई से अवलोकन करते हैं तो बोध होता है कि आगम-साहित्य में प्राय: बृहद् (कठिन) तपों का ही वर्णन है जिन्हें वर्तमान युग में क्रियान्वित कर पाना दुर्भर है। आचार्य जिनप्रभसूरि ने तो इस सम्बन्ध में स्पष्ट मन्तव्य दर्शाते हुए लिखा है कि मेरे द्वारा एकावली, कनकावली, रत्नावली आदि तपों का स्वरूप विवेचन नहीं किया गया है, क्योंकि ये तप इस समय दुःसाध्य हैं।

तदनन्तर 8वीं शती से 13वीं शती तक के ग्रन्थों में आगम का अनुसरण करते हुए अन्य अनेक तप निरूपित किये गये हैं, किन्तु वहाँ किसी तरह का विभागीकरण नहीं किया गया है। जबकि 14वीं शती (विधिमार्गप्रपा) एवं 15वीं शती (आचारदिनकर) के ग्रन्थों में तप संख्या की अधिकता के साथ-साथ उनका विभाजन भी प्राप्त होता है।

आचार्य जिनप्रभसूरि ने विधिमार्गप्रपा में उन्हीं तपों का विधि स्वरूप दिखलाया है जो गीतार्थ आचरित और आगम सम्मत हैं, क्योंकि उन्होंने गीतार्थ द्वारा अनाचरित तपों का मात्र नामोल्लेख किया है और अनाचरित होने से उनका स्वरूप दर्शाने में अपनी अरुचि प्रकट की है। आचार्य वर्धमानसूरि ने पूर्वाचार्यों की तुलना में सबसे अधिक तप-विधियों का उल्लेख किया है। उन्होंने अपना ध्यान न केवल तप संख्या की अभिवृद्धि की ओर दिया है अपितु उनका एक समुचित वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है।

जब हम विधिमार्गप्रपा और आचारदिनकर इन दोनों ग्रन्थों के वर्गीकरण की ओर ध्यान देते हैं तो किञ्चित विरोधाभास परिलक्षित होता है। जैसे कि विधिमार्गप्रपा में माणिक्यप्रस्तारिका नामक तप को गीतार्थ अनाचरित कहा गया है, किन्तु आचारदिनकर के कर्त्ता ने इसे गीतार्थ भाषित कहा है।

आचारदिनकर में श्रावक की ग्यारह प्रतिमा नामक तप को तीर्थङ्कर प्रज्ञप्त कहते हुए उसे अधुनाऽपि स्वीकार करने का उपदेश दिया गया है जबकि विधिमार्गप्रपा में प्रतिमा रूप श्रावक धर्म को व्युच्छिन्न हुआ, ऐसा माना गया है इसलिए उसकी विधि भी नहीं कही गयी है। आचारदिनकर में श्रावक प्रतिमाओं का सम्यक् वर्णन उपलब्ध है।

विधिमार्गप्रपा में तीर्थङ्कर उपदिष्ट एवं गीतार्थ स्वीकृत तपों का वर्णन

युगपद् है। इससे यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि जिनप्रभसूरि ने किन तपों को जिनेश्वर प्रणीत और किन तपों को गीतार्थ भाषित माना है जबकि आचारदिनकर में यह विभाजन सुन्दर ढंग से किया गया है।

यहाँ यह प्रश्न खड़ा हो सकता है कि आचार्य वर्धमानसूरि ने इन्द्रियजय, कषायजय, योगशुद्धि, धर्मचक्र आदि किञ्चित तपों को तीर्थङ्कर भाषित कहा है तो उनका उल्लेख आगम-साहित्य के पृष्ठों पर अवश्य होना चाहिए जबकि उन तपों के नाम से वहाँ कोई चर्चा दृष्टिगत नहीं होती, तो यह विरोधाभास कैसे?

इसका समाधान यह है कि तीर्थङ्करों ने जिन तपों का प्रयोग किया, वह सब आगम पृष्ठों पर तप संज्ञा के रूप में उल्लिखित हो यह आवश्यक नहीं, क्योंकि जैसे भगवान महावीर ने साधनाकाल के दरम्यान एकमासी तप, द्विमासी तप, ढाईमासी तप, चातुर्मासिक तप आदि अनेक तपस्याएँ की। उनका वर्णन प्रभु के जीवन चरित्र (कल्पसूत्र टीका) में अवश्य आता है, परन्तु उसके अतिरिक्त किन्हीं आगम या परवर्ती साहित्य में वह चर्चा तप-विधि के रूप में प्राप्त नहीं होती है। इसी भाँति इन्द्रियजय आदि तपों के विषय में समझना चाहिए।

दूसरा तथ्य यह है कि कालक्रम से तप संख्या में जो अभिवृद्धि हुई उसके पीछे मुख्य कारण यह माना जा सकता है कि द्रव्य, क्षेत्र और काल के अनुसार जब साधक कठिन या दीर्घ तप करने से विमुख होने लगे तो उन्हें तप-साधना में जुटाये रखने के उद्देश्य से गीतार्थों ने छोटे-छोटे तपों की स्थापना की। उनमें भी मनोबल एवं देहबल को ध्यान में रखते हुए कुछ सामान्य तो कुछ विशिष्ट तपों का निरूपण किया, ताकि हर वर्ग के साधक इस साधना से जुड़ सकें। अति साधारण प्राणियों के लिए सांसारिक फल देने वाले तपों का भी निर्देश किया गया जिन्हें प्रारम्भ में भले ही किसी तरह की कामना पूर्ति हेतु अपनाया जाए, परन्तु धीरे-धीरे साधक उनसे ऊपर उठ जाता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने पञ्चाशकप्रकरण में इस विषय का अच्छा स्पष्टीकरण किया है। हम इस विषयक खुलासा आगे करेंगे। यहाँ इतना ही ज्ञातव्य है कि देश-काल की स्थितियों एवं साधक की मनोवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए नये-नये तपों की प्रतिस्थापना के द्वारा तप संख्या में बढ़ोत्तरी होती गयी, प्रत्युत शास्त्रीय सम्बद्ध दुःसह तपों की मूल्यवत्ता को सुरक्षित रखने हेतु उनका विवेचन भी यथावत दर्शाया जाता रहा है।

तीसरा उल्लेखनीय यह है कि विधिमार्गप्रपा एक प्रामाणिक, सामाचारीबद्ध एवं सर्वमान्य ग्रन्थ है। इसमें इससे पूर्ववर्ती ग्रन्थों में वर्णित सभी तप-विधियाँ भी समाविष्ट हैं। दूसरे, आचारदिनकर में इससे भी अधिक तप-विधियों का निरूपण है अत: यहाँ प्रमुख रूप से उक्त ग्रन्थों के आधार पर ही सभी तपों की आवश्यक चर्चा करेंगे।

तप-विधियाँ

तप भारतीय साधना का प्राण तत्त्व है। जैसे शरीर में उष्मा जीवन के अस्तित्व का द्योतक है वैसे ही साधना में तप उसके मूल अस्तित्व को अभिव्यक्त करता है। तप के बिना न निग्रह होता है न अभिग्रह होता है। केवल आहार का त्याग करना ही तप नहीं है वस्तुत: विषय-वासना और कषाय-कलुषित भावों का त्याग करना ही तप है। भोजन आदि का परित्याग बाह्य तप है तथा वासना आदि प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करना आभ्यन्तर तप कहलाता है। तप अन्तर्मानस में पल्लवित हुए या हो रहे विकारों को जलाकर भस्म कर देता है और साथ ही मिथ्यात्व आदि से आच्छादित अज्ञान रूपी अन्धकार को भी नष्ट कर देता है। इसलिए तप ज्वाला भी है और ज्योति भी है। तप एक ऐसा कल्पवृक्ष है जिसकी निर्मल छत्र छाया में साधना के अमृत फल प्राप्त होते रहते हैं।

पूर्वाचार्यों ने तप की महिमा का संगान करते हुए कहा है कि –

यद्दूरं यद्दूराराध्यं, यच्च दूरे व्यवस्थितम्।
तत् सर्वं तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम्।।

(आचारदिनकर, भा.2, पृ. 334)

जो वस्तु अत्यन्त दूर है, अत्यन्त दुस्साध्य है और कष्ट द्वारा आराधी जा सकती है वे सब वस्तुएँ तपश्चर्या द्वारा ही साध्य होती हैं, क्योंकि तपश्चर्या का प्रभाव दुरतिक्रम है अर्थात उसका उल्लंघन कोई कर नहीं सकता।

इसी क्रम में आचार्य वर्धमानसूरि यह भी कहते हैं कि जो व्यक्ति शिवकुमार की तरह गृहस्थ आश्रम में रहकर भी तपस्या का आचरण करता है वह देव सभा में भी कान्ति, द्युति, महत्ता और स्फूर्ति को प्राप्त करने वाला (देव) होता है। जैसे– अग्नि के प्रचण्ड तप में तपने से जिसका वर्ण उज्ज्वलता को प्राप्त होता है ऐसा सुवर्ण सर्व धातुओं में विशिष्टता एवं श्रेष्ठता को प्राप्त करता है, उसी प्रकार तप करने वाला मनुष्य सर्व मानवों में शिरोमणि एवं विशिष्टता प्राप्त करता है।

तप से समग्र कर्मों का भेदन तथा विविध प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त होती

हैं। शास्त्रों में नंदीषेण नामक ब्राह्मण का कथानक आता है कि वह स्वयं के घर में और नगर में भी महादुर्भागी माना जाता था, किन्तु चारित्र ग्रहण करने के पश्चात क्षमा युक्त तप करने से देव एवं मनुष्यों के द्वारा वन्दन करने के योग्य हुआ अर्थात उनके द्वारा पूजा गया।

एक जगह कहा गया है कि

अथिरं पि थिरं वंकंपि, उज्जुअं दुल्लहं पि तह सुलहं।
दुसज्झं पि सुसज्झं, तवेण संपज्जए वज्जं।।

जो वस्तु अस्थिर है वह तप के प्रभाव से स्थिर होती है, जो वस्तु वक्र है वह सरल होती है, जो वस्तु दुर्लभ है वह सुलभ होती है तथा जो दुःसाध्य है वह सुसाध्य होती है।

चक्रवर्ती की छः खण्ड जैसी कठिन साधना भी तप के द्वारा ही फलीभूत होती है। इसलिए तीर्थङ्करों ने एवं गीतार्थ-मुनियों ने जो तप की विधि कही है उस तप को विधिवत करने से मनुष्यों को मनवांछित सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जैनाचार्यों ने तपस्या पर बल देते हुए इतना तक निर्दिष्ट किया है कि यदि दान देने की शक्ति न हो तो पुण्यवन्त मनुष्यों को स्वयं की शारीरिक शक्ति के अनुसार तपःकर्म अवश्य करना चाहिए।

सामान्यतया तपश्चर्या के मुख्य दो प्रकार हैं – 1. बाह्य तप और 2. आभ्यन्तर तप। ये द्विविध तप छह-छह प्रकार के कहे गये हैं, ऐसे तप के बारह प्रकार होते हैं। षड्विध बाह्य तप के अवान्तर अनेक भेद हैं।

तीर्थङ्करों एवं मुनिवरों ने तप के प्रत्येक भेद-प्रभेदों की क्रम पूर्वक विधि बतलायी है। उनमें से कुछ तप केवलज्ञानियों द्वारा कहे गये हैं, कुछ तप गीतार्थ मुनिवरों द्वारा बताये गये हैं तथा कुछ तप ऐहिक फल के इच्छुकों द्वारा आचरित हैं। इस प्रकार सर्व तपों को तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

यहाँ तप विधियों का स्वरूप बतलाने के पूर्व मुख्य रूप से कहने योग्य यह है कि आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में सभी तपों को तीन भागों में बांटा गया है। उन वर्गीकृत किञ्चिद् तपों के सम्बन्ध में प्रश्नचिह्न उपस्थित होते हैं जैसे कि आचार्य वर्धमानसूरि ने वर्ग तप, श्रेणी तप, घन तप, महाघन तप आदि को गीतार्थ भाषित कहा है जबकि उनका मूल उल्लेख उत्तराध्ययनसूत्र में प्राप्त होता है। यह आगमसूत्र भगवान महावीर की साक्षात अन्तिम वाणी का संकलन रूप है और इसे अन्तिम उपदेश के रूप में मानते हैं तब उक्त वर्ग आदि तप तीर्थङ्कर प्रणीत होने चाहिए। आचार्य वर्धमानसूरि ने कनकावली, मुक्तावली, रत्नावली

आदि आगम वर्णित तपों को भी गीतार्थ भाषित कहा है जबकि उन तपों की आराधना प्राय: श्रेणिक राजा की महारानियों ने की है। यह वर्णन अन्तकृत दशा नामक आठवें अंग सूत्र में है और अंग सूत्रों में तीर्थङ्करों की मूल वाणी को संकलित एवं गुम्फित मानते हैं। दूसरी बात, राजा श्रेणिक चौबीसवें तीर्थङ्कर परमात्मा महावीर के शासनकाल में हुए हैं अत: उनकी रानियों द्वारा आचरित तप तीर्थङ्कर प्रज्ञप्त होने चाहिए।

इस प्रकार भले ही तप संख्या की अधिकता एवं प्रचलित सामाचारी में सर्वमान्य होने से विधिमार्गप्रपा और आचारदिनकर को मूलभूत आधार बनाया है फिर भी आगम कथित तपों का स्वरूप यथायोग्य वर्गीकरण के साथ किया जायेगा।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन तपों में योगोपधान मुख्य है और उसकी विधि केवली द्वारा भाषित है, अतएव इस तप की चर्चा खण्ड-3 गृहस्थ के व्रतारोपण अधिकार में कर चुके हैं। गृहस्थों के लिए योगोद्वहन-तप का विधान नहीं है, किन्तु मुनियों को इसे अवश्य करना चाहिए।

ऐहिक फल की पूर्ति करने वाली तपस्याएँ साधु-साध्वियों तथा प्रतिमाधारी एवं सम्यक्त्वधारी श्रावकों को नहीं करनी चाहिए। शेष सभी तप गुणवान साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाओं के द्वारा अवश्यमेव करणीय हैं।

जैन शास्त्रों में बाह्य तप का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। काल सापेक्ष अनेक तप भिन्न-भिन्न समय में प्रचलन में आए। कुछ का उद्देश्य लौकिक रहा तो कुछ का लोकोत्तर। तप कर्म निर्जरा का प्रमुख साधन होने से इसे आचरित करने के अनेकश: मार्ग बताए गए ताकि किसी न किसी मार्ग से व्यक्ति लक्ष्य तक पहुँच सके। आद्योपान्त जैनाचार्यों द्वारा शताधिक तपों का गुंफन किया गया है। श्वेताम्बर परम्परा में बाह्य तप का प्रचलन एवं रूझान सर्वाधिक देखा जाता है। आराधक वर्ग की इसी रुचि को ध्यान में रखकर तप विधियों को पृथक भाग के रूप में प्रस्तुत किया है। इससे तप आराधकों को तप चयन में सुविधा होगी। बड़े आकार की पुस्तक को हर समय साथ रखना दुविधापूर्ण है। तप आराधक प्राय: ऐसी पुस्तकों को साथ रखते हैं अत: Easy Carrying के लिए उसका छोटा रूप जरूरी है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर श्वेताम्बर परम्परा में उल्लेखित तपों का विस्तृत आराधना योग्य स्वरूप खण्ड-22 में प्रस्तुत किया है। तप रुचि सम्पन्न आराधक वर्ग **सज्जन तप निर्देशिका** का आलम्बन ले सकते हैं।

दिगम्बर परम्परा में प्रचलित तप

दिगम्बर आम्नाय में तप शब्द 'व्रत' संज्ञा से व्यवहृत है। यहाँ तप को व्रत कहा गया है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा की भाँति इस परम्परा में भी अनेकविध तपों का विवेचन प्राप्त होता है। हमें जिन तपों का स्वरूप प्राप्त हुआ है, उनका विधिवत वर्णन करते हुए शेष का नामोल्लेख मात्र करेंगे।

हरिवंश पुराण में वर्णित तप सूची– इसमें लगभग 37 व्रतों का वर्णन है। जिनके नाम ये हैं–

1. सर्वतोभद्र (श्लो. 52, सर्ग 34)
2. बसन्तभद्र (56)
3. महासर्वतोभद्र (57)
4. त्रिलोकसार (59)
5. वज्रमध्य (62)
6. मृदंगमध्य (64)
7. मुरजमध्य (66)
8. एकावली (67)
9. द्विकावली (68)
10. मुक्तावली (69)
11. रत्नावली (69)
12. रत्न मुक्तावली (72)
13. कनकावली (74)
14. द्वितीय रत्नावली (76)
15. सिंहनिष्क्रीडित (78-80)
16. नन्दीश्वर व्रत (84)
17. मेरूपंक्ति व्रत (86)
18. शातकुम्भ व्रत (87)
19. चान्द्रायण व्रत (90)
20. सप्तसप्तमतपो व्रत (91)
21. अष्ट अष्टम या नव-नवमादि व्रत (92)
22. आचाम्ल वर्द्धमान तप (95)
23. श्रुतव्रत (97)
24. दर्शनशुद्धि व्रत (98)
25. तप:शुद्धि व्रत (99)
26. चारित्रशुद्धि (100)
27. एक कल्याण व्रत (110)
28. पंचकल्याण व्रत (111)
29. शीलकल्याण व्रत (112)
30. भावनाविधि व्रत (112)
31. पंचविंशति कल्याण भावना विधि व्रत (114)
32. दु:खहरण व्रत (118)
33. कर्मक्षय विधि व्रत (121)
34. जिनेन्द्रगुण संपत्ति विधि व्रत (122)
35. दिव्यलक्षण पंक्ति विधि व्रत (123)
36. धर्मचक्र विधि व्रत परस्पर कल्याण विधि व्रत (124)

चारित्रसार (151/1) पृ. 137 तप प्रकरण पर उपरोक्त में से केवल 10 व्रतों का निर्देश है।

वसुनन्दि श्रावकाचार (श्लोक 355, 363, 366, 368, 373, 376) **में उल्लेखित तप सूची–**

1. पंचमी व्रत
2. रोहिणी व्रत
3. अश्विनी व्रत
4. सौख्य सम्पत्ति व्रत
5. नन्दीश्वर पंक्ति व्रत
6. विमान पंक्ति व्रत

व्रतविधान संग्रह (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा. 3, पृ. 626) **में निर्दिष्ट तप सूची–**

इस संग्रह में उपरोक्त व्रतों के अतिरिक्त निम्न व्रतों का भी उल्लेख मिलता है

1. अक्षयनिधि व्रत
2. अनस्तमी व्रत
3. अष्टमी व्रत
4. गन्ध अष्टमी व्रत
5. नि:शल्य अष्टमी व्रत
6. मनचिन्ती अष्टमी व्रत
7. अष्टाह्निका व्रत
8. आचारवर्धन व्रत
9. एसोनव व्रत
10. एसोदश व्रत
11. कंजिक व्रत
12. कर्मचूर व्रत
13. कर्मनिर्जरा व्रत
14. श्रुतकल्याणक व्रत
15. क्षमावणी व्रत
16. ज्ञानपच्चीसी व्रत
17. चतुर्दशी व्रत
18. अनन्त चतुर्दशी व्रत
19. कली चतुर्दशी व्रत
20. चौंतीस अतिशय व्रत
21. तीन चौबीशी व्रत
22. आदिनाथ जयन्ती व्रत
23. आदिनाथ निर्वाण जयन्ती व्रत
24. आदिनाथ शासन जयन्ती व्रत
25. वीर जयन्ती व्रत
26. वीर शासन जयन्ती व्रत
27. जिन पूजा पुरन्दर व्रत
28. जिन मुखावलोकन व्रत
29. जिन रात्रि व्रत
30. ज्येष्ठ व्रत
31. णमोकार चौंतीसी व्रत
32. तपो शुद्धि व्रत
33. त्रिलोक तीज व्रत
34. रोट तीज
35. तीर्थंकर व्रत
36. तेला व्रत
37. त्रिगुणसार व्रत
38. त्रेपन क्रिया व्रत

39. दशमिनियानी व्रत
40. दशलक्षण व्रत
41. अक्षयफलदशमी व्रत
42. उडंडदशमी व्रत
43. चमकदशमी व्रत
44. छहार दशमी व्रत
45. झावदशमी व्रत
46. तमोर दशमी व्रत
47. पान दशमी व्रत
48. फल दशमी व्रत
49. फूल दशमी व्रत
50. बारा दशमी व्रत
51. भण्डार दशमी व्रत
52. सुगन्ध दशमी व्रत
53. सौभाग्य दशमी व्रत
54. दीपमालिका व्रत
55. द्वादशी व्रत
56. कांजी बारस व्रत
57. श्रावण दशमी व्रत
58. धनकलश व्रत
59. नवनिधि व्रत
60. नक्षत्र माला व्रत
61. नवकार व्रत
62. पंच पोरिया व्रत
63. आकाश पंचमी व्रत
64. ऋषि पंचमी व्रत
65. कृष्ण पंचमी व्रत
66. कोकिल पंचमी व्रत
67. गरूड़ पंचमी व्रत
68. निर्जर पंचमी व्रत
69. श्रुतपंचमी व्रत
70. श्वेत पंचमी व्रत
71. लक्षण पंक्ति व्रत
72. परमेष्ठी गुण व्रत
73. पल्लव विधान व्रत
74. पुष्पांजली व्रत
75. बारह तप व्रत
76. बारह बिजोरा व्रत
77. बेला व्रत
78. तीर्थंकर बेला व्रत
79. शिवकुमार बेला व्रत
80. भावना व्रत
81. पंचविंशति भावना व्रत
82. भावना पच्चीसी व्रत
83. मुष्टि विधान व्रत
84. मेघमाला व्रत
85. मौन व्रत
86. रत्नत्रय व्रत
87. रविवार व्रत
88. दुग्धरसी व्रत
89. नित्यरसी व्रत
90. षट्रसी व्रत
91. रुक्मणी व्रत
92. रुद्रवसंत व्रत
93. लब्धि विधान व्रत
94. शील व्रत
95. श्रुतस्कन्ध व्रत
96. षष्ठी व्रत

97. चन्दन षष्ठी व्रत
98. षोडश कारण व्रत
99. संकट हरण व्रत
100. कौमार सप्तमी व्रत
101. नन्द सप्तमी व्रत
102. निर्दोष सप्तमी व्रत
103. मुकुट सप्तमी व्रत
104. मोक्ष सप्तमी व्रत
105. शील सप्तमी व्रत
106. समकित चौबीशी व्रत
107. समवसरण व्रत
108. सर्वार्थसिद्धि व्रत
109. सुखकारण व्रत
110. सुदर्शन व्रत
111. सौवीर भुक्ति व्रत

तुलना– उपरोक्त तपों में से बहुत से व्रतों के नाम श्वेताम्बर परम्परा मान्य तपों से मिलते-जुलते हैं। उक्त तपों में एकावली, कनकावली, आयंबिल, वर्धमान आदि आगमिक तपों का भी निर्देश है। साथ ही इनमें तीर्थंकर प्रणीत, गीतार्थ कथित एवं भौतिक उपलब्धियों की अपेक्षा किये जाने वाले– इस तरह तीनों प्रकार के व्रतों का भी समावेश होता है। इनकी वर्तमान परम्परा में रवि व्रत, सुगंध दशमी, पंचमेरू, कर्म निर्जर, अनन्तव्रत, रत्नत्रय व्रत, त्रिलोक तीज, आकाश पंचमी, श्रुत पंचमी, मुकुट सप्तमी आदि तप विशेष रूप से प्रचलित हैं।

उपर्युक्त सर्वतोभद्र आदि व्रत विधियों का सामान्य स्वरूप निम्न है–

1. सर्वतोभद्र व्रत – पाँच खण्ड का एक चौकोर कोष्ठक बनायें और एक से लेकर पाँच तक के अंक उसमें इस तरह भरें कि सब ओर से गिनने पर पन्द्रह-पन्द्रह उपवासों की संख्या निकले। इन पन्द्रह उपवासों में पाँच का गुणा करने से उपवासों की संख्या पचहत्तर और पाँच पारणाों का पाँच से गुणा करने पर पारणाों की संख्या पच्चीस होती है। इसमें एक उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, चार उपवास पारणा और पाँच उपवास पारणा। इस प्रकार यह सर्वतोभद्र व्रत सौ दिन में पूर्ण होता है। इस तप के करने से समस्त कल्याण रूप निर्वाण पद की प्राप्ति होती है।

2. बसन्तभद्र व्रत – एक सीधी रेखा में पाँच से लेकर नौ तक अंक लिखें। उन सबका जोड़ पैंतीस होता है। इस प्रकार बसन्तभद्र व्रत में 35 उपवास होते हैं। उनका क्रम यह है कि पाँच उपवास पारणा, छह उपवास पारणा, सात उपवास पारणा, आठ उपवास पारणा और नौ उपवास पारणा। इस व्रत में 35

उपवास और 5 पारणा इस तरह चालीस दिन लगते हैं।

3. महासर्वतोभद्र व्रत – सात खण्डों वाला एक चौकोर कोष्ठक बनायें। उसमें एक से लेकर सात तक के अंक इस रीति से लिखें कि सब ओर से संख्या का जोड़ अट्ठाईस-अट्ठाईस आये। एक-एक खण्ड में अट्ठाईस-अट्ठाईस उपवास और सात-सात पारणे होते हैं। सातों भङ्गों को मिलाकर एक सौ छयानवे उपवास और उनचास पारणे होते हैं। इसकी विधि पूर्ववत जाननी चाहिए। इसमें कुल दो सौ पैंतालीस दिन लगते हैं। यह तप करने से सर्व प्रकार का कल्याण होता है।

4. त्रिलोकसार व्रत – इसमें नीचे से पाँच से लेकर एक तक, फिर दो से लेकर चार तक और उसके बाद तीन से लेकर एक तक इस तरह बिन्दु रखें कि तीन लोक का आकार बन जायें। इसमें तीस उपवास और ग्यारह पारणे होते हैं। उनका क्रम यह है पाँच उपवास पारणा, चार उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, एक उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, चार उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, दो उपवास पारणा और एक उपवास पारणा। इस विधि में इकतालीस दिन लगते हैं। इस तप के प्रभाव से कोष्ठबीज आदि ऋद्धियाँ तथा तीन लोक का सार मोक्ष सुख प्राप्त होता है।

5. वज्रमध्य व्रत – इस तप यन्त्र के आदि और अन्त में पाँच-पाँच तथा बीच में घटते-घटते एक बिन्दु रह जाती है। इसमें जितनी बिन्दुएँ हैं उतने उपवास और जितने स्थान हैं उतने पारणे जानने चाहिए। इनका क्रम इस प्रकार है – पाँच उपवास पारणा, चार उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, एक उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, चार उपवास पारणा और पाँच उपवास पारणा। इस व्रत में उनतीस उपवास और नौ पारणे होते हैं। इस प्रकार यह तप अड़तीस दिन में समाप्त होता है। इस व्रत के फल से इन्द्र, चक्रवर्ती और गणधर का पद, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, प्रज्ञा श्रमण की ऋद्धि और मोक्ष प्राप्त होता है।

6. मृदङ्गमध्य व्रत – इस तप यन्त्र में दो से लेकर पाँच तक और चार से लेकर दो तक बिन्दुएँ रखते हैं। इसमें जितनी बिन्दुएँ हैं उतने उपवास और जितने स्थान हैं उतने पारणे जानने चाहिए। इनका क्रम यह है – दो उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, चार उपवास पारणा, पाँच उपवास पारणा, चार

उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा और दो उपवास पारणा। इस प्रकार इस व्रत में तेईस उपवास और सात पारणे होते हैं तथा यह व्रत तीस दिन में समाप्त होता है। इस तप के करने से क्षीर स्रावित्व, अक्षीण महानस आदि ऋद्धियाँ, अवधिज्ञान और अन्त में मोक्ष प्राप्त होता है।

7. मुरजमध्य व्रत – इस तप यन्त्र में पाँच से लेकर दो तक, दो से लेकर पाँच तक बिन्दुएँ होती हैं। इसमें जितनी बिन्दुएँ हों उतने उपवास और जितने स्थान हों उतने पारणे समझने चाहिए। इनका क्रम यह है– पाँच उपवास पारणा, चार उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, चार उपवास पारणा और पाँच उपवास पारणा। इस प्रकार इसमें अट्ठाईस उपवास और आठ पारणे कुल छत्तीस दिन में यह व्रत समाप्त होता है। इसका फल मृदङ्गमध्यविधि के समान है।

8. एकावली व्रत – इसमें एक उपवास तथा एक पारणे के क्रम से चौबीस उपवास और चौबीस पारणे होते हैं। यह व्रत अड़तालीस दिन में समाप्त होता है तथा इससे अखण्ड सुख की प्राप्ति होती है।

9. द्विकावली व्रत – इसमें अड़तालीस बेला और अड़तालीस पारणे होने से इसे द्विकावली तप कहते हैं। यह व्रत छयानवे दिन में पूर्ण होता है। इसके फल से उभय लोक में सुख प्राप्ति होती है।

10. मुक्तावली व्रत – इस तप यन्त्र में एक से लेकर पाँच तक और चार से लेकर एक तक बिन्दु होते हैं। यह मोतियों की माला के समान प्रसिद्ध है। इसमें जितनी बिन्दु हैं उतने उपवास और जितने स्थान हैं उतने पारणे होते हैं। इस प्रकार इस व्रत में पच्चीस उपवास और नौ पारणे चौंतीस दिन में पूर्ण होते हैं। उनका क्रम यह है – एक उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, चार उपवास पारणा, पाँच उपवास पारणा, चार उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, दो उपवास पारणा और एक उपवास पारणा। इस व्रत के करते ही मनुष्य समस्त लोगों का अलंकार स्वरूप श्रेष्ठ हो जाता है और अन्त में सिद्धालय प्राप्ति स्वरूप आत्यन्तिक फल की प्राप्ति होती है।

11. रत्नावली व्रत – जिस तप यन्त्र में एक से लेकर पाँच तक और पाँच से लेकर एक तक बिन्दुएँ हों वह रत्नावली व्रत है। इसके फल से रत्नावली के समान अनेक गुणों की प्राप्ति होती है। इसमें जितनी बिन्दुएँ हों उतने उपवास

और जितने स्थान हों उतने पारणे जानने चाहिए। उनका क्रम यह है – एक उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, चार उपवास पारणा, पाँच उपवास पारणा, पाँच उपवास पारणा, चार उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, दो उपवास पारणा और एक उपवास पारणा। इस प्रकार इसमें तीस उपवास और दस पारणे होते हैं। यह व्रत चालीस दिन में पूर्ण होता है।

12. रत्नमुक्तावली व्रत – इस व्रत का यन्त्र बनाते समय एक ऐसा प्रस्तार बनायें जिसमें एक-एक का अन्तर देते हुए एक से लेकर पन्द्रह तक के अंक लिख सकें। उसके आगे एक-एक का अन्तर देकर सोलह लिखें और उसके आगे एक-एक का अन्तर देते हुए एक-एक कम कर अन्त में एक आ जाये वहाँ तक लिखें। इसमें प्रारम्भ में प्रथम अंक से दूसरा अंक लिखते समय बीच में और अन्त में दो से प्रथम अंक लिखते समय बीच में पुनरुक्त होने के कारण एक का अन्तर नहीं दें। इस व्रत में सब अंकों का जोड़ करने पर दो सौ चौरासी उपवास और उनसठ पारणों में तीन सौ दिन लगते हैं। इसका फल रत्नत्रय की प्राप्ति है। इस तप में एक उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, एक उपवास पारणा आदि होता है।

13. कनकावली व्रत – इस व्रत यन्त्र में एक का अंक, दो का अंक, नौ बार तीन का अंक, फिर एक से लेकर सोलह तक के अंक, फिर चौंतीस बार तीन के अंक, सोलह से लेकर एक तक के अंक, नौ बार तीन के अंक तथा दो और एक का अंक लिखा जाता है। इस क्रम से चार सौ चौंतीस उपवास और चार सौ अट्ठासी पारणे करना कनकावली व्रत है। इस व्रत में कुल एक वर्ष, पाँच मास और बारह दिन लगते हैं। इस व्रत के फल से लौकान्तिक देव पद की प्राप्ति अथवा मोक्ष प्राप्त होता है। इस तप में एक उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा आदि होता है।

14. द्वितीय रत्नावली व्रत – इस व्रत यन्त्र में रत्नों के हार के समान एक प्रस्तार बनाकर बायीं ओर पहले बेला सूचक दो बिन्दुओं का एक द्विक लिखें, फिर दो बेलाओं के सूचक दो द्विक लिखें, फिर तीन बेलाओं के सूचक तीन द्विक लिखें, फिर चार बेलाओं के सूचक चार द्विक लिखें। इसके आगे एक उपवास का सूचक एक बिन्दु लिखें। उसके बाद दो उपवासों की सूचक दो बिन्दुएँ बराबर लिखें। तदनन्तर इसके आगे इसी प्रकार तीन आदि उपवासों के

सूचक सोलह तक बिन्दुएँ रखें। फिर बायीं ओर से दाहिनी ओर गोलाकार बढ़ाते हुए बत्तीस बेलाओं के बत्तीस द्विक लिखें और उनके नीचे चार बेलाओं के सूचक चार द्विक लिखें। तीस द्विक के ऊपर सोलह आदि उपवासों के सूचक सोलह से लेकर एक तक बराबरी में सोलह पन्द्रह आदि बिन्दुएँ करें और उसके आगे आठ बेलाओं के सूचक आठ द्विक, तीन बेलाओं के सूचक तीन द्विक, दो बेलाओं की सूचक दो द्विक तथा एक बेला का सूचक एक द्विक लिखें। इस व्रत में छप्पन द्विक के द्विगुणित एक सौ बारह तथा दोनों ओर की षोडशियों के दो सौ बहत्तर इस प्रकार सब मिलाकर तीन सौ चौरासी उपवास और अट्ठासी स्थानों के अट्ठासी पारणे होते हैं। यह व्रत एक वर्ष तीन माह और बाईस दिन में पूरा होता है। इस व्रत के फलस्वरूप रत्नत्रय में निर्मलता आती है। इसकी विधि इस प्रकार है–

एक बेला एक पारणा, एक बेला एक पारणा इस क्रम से दश बेला दश पारणा, फिर एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा। इस क्रम से सोलह उपवास तक बढ़ाना चाहिए। फिर एक बेला एक पारणा इस क्रम से तीस बेला तीस पारणा, फिर षोडशी के सोलह उपवास एक पारणा, पन्द्रह उपवास एक पारणा, इस क्रम से एक उपवास एक पारणा तक आना चाहिए। फिर एक बेला एक उपवास के क्रम से बारह बेला और बारह पारणे के पश्चात नीचे के चार बेले और चार पारणे करने चाहिए।

15. सिंहनिष्क्रीडित व्रत – सिंहनिष्क्रीडित व्रत जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है। उनमें जघन्य सिंहनिष्क्रीडित व्रत का क्रम इस प्रकार है– एक ऐसा प्रस्तार बनायें जिसमें एक से लेकर पाँच तक के अंक दो बार आ जायें तथा वे पहले के अंकों में दो-दो अंकों की सहायता से एक-एक बढ़ता और घटता जाये इस रीति से लिखे पुनः पाँच से लेकर एक तक के अंक भी दो-दो बार पूर्वोक्त क्रम से लिखें। समस्त अंकों का जोड़ करने पर जितनी संख्या हो उतने उपवास और जितने स्थान हों उतने पारणे जानने चाहिए।

इसमें पहले एक उपवास एक पारणा और दो उपवास एक पारणा करना चाहिए। फिर दो में से एक उपवास का अंक घट जाने से एक उपवास एक

पारणा, दो में एक उपवास का अंक बढ़ जाने से तीन उपवास एक पारणा, तीन में एक उपवास का अंक घट जाने से दो उपवास एक पारणा, तीन में एक उपवास का अंक बढ़ जाने से चार उपवास एक पारणा, चार में से एक उपवास का अंक घट जाने से तीन उपवास एक पारणा, चार में एक उपवास का अंक बढ़ जाने से पाँच उपवास एक पारणा, पाँच में से एक उपवास का अंक कम कर देने पर चार उपवास एक पारणा चार में एक उपवास का अंक बढ़ा देने पर पाँच उपवास एक पारणा होता हैं। यहाँ पर अन्त में पाँच का अंक आ जाने से पूर्वार्द्ध समाप्त हो जाता है। आगे उल्टी संख्या से पहले पाँच उपवास एक पारणा करना चाहिए। पश्चात पाँच में से एक उपवास का अंक कम कर देने पर चार उपवास एक पारणा, चार में एक उपवास का अंक बढ़ा देने पर पाँच उपवास एक पारणा, चार में से एक उपवास का अंक घटा देने पर तीन उपवास एक पारणा, तीन में एक उपवास का अंक बढ़ा देने पर चार उपवास एक पारणा, तीन में से एक उपवास का अंक घटा देने पर दो उपवास एक पारणा दो में एक उपवास का अंक बढ़ा देने से तीन उपवास एक पारणा, दो में से एक उपवास का अंक घटा देने पर एक उपवास एक पारणा, फिर दो उपवास एक पारणा और एक उपवास एक पारणा करना चाहिए। इस जघन्य सिंहनिष्क्रीडित व्रत में समस्त अंकों का जोड़ साठ होता है इसलिए साठ उपवास होते हैं और स्थान बीस हैं इसलिए पारणे बीस होते हैं। यह व्रत अस्सी दिन में पूर्ण होता है।

मध्यम सिंहनिष्क्रीडित व्रत – मध्यम सिंहनिष्क्रीडित व्रत में एक से लेकर आठ अंक तक का प्रस्तार बनाना चाहिए और उसके शिखर पर नौ अंक लिखना चाहिए। उसके बाद उल्टे क्रम से एक तक के अंक लिखना चाहिए। यहाँ भी जघन्य निष्क्रीडित के समान दो-दो अंकों की अपेक्षा एक-एक उपवास का अंक घटाना चाहिए। इस रीति से लिखे हुए समस्त अंकों का जितना जोड़ हो उतने उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणे समझने चाहिए। इस तरह इस व्रत में एक सौ त्रेपन उपवास और तैंतीस पारणे होते हैं। यह व्रत एक सौ छयासी दिन में पूर्ण होता है।

उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडित व्रत – उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडित व्रत में एक से लेकर पन्द्रह तक के अंकों का प्रस्तार बनाना चाहिए और उसके शिखर में सोलह का अंक लिखना चाहिए। उसके बाद उल्टे क्रम से एक तक के अंक

लिखना चाहिए। यहाँ पर भी जघन्य और मध्यम सिंहनिष्क्रीडित के समान दो-दो अंकों की अपेक्षा एक-एक उपवास का अंक घटाना-बढ़ाना चाहिए। इस रीति से लिखे हुए समस्त अंकों का जितना जोड़ हो उतने उपवास और जितने स्थान हों उतने पारणे जानने चाहिए। इस तरह इस व्रत में चार सौ छियानवे उपवास और इकसठ पारणे होते हैं। यह व्रत पाँच सौ सत्तावन दिन में पूर्ण होता है।

संक्षेप में जघन्य सिंहनिष्क्रीडित व्रत में एक से लेकर पाँच तक के अंक दो-दो की संख्या में लिखें और उसके बाद उलटे क्रम से पाँच से एक तक के अंक दो-दो की संख्या में लिखें। दोनों ओर के सब अंकों का जोड़ कर देने पर साठ उपवास और बीस पारणे होते हैं।

मध्यम सिंहनिष्क्रीडित व्रत में एक से लेकर आठ तक के अंक दो-दो की संख्या में लिखें और उनके ऊपर शिखर स्थान पर नौ का अंक लिखे फिर उल्टे क्रम से एक तक के अंक दो-दो की संख्या में लिखें। सब अंकों का जोड़ करने पर एक सौ त्रेपन उपवास और तैंतीस पारणे आते हैं।

उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडित व्रत में एक से लेकर पन्द्रह तक के अंक दो-दो की संख्या में लिखें और उसके ऊपर शिखर स्थान पर सोलह का अंक लिखें। फिर उल्टे क्रम से एक तक के अंक दो-दो की संख्या में लिखे सब अंकों का जोड़ करने पर चार सौ छियानवे उपवास और इकसठ पारणे होते हैं।

सिंहनिष्क्रीडित व्रत में कल्पना यह है कि जिस प्रकार सिंह किसी पर्वत पर क्रम-क्रम से चढ़ता हुआ उसके शिखर पर पहुँचता है और बाद में क्रम-क्रम से नीचे उतरता है उसी प्रकार मुनिराज क्रम-क्रम से उपवास करते हुए तप रूपी पर्वत के शिखर पर चढ़ते हैं और उसके बाद क्रम-क्रम से नीचे उतरते हैं। इस व्रत के फलस्वरूप मनुष्य वज्रऋषभनाराच संहनन का धारक, अनन्त वीर्य से सम्पन्न, सिंह के समान निर्भय और अणिमा आदि गुणों से युक्त होता हुआ शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है।

16. नन्दीश्वर व्रत – नन्दीश्वर द्वीप की एक-एक दिशा में चार-चार दधिमुख हैं इसलिए प्रत्येक दधिमुख को लक्ष्यकर मन की मलिनता दूर करते हुए चार उपवास करना चाहिए। एक-एक दिशा में आठ-आठ रतिकर हैं इसलिए प्रत्येक रतिकर को लक्ष्य कर आठ उपवास करना चाहिए। एक-एक दिशा में एक-एक अंजनगिरि है इसलिए उसे लक्ष्य कर एक बेला करना चाहिए।

इस प्रकार एक दिशा के बारह उपवास, एक बेला और तेरह पारणे होते हैं।यह पूर्व दिशा से प्रारम्भ कर दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा के क्रम से चारों दिशाओं में करना चाहिए। इसमें अड़तालीस उपवास, चार बेला और बावन पारणे हैं। इस तरह यह व्रत एक सौ आठ दिन में पूर्ण होता है। यह नन्दीश्वर व्रत चक्रवर्ती पद को प्राप्त करवाता है।

17. मेरुपंक्ति व्रत – जम्बूद्वीप का एक, धातकीखण्ड पूर्व दिशा का एक, धातकीखण्ड पश्चिम दिशा का एक, पुष्करार्ध पूर्व दिशा का एक और पुष्करार्ध पश्चिम दिशा का एक इस प्रकार कुल पाँच मेरुपर्वत हैं। प्रत्येक मेरुपर्वत पर भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक ये चार वन हैं और एक-एक वन में चार-चार चैत्यालय हैं। मेरुपंक्ति व्रत में वनों को लक्ष्य कर बेला और चैत्यालयों को लक्ष्य कर उपवास करते हैं। इस प्रकार इस व्रत में पाँचों मेरु सम्बन्धी अस्सी चैत्यालयों के अस्सी उपवास और बीस वन सम्बन्धी बीस बेला करते हैं तथा सौ स्थानों के सौ पारणे होते हैं। इसमें दो सौ बीस दिन लगते हैं। यह व्रत जम्बूद्वीप के मेरु से शुरू होता है। इसमें प्रथम भद्रशाल वन के चार चैत्यालयों के चार उपवास, चार पारणे और तत्सम्बन्धी एक बेला, एक पारणा होता है। फिर नन्दन वन के चार चैत्यालयों के चार उपवास, चार पारणे और वन सम्बन्धी एक बेला एक पारणा होता है। फिर सौमनस वन के चार चैत्यालयों के चार उपवास चार पारणे और वन सम्बन्धी एक बेला एक पारणा होता है। तदनन्तर पाण्डुक वन के चार चैत्यालयों के चार उपवास चार पारणे और वन सम्बन्धी एक बेला एक पारणा होता है। इसी क्रम से धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व और पश्चिम मेरु तथा पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व और पश्चिम मेरु सम्बन्धी उपवास बेला और पारणे जानने चाहिए। इस व्रत का पालन करने वाला पुरुष तीर्थङ्कर होता है।

विमानपंक्ति व्रत – इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक के भेद से विमान तीन प्रकार के हैं। इन्द्रक विमान बीच में है और श्रेणीबद्ध विमान चारों दिशाओं में श्रेणी रूप में स्थित हैं। ऋतु विमान को आदि लेकर इन्द्रक विमानों की संख्या तिरसठ है। विमानपंक्ति व्रत में इन्द्रक की चारों दिशाओं में श्रेणीबद्ध विमानों की अपेक्षा चार उपवास, चार पारणे और इन्द्रक की अपेक्षा एक बेला एक पारणा होता है। इस तरह तिरसठ इन्द्रक विमानों की चार-चार श्रेणियों की अपेक्षा चार-

चार उपवास होने से ये दो सौ बावन उपवास तथा तिरसठ इन्द्रक सम्बन्धी तिरसठ बेला होते हैं। तिरसठ बेला के बाद एक तेला होता है इस प्रकार 252 उपवास 63 बेला और 1 तेला सब मिलाकर तीन सौ सोलह स्थान होते हैं, अत: इतने ही पारणे होते हैं। यह व्रत पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा के क्रम से होता है। चारों दिशाओं के चार उपवास के बाद बेला होता है। इसमें कुल छह सौ सत्तानवे दिन लगते हैं। इस व्रत को करने वाला मनुष्य विमानों का स्वामी होता है।

18. शातकुम्भ व्रत – शातकुम्भ व्रत जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है। उनमें जघन्य शातकुम्भ व्रत इस प्रकार है– एक ऐसा प्रस्तार बनायें जिसमें एक से लेकर पाँच तक के अक्षर पाँच, चार, तीन, दो, एक के क्रम से लिखें। तदनन्तर प्रथम अंक अर्थात पाँच को छोड़कर अवशिष्ट अंकों को चार, तीन, दो, एक के क्रम से तीन बार लिखें। सब अंकों का जितना जोड़ हो उतने उपवास और जितने स्थान हों उतने पारणे जानें। इस व्रत में पैंतालीस उपवास और सत्तर पारणे होते हैं, ऐसे यह तप बासठ दिन में पूर्ण होता है।

मध्यम शातकुम्भ व्रत विधि – एक ऐसा प्रस्तार बनायें जिसमें एक से लेकर नौ पर्यन्त तक के अंक नौ, आठ, सात, छह, पाँच, चार, तीन, दो, एक के क्रम से लिखें। तदनन्तर प्रथम अंक अर्थात नौ को छोड़कर आठ-सात आदि के क्रम से अवशिष्ट अंकों को तीन बार लिखें। सब अंकों का जितना जोड़ हो उतने उपवास और जितने स्थान हों, उतने पारणे जानें। इस व्रत में एक सौ तिरपन उपवास और तैंतीस पारणे होते हैं। यह व्रत एक सौ छयासी दिन में पूर्ण होता है।

उत्कृष्ट शातकुम्भ व्रत विधि – एक ऐसा प्रस्तार बनायें जिसमें एक से लेकर सोलह तक के अंक सोलह, पन्द्रह, चौदह आदि के क्रम से एक तक लिखें। फिर प्रथम अंक को छोड़कर अवशिष्ट अंकों का जितना जोड़ हो उतने उपवास और जितने स्थान हों उतने पारणे जानें। इस व्रत में चार सौ छयानबे उपवास और इकसठ पारणे आते हैं। यह विधि पाँच सौ सत्तावन दिन में पूर्ण होती है।

19. चान्द्रायण व्रत – चान्द्रायण व्रत चन्द्रमा की गति के अनुसार होता है। इस व्रत को करने वाला अमावस्या के दिन उपवास करता है, फिर प्रतिपदा

को एक कवल एक ग्रास मात्र आहार लेता है। तदनन्तर द्वितीयादि तिथियों में एक-एक ग्रास बढ़ाता हुआ चतुर्दशी को चौदह कवल का आहार करता है। पूर्णिमा के दिन उपवास करता है फिर चन्द्रमा की कलाओं के अनुसार एक-एक कवल घटाता हुआ चौदह, तेरह, बारह आदि कवलों का आहार लेता है और अन्त में अमावस्या को पुनः उपवास करता है। यह व्रत इकतीस दिन में पूर्ण होता है। इस व्रत के करने से यश प्राप्ति होती है।

20. सप्तसप्तमतपो व्रत – इसमें पहले दिन उपवास और उसके बाद एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए आठवें दिन सात मास का आहार लिया जाता है, फिर एक-एक ग्रास घटाते हुए अन्तिम दिन उपवास किया जाता है। इसी प्रकार सात बार किया जाता है।

21. अष्टअष्टम,नवनवमादि व्रत – सप्तसप्तम विधि के अनुसार अष्ट अष्टम, नव नवम, दश दशम, एकादश एकादश और द्वादश द्वादश आदि से लेकर द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशद् तक की विधि भी इसी प्रकार जानना चाहिए। जिस संख्या की विधि प्रारम्भ की जाये उसमें प्रथम दिन उपवास कर एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए उतने ग्रास तक आहार लेना चाहिए। फिर एक-एक ग्रास घटाते हुए एक ग्रास तक आये और अन्तिम दिन का उपवास रखें। मनुष्य का स्वाभाविक भोजन बत्तीस ग्रास बतलाया है, अतः यह व्रत भी बत्तीस ग्रास तक ही सीमित रखा गया है। सप्त-सप्तम विधि का एक दूसरा क्रम यह भी है कि पहले दिन उपवास न कर क्रम से एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह और सात कवल का आहार लें तथा जब एक दौर पूर्ण हो जाये तो यही क्रम फिर से करें। इस तरह सात बार इस क्रम के कर चुकने पर यह व्रत पूर्ण होता है। अष्ट-अष्टम आदि विधियों में भी यही क्रम जानना चाहिए। इनमें क्रमशः एक उपवास से प्रारम्भ कर एक-एक ग्रास बढ़ाते जाना चाहिए।

22. आचाम्ल वर्धमान व्रत – आचाम्ल वर्धमान विधि में पहले दिन उपवास करना चाहिए, दूसरे दिन एक बेर बराबर भोजन करें, तीसरे दिन दो बेर बराबर, चौथे दिन तीन बेर बराबर इस तरह एक-एक बेर बराबर बढ़ाते हुए ग्यारहवें दिन दस बेर बराबर भोजन करना चाहिए। फिर दश की संख्या आदि से लेकर एक-एक बेर बराबर घटाते हुए दसवें दिन एक बेर बराबर भोजन करना चाहिए और अन्त में एक उपवास करना चाहिए। इस व्रत के पूर्वार्ध के

दस दिनों में निर्विकृति-नीरस भोजन लेना चाहिए और उत्तरार्द्ध के दस दिनों में एकलठाणा के साथ अर्थात भोजन के लिए बैठने पर पहली बार जो भोजन परोसा जाय उसे ग्रहण करना चाहिए। दोनों ही अर्थों में भोजन का परिमाण ऊपर लिखे अनुसार ही समझना चाहिए।

23. श्रुत व्रत – श्रुत व्रत में मतिज्ञान के अट्ठाईस, ग्यारह अंकों के ग्यारह, परिकर्म के दो, सूत्र के अठासी, प्रथमानुयोग और केवलज्ञान के एक-एक, चौदह पूर्वों के चौदह, अवधिज्ञान के छह, चूलिका के पाँच और मनःपर्यव ज्ञान के दो इस प्रकार एक सौ अट्ठावन उपवास होते हैं। एक-एक उपवास के बाद एक-एक पारणा होता है। इसलिए यह व्रत तीन सौ सोलह दिनों में पूर्ण होता है।

24. दर्शनशुद्धि व्रत – इस तप में औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीन सम्यग्दर्शनों के निःशङ्कित आदि आठ-आठ अंकों की अपेक्षा चौबीस उपवास एकान्तर से होते हैं। इस तरह यह व्रत अड़तालीस दिन में समाप्त होता है।

25. तपःशुद्धि व्रत – बाह्य और आभ्यन्तर की अपेक्षा तप के दो भेद हैं। उनमें बाह्य तप के अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह भेद हैं और आभ्यन्तर तप के प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और कायोत्सर्ग ये छह भेद हैं। इनमें अनशनादि बाह्य तपों के क्रम से दो, एक, एक, पाँच, एक और एक इस प्रकार ग्यारह उपवास होते हैं और प्रायश्चित्त आदि छह अन्तरङ्ग तपों के क्रम से उन्नीस, तीस, दश, पाँच, दो और एक इस प्रकार सड़सठ उपवास होते हैं। दोनों के मिलाकर अठहत्तर उपवास एकान्तर पारणा से होते हैं।

26. चारित्रशुद्धि व्रत – पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति, पाँच समिति के भेद से चारित्र के तेरह भेद हैं। चारित्रशुद्धि व्रत में इन सबकी शुद्धि के लिए पृथक्-पृथक् उपवास होते हैं। प्रथम अहिंसा महाव्रत के सम्बन्ध में 1 बादर एकेन्द्रियपर्याप्तक, 2 बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तक, 3 सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक, 4 सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक, 5 द्वीन्द्रिय पर्याप्तक, 6 द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक, 7 त्रीन्द्रिय पर्याप्तक, 8 त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक, 9 चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक, 10 चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक, 11 संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक, 12 संज्ञी पंचेन्द्रिय

अपर्याप्तक, 13 असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक और 14 असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक– इन चौदह प्रकार के जीवस्थानों की हिंसा का त्याग मन-वचन काय योग तथा कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ कोटियों से करना चाहिए। इस अभिप्राय को लेकर प्रथम अहिंसा व्रत के एक सौ छब्बीस उपवास एकान्तर पारणा से होते हैं।

दूसरे सत्य महाव्रत के सम्बन्ध में 1 भय, 2 ईर्ष्या, 3 स्वपक्ष पुष्टि, 4 पैशुन्य, 5 क्रोध, 6 लोभ, 7 आत्म प्रशंसा और 8 परनिन्दा– इन आठ निमित्तों से बोले जाने वाले असत्य का पूर्वोक्त नौ कोटियों से त्याग करना चाहिए। इस अभिप्राय से द्वितीय सत्य महाव्रत के बहत्तर उपवास एकान्तर पारणे से किये जाते हैं।

तीसरे अचौर्य महाव्रत के सम्बन्ध में 1 ग्राम, 2 अरण्य, 3 खलिहान, 4 एकान्त, 5 अन्यत्र, 6 उपधि, 7 अभुक्तक और 8 पृष्ठ ग्रहण – इन आठ भेदों से होने वाली चोरी का पूर्वोक्त नौ कोटियों से त्याग करना चाहिए। इस अभिप्राय से तृतीय अचौर्य महाव्रत में बहत्तर उपवास एकान्तर पारणे से होते हैं।

चौथे ब्रह्मचर्य महाव्रत के सम्बन्ध में मनुष्य, देव, अचित्त और तिर्यञ्च इन चार प्रकार के स्त्रियों का– स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों और तदनन्तर पूर्वोक्त नौ कोटियों से त्याग करना चाहिए। इस अभिप्राय से 5×4 = 20 × 9 = 180 एक सौ अस्सी उपवास एकान्तर पारणे से होते हैं।

पांचवें परिग्रह महाव्रत के सम्बन्ध में चार कषाय, नौ नोकषाय और एक मिथ्यात्व– इन चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग और दोपाये, (दासी-दास आदि) चौपाये, (हाथी घोड़ा आदि) खेत, अनाज, वस्त्र, बर्तन, सुवर्णादि धन, यान (सवारी), शयन और आसन – इन दस प्रकार के बाह्य ऐसे दोनों मिलाकर चौबीस प्रकार के परिग्रह का नौ कोटियों से त्याग करना चाहिए। इस अभिप्राय से परिग्रह त्याग महाव्रत में दो सौ सोलह उपवास होते हैं।

छठवाँ रात्रिभोजन त्याग महाव्रत यद्यपि तेरह प्रकार के चारित्रों में परिगणित नहीं है तथापि गृहस्थ के सम्बन्ध से मुनियों पर भी असर आ सकता है अर्थात गृहस्थ द्वारा रात्रि में बनाई हुई वस्तु को मुनि जान-बूझकर ग्रहण करे तो उन्हें रात्रिभोजन का दोष लग सकता है। इस प्रकार के रात्रिभोजन का नौ कोटियों से त्याग करना चाहिए। रात्रिभोजन त्याग व्रत में दस उपवास एकान्तर से होते हैं।

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति– इन तीन गुप्तियों तथा ईर्या, आदान, निक्षेपण और प्रतिष्ठापन समिति– इन तीन समितियों में प्रत्येक के नौ कोटियों की अपेक्षा नौ-नौ उपवास ऐसे कुल तीन गुप्तियों के सत्ताईस उपवास एकान्तर पारणे से होते हैं। इसी तरह तीन समितियों के भी सत्ताईस उपवास एकान्तर जानना चाहिए।

भाषा समिति में 1. भाव सत्य, 2. उपमा सत्य, 3. व्यवहार सत्य, 4. प्रतीत सत्य, 5. सम्भावना सत्य, 6. जनपद सत्य, 7. संवृत्ति सत्य, 8. नाम सत्य, 9. स्थापना सत्य और 10. रूप सत्य– इन दस प्रकार के सत्य वचनों का नौ कोटियों से पालन करना होता है। इस अभिप्राय से भाषा-समिति में नब्बे उपवास एकान्तर पारणे से होते हैं।

एषणा समिति में नौ कोटियों से लगने वाले छियालीस दोषों को नष्ट करने के लिए चार सौ चौदह उपवास एकान्तर से होते हैं। इस प्रकार तेरह प्रकार के चारित्र को शुद्ध रखने के लिए चारित्र शुद्धि व्रत में सब मिलाकर एक हजार दो सौ चौंतीस उपवास छह वर्ष, दश माह, आठ दिन में पूरे होते हैं।

27. एक कल्याण तप – पहले दिन नीरस आहार लेना, दूसरे दिन– दिन के पिछले भाग में अर्ध आहार लेना, तीसरे दिन एकस्थान – भोजन के लिए बैठने पर एक बार जो भोजन सामने आये उसे ही ग्रहण करना, चौथे दिन उपवास करना और पाँचवें दिन आचाम्ल-इमली के साथ केवल भात ग्रहण करना, एक कल्याणक व्रत है।

28. पंच कल्याण तप – जो विधि एक कल्याण व्रत में कही गयी है उसे समता, वन्दना आदि आवश्यक कार्य करते हुए पाँच बार करना पंचकल्याणक तप है। यह पंच कल्याणक व्रत चौबीस तीर्थङ्करों को लक्ष्य करके किया जाता है।

29. शील कल्याणक तप – चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत में जो एक सौ अस्सी उपवास बतलाये हैं उनमें उपवास कर लेने पर शील कल्याणक व्रत पूर्ण होता है। इस व्रत में 360 दिन लगते हैं।

30. भावना व्रत – अहिंसादि महाव्रतों में प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं। एकत्रित करने पर पाँच व्रतों की पच्चीस भावनाएँ होती हैं। उन्हें लक्ष्य कर पच्चीस उपवास एकान्तर पारणे से करना भावना नाम का व्रत है। यह पचास दिन में पूर्ण होता है।

31. पंचविंशति कल्याण भावना व्रत – पच्चीस कल्याण भावनाएँ हैं, उन्हें लक्ष्य कर इस व्रत में पच्चीस उपवास एकान्तर से किये जाते हैं। 1. सम्यक्त्व भावना, 2. विनय भावना, 3.ज्ञान भावना, 4. शील भावना, 5. सत्य भावना, 6. श्रुत भावना, 7. समिति भावना, 8. एकान्त भावना, 9. गुप्ति भावना, 10. ध्यान भावना, 11. शुक्ल ध्यान भावना, 12. संक्लेश निरोध भावना, 13. इच्छा निरोध भावना, 14. संवर भावना, 15. प्रशस्तयोग, 16. संवेग भावना, 17. करुणा भावना, 18. उद्वेग भावना, 19. भोगनिर्वेद भावना, 20. संसारनिर्वेद भावना, 21. भुक्ति वैराग्य भावना, 22. मोक्षभावना, 23. मैत्री भावना, 24. उपेक्षा भावना और 25. प्रमोदभावना, ये पच्चीस कल्याण भावनाएँ हैं।

32. दुःखहरण व्रत – दुःखहरण व्रत में सर्वप्रथम सात भूमियों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु की अपेक्षा चौदह उपवास करना चाहिए। तदनन्तर तिर्यञ्चगति के पर्याप्तक और अपर्याप्तक जीवों की द्विविध आयु की अपेक्षा चार उपवास करना चाहिए। उसके बाद मनुष्यगति के पर्याप्तक और अपर्याप्तक जीवों की द्विविध आयु की अपेक्षा चार उपवास करना चाहिए। फिर देवगति में ऐशान स्वर्ग तक के दो, उसके आगे अच्युत स्वर्ग तक के बाईस, फिर नौ ग्रैवेयकों के अठारह, नौ अनुदिशों के दो और पंचानुत्तर विमानों के दो इस प्रकार सब मिलाकर अड़सठ उपवास करना चाहिए। इस व्रत में दो उपवास के बाद एक पारणा होता है। इस तरह अड़सठ उपवास और चौंतीस पारणे दोनों को मिलाकर यह विधि एक सौ दो दिन में पूर्ण होती है। इस विधि के करने से सब दुःख दूर हो जाते हैं।

33. कर्मक्षय व्रत – कर्मक्षय तप में नाम कर्म की तिरानबे प्रकृतियों से लेकर समस्त कर्मों की जो एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियाँ हैं उन्हें लक्ष्य कर एक सौ अड़तालीस उपवास एकान्तर से करना चाहिए। इस प्रकार दो सौ छियानबे दिन में यह व्रत पूर्ण होता है। इस व्रत के प्रभाव से कर्मों का क्षय होता है।

34. जिनेन्द्रगुणसम्पत्ति व्रत – इस तप में पाँच कल्याणकों के पाँच, चौतीस अतिशयों के चौतीस, आठ प्रातिहार्यों के आठ और सोलह कारण भावनाओं के सोलह इस प्रकार त्रेसठ उपवास एकान्तर पारणे से किये जाते हैं।

यह व्रत एक सौ छब्बीस दिन में पूर्ण होता है। इस व्रत के प्रभाव से जिनेन्द्र भगवान के गुणों की प्राप्ति होती है।

35. दिव्यलक्षण पंक्ति व्रत – बत्तीस व्यञ्जन, चौंसठ कला और एक सौ आठ लक्षण इस प्रकार दो सौ चार लक्षणों की अपेक्षा इसमें से दो सौ चार उपवास एकान्तर से किये जाते हैं। यह तप चार सौ आठ दिन में पूर्ण होता है। इस व्रत के प्रभाव से जीव अत्यन्त महान होता है तथा इसके अत्यन्त श्रेष्ठ दिव्य लक्षणों की पंक्ति प्रकट होती है।

36. धर्मचक्र व्रत – धर्मचक्र में हजार अराएँ होती हैं। उनमें प्रत्येक अरा की अपेक्षा एक उपवास लिया गया है, इसलिए इस व्रत में हजार उपवास एकान्तर पारणे से किये जाते हैं। इस व्रत के आदि और अन्त में एक-एक बेला करना आवश्यक है। यह व्रत दो हजार चार दिन में समाप्त होता है और इससे धर्मचक्र की प्राप्ति होती है।

37. परस्परकल्याणव्रत विधि – पाँच कल्याणकों के पाँच उपवास, आठ प्रातिहार्यों के आठ और चौंतीस अतिशयों के चौंतीस इस प्रकार कुल सैंतालीस उपवास को चौबीस बार गिनने पर जितनी संख्या सिद्ध हो उतने उपवास एकान्तर से समझना चाहिए। इसके प्रारम्भ में एक बेला और अन्त में एक तेला करना पड़ता है। यह व्रत दो हजार दो सौ छप्पन दिन में समाप्त होता है।

उक्त विधियों में जहाँ उपवास के लिए चतुर्थक शब्द आया है वहाँ एक उपवास, जहाँ षष्ठ शब्द आया है वहाँ दो उपवास और जहाँ अष्टम शब्द आया है वहाँ तीन उपवास समझना चाहिए। इसी प्रकार दसम आदि से लेकर छह मास पर्यन्त के उपवासों की संख्या जाननी चाहिए।

यदि जैन श्रुत साहित्य का अवलोकन करें तो आगम ग्रन्थों से अब तक अनेकविध तपों की चर्चा प्राप्त होती है। कई तप विधान आज भी प्रचलित है। चर्चित अध्याय दिगम्बर परम्परा में प्रचलित विविध तपों का वर्णन साधकों को तप मार्ग पर निरंतर एवं नियमित अग्रसर रखे एवं उन्हें एक नई दिशा प्रदान करें यही सदेच्छा हैं।

●

अध्याय-5

भारतीय परम्पराओं में प्रचलित व्रतों (तपों) का सामान्य स्वरूप

हिन्दू धर्म में तप को 'व्रत' की संज्ञा दी गई है। इस आधार पर यहाँ व्रत से तात्पर्य तप विशेष समझना चाहिए। इस परम्परा में अधिकांश व्रत पर्व के साथ जुड़े हुए हैं, इसलिए व्रत एवं पर्व दोनों शब्दों का प्रयोग किया जायेगा।

सामान्यतया व्रत और पर्व हमारी लौकिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के सशक्त साधन हैं। इनसे आनन्दोल्लास पूर्वक उदात्त जीवन जीने की प्रेरणा प्राप्त होती है। व्रताचरण से मनुष्य को आदर्श जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। व्रतों से अन्तःकरण की शुद्धि के साथ-साथ बाह्य वातावरण में भी पवित्रता आती है और संकल्पशक्ति दृढ़ होती है। भौतिक दृष्टि से स्वास्थ्य में भी लाभ होता है तथा कायिक, वाचिक, मानसिक और संसर्ग जनित सभी प्रकार के पाप, उपपाप और महापाप आदि भी व्रतों से ही दूर होते हैं।

हिन्दू परम्परा में व्रत दो प्रकार से किये जाते हैं – 1. निराहार रहकर (उपवासपूर्वक) और 2. एक बार संयमित आहार के द्वारा। इस परम्परा में मुख्य रूप से तीन प्रकार के व्रत माने गये हैं – 1. नित्य 2. नैमित्तिक और 3. काम्य।

1. जो व्रत भगवान की प्रसन्नता के लिए निरन्तर कर्त्तव्य भाव से भक्ति पूर्वक किये जाते हैं जैसे– एकादशी, प्रदोष, पूर्णिमा आदि नित्यव्रत कहे जाते हैं।

2. जो व्रत किसी निमित्त से किये जाते हैं जैसे– पाप क्षय के निमित्त चान्द्रायण, प्राजापत्य आदि नैमित्तिक व्रत कहलाते हैं।

3. किसी विशेष कामनाओं को लेकर जो व्रत किये जाते हैं जैसे– कन्याओं द्वारा वर प्राप्ति के लिए किये गये गौरीव्रत, वटसावित्री व्रत आदि काम्यव्रत कहलाते हैं।[1] इनके अतिरिक्त भी व्रतों के एक भुक्त, अयाचित, मितभुक् और नक्त व्रत आदि कई भेद हैं।

अन्य परम्पराओं की तुलना में सनातन-परम्परा की यह खासियत है कि इसमें प्रत्येक मास और प्रत्येक वार के व्रत किये जाते हैं। यहाँ महीनों की अपेक्षा से अनेक प्रकार के व्रत-विधान प्रचलित हैं जिनका सामान्य वर्णन इस प्रकार है –

चैत्र मास के व्रत

1. नवरात्र – चैत्र, आषाढ़, आश्विन और माघ के शुक्ल पक्ष की एकम से नवमी तक नौ दिन नवरात्र कहलाते हैं। इन नौ दिनों में दुर्गादेवी की विशेष आराधना की जाती है।

2. रामनवमी – यह व्रत चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि को भगवान श्रीराम की जयन्ती के शुभ अवसर पर किया जाता है। अगस्त्य संहिता के अनुसार यह व्रत सभी के लिए भुक्ति-मुक्ति दाता है।

3. अनंग त्रयोदशी – चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी अनंग त्रयोदशी कहलाती है। इस दिन व्रत करने से दाम्पत्य प्रेम में वृद्धि होती है तथा पुत्री-पुत्रादि का अखण्ड सुख प्राप्त होता है।

4. हनुमान जयन्ती – चैत्र शुक्ला पूर्णिमा को हनुमान की आराधना करते हुए किया जाता है।

5. सौभाग्यशयन व्रत – यह व्रत चैत्र मास शुक्ल पक्षीय तृतीया को करते हैं। इस दिन भगवान शंकर का दक्षपुत्री सति के संग विवाह हुआ था और वह पुत्री सौभाग्य रसपान के अंश से उत्पन्न हुई थी, अत: तीनों लोकों में सौभाग्यरूपा मानी गयी है। इस व्रत के करने से उत्तम सौभाग्य तथा भगवान शंकर की कृपा प्राप्त होती है।

6. गणगौर व्रत – चैत्र वदि एकम से तीज तक शिव-पार्वती के रूप में ईश्वर-गौरी की पूजा करते हैं। इसलिए इसका नाम गणगौर तीज व्रत है।

यह गौर पूजा सौभाग्यवती स्त्रिओं एवं कन्याओं का विशेष त्यौहार है जिसमें वे श्रेष्ठ वर प्राप्ति की प्रार्थना करती हैं। इसी तरह गणेश दमनक चतुर्थी, अशोकाष्टमी, कामदा एकादशी, शीतला सप्तमी आदि व्रत किये जाते हैं।

वैशाख मास के व्रत

स्कन्ध पुराण में इस महीने को उत्तम मास कहा गया है। इस महीने में व्रत पालक पुरुष सर्व पापों से मुक्त होकर विष्णुलोक में जाते हैं।

1. मेष संक्रान्ति – जिस दिन सूर्य मीन राशि से मेष राशि में संक्रमण

करता है वह दिन मेष संक्रान्ति कहलाता है। इस दिन सूर्य उत्तरायण की आधी यात्रा पूर्ण करता है। बंगाल में यह दिन नूतन वर्ष के रूप में मनाया जाता है। इस संक्रान्ति में तिलों द्वारा पितरों का तर्पण एवं मधुसूदन भगवान की पूजा विशेष होती है।

2. अक्षय तृतीया व्रत – यह व्रत वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया तिथि को किया जाता है। इस दिन व्रती उपवास करता है, अक्षत-चावल से वासुदेव की पूजा, अर्चना और अग्नि में होम करता है तथा उनका दान करता है। इस दिन जो कुछ भी सत्कर्म किये जाते हैं वे सभी अक्षय पुण्यफल देने वाले होते हैं।

3. नृसिंह चतुर्दशी व्रत – वैशाख शुक्ला चतुर्दशी के दिन भगवान विष्णु भक्त प्रह्लाद का अभीष्ट सिद्ध करने के लिए नृसिंह के रूप में अवतरित हुए थे तथा हिरण्यकश्यप का वध किया था। यह व्रत अभीष्ट कामना की पूर्ति हेतु किया जाता है।

इसी भाँति इस माह में शीतलाष्टमी, बरूथनी एकादशी, मोहिनी एकादशी, वैशाखी पूर्णिमा इत्यादि व्रत किये जाते हैं।

ज्येष्ठ मास के व्रत

1. वटसावित्री व्रत – यह व्रत 'महासावित्री व्रत' के नाम से भी जाना जाता है। सधवा नारियाँ ज्येष्ठ की अमावस्या को अपने पति और पुत्रों की लम्बी आयु एवं उनके उत्तम स्वास्थ्य-लाभ के लिए और विशेषकर इहलोक एवं परलोक में वैधव्य से मुक्ति के लिए इस व्रत को करती हैं।

2. दशहरा व्रत – यह व्रत ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की दसमी को किया जाता है। यह 'गंगा दशहरा' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसी तिथि को पवित्रतम गंगा हस्त नक्षत्र में स्वर्ग से अवतरित हुई थीं। अतएव इस तिथि को गंगा में स्नान करने से व्यक्ति दस पापों से मुक्त हो जाता है।[2]

3. निर्जला एकादशी व्रत – यह व्रत ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी के दिन निर्जल रहकर करते हैं। इसे करने से आयु व आरोग्य में वृद्धि तथा उत्तम लोक की प्राप्ति होती है। इसी तरह अचला एकादशी आदि व्रत किये जाते हैं।

आषाढ़ मास के व्रत

1. चातुर्मास्य व्रत – आषाढ़ शुक्ला एकादशी, द्वादशी या पूर्णिमा को अथवा जिस दिन सूर्य कर्क राशि में प्रविष्ट होता है उस दिन चातुर्मास्य व्रत का

शुभारम्भ किया जाता है, जो कार्तिक शुक्ला द्वादशी को समाप्त होता है।

इस व्रत अवधि में व्रती मांस, मधु आदि का त्याग करता है और संयम-नियम पूर्वक एक स्थान पर रहते हुए सात्विक चर्या द्वारा जीवन व्यतीत करता है।

2. गुरुपूर्णिमा व्रत – इस दिन वेद व्यास का जन्म हुआ था, इसलिए इसे व्यास पूर्णिमा भी कहते हैं। व्यासजी ने वेदों का विभाग किया, भागवत पुराण, महाभारत पुराण आदि की रचनाएँ कीं। इस व्रत की आराधना द्वारा गुरु के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की जाती है। यह ऋषियों की प्रेरणा एवं आशीर्वाद पाने का पावन दिन माना जाता है।

इसी तरह इस माह में योगिनी एकादशी, श्रीजगदीश रथयात्रा, देवशयनी एकादशी, कोकिला आदि व्रत किये जाते हैं।

श्रावण मास के व्रत

1. मंगल गौरी व्रत – श्रावण मास में प्रत्येक मंगलवार के दिन यह व्रत गौरी के पूजन पूर्वक पाँच वर्ष पर्यन्त करते हैं। यह व्रत करने से पुत्र, पौत्र और सौभाग्य की वृद्धि होती है।

2. श्रावणी सोमवार व्रत – भगवान शिव को श्रावण मास एवं सोमवार प्रिय है अत: इन दिनों शिव की विशेष आराधना की जाती है।

3. काजल तीज – श्रावण शुक्ला तीज हरियाली तीज के नाम से भी जानी जाती है। इस दिन राजस्थान में नव विवाहिता स्त्रियाँ पीहर जाती हैं तथा कृषक वर्ग धान का बीजारोपण करते हैं।

4. नाग पंचमी – श्रावण की शुक्ला पंचमी नागपंचमी के नाम से विश्रुत है। इस दिन नाग की प्रतिमूर्ति बनाकर उसकी पूजा करते हैं और एक बार भोजन करने का नियम रखते हैं। इनके सिवाय रक्षाबन्धन, पुत्रदा एकादशी, कामिका एकादशी आदि व्रत भी करते हैं।

भाद्र मास के व्रत

1. बहुला चतुर्थी – यह व्रत भाद्र कृष्णा चतुर्थी के दिन पुत्रों की रक्षा के लिए किया जाता है जैसे– गाय माता की भाँति दूध पिलाकर मनुष्य की रक्षा करती है वैसे ही पुत्रवती स्त्रियों को पुत्र रक्षणार्थ यह व्रत अवश्य करना चाहिए।

2. कृष्ण जन्माष्टमी – भाद्र कृष्णा अष्टमी के दिन भगवान कृष्ण का जन्म हुआ था। उसी के निमित्त इस दिन उपवास, जागरण आदि सत्कर्म किये जाते हैं।

3. गोगा नवमी – भाद्र कृष्णा नवमी के इस दिन बाबा जाहइवीर गोगाजी की पूजा की जाती है।

4. गोवत्स द्वादशी – भाद्र कृष्णा बारस के दिन गाय और बछड़ों के पूजन का यह त्यौहार है। यह व्रत पुत्र होने के पश्चात् बच्चे की जीवन रक्षा तथा उसे भूत-प्रेतादि प्रकोप से बचाये रखने हेतु करते हैं।

5. गणेश चतुर्थी – भाद्र शुक्ला चतुर्थी के दिन गणेश जी का जन्म हुआ था। गणेश को विघ्नहरण एवं मंगलकरण रूप माना है। इसी के साथ इनका पूजन ऋद्धि-सिद्धि, विद्या-बुद्धि के लिए किया जाता है।

इनके अतिरिक्त इस महीने में कुशोत्पाटनी अमावस्या, हरतालिका तीज, बूढ़ी तीज, गूगा पंचमी, हल षष्ठी, अजा एकादशी, दुबड़ी सातम, राधा जन्माष्टमी, वामन द्वादशी, अनन्त चतुर्दशी, महालक्ष्मी व्रत, ऋषि पंचमी आदि कई व्रत किये जाते हैं।

आश्विन मास के व्रत

1. पितृ पक्ष – आश्विन कृष्णा प्रतिपदा से अमावस्या तक पन्द्रह दिन पितृ पक्ष के नाम से प्रसिद्ध है। इन दिनों लोग अपने पितरों को जल देते हैं तथा उनकी मृत्यु तिथि पर श्राद्ध करते हैं।

2. जीवत्पुत्रिका व्रत – आश्विन कृष्णा अष्टमी को पुत्र की दीर्घायु कामना, आरोग्य लाभ एवं सर्वविध कल्याण के लिए यह व्रत किया जाता है।

3. शारदीय नवरात्र – आश्विन शुक्ला प्रतिपदा से नवमी तिथि तक नवरात्र व्रत किया जाता है। इस शारदीय नवरात्र में शक्ति की उपासना होती है। कुछ लोग एक भुक्त तो कुछ सर्वथा अन्न त्याग कर व्रत करते हैं।

इस माह में विजयादशमी, कोजागर व्रत (शरद पूर्णिमा), मातृनवमी, आशा-भगौती व्रत, अशोक व्रत, दुर्गाष्टमी, पापांकुशा एकादशी, पद्मनाभ द्वादशी, वाराह चतुर्दशी आदि व्रताराधनाएँ भी की जाती हैं।

कार्तिक मास के व्रत

1. करवा चौथ – यह व्रत कार्तिक कृष्णा चतुर्थी के दिन अखण्ड सौभाग्य की प्राप्ति हेतु विवाहित स्त्रियों द्वारा किया जाता है। इस दिन स्त्रियाँ दिन भर के व्रत के बाद यह प्रण लेती हैं कि वे मन, वचन एवं कर्म से पति के प्रति पूर्ण समर्पित रहेंगी तथा चन्द्रमा को अर्घ्य अर्पित कर व्रत पूर्ण करती हैं।

2. गोवत्स द्वादशी – कार्तिक कृष्णा द्वादशी के दिन एकभुक्त के व्रत पूर्वक गोमाता का पूजन किया जाता है।

3. अक्षय नवमी – कार्तिक शुक्ला नवमी अक्षय नवमी कहलाती है। इस दिन पूजन, तर्पण व अन्न आदि के दान से अक्षय फल की प्राप्ति होती है।

4. वैकुण्ठ चतुर्दशी – कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी के इस दिन में व्रत रखते हुए भगवान विष्णु एवं भगवान शिव की पूजा की जाती है।

इन व्रतों के अतिरिक्त इस महीने में नरक चतुर्दशी, रूप चतुर्दशी, सूर्य षष्ठी, आँवला नवमी, देवोत्थान एकादशी, भीष्म पंचक, वैकुण्ठ चतुर्दशी, रम्भा एकादशी आदि व्रत भी किये जाते हैं।

मार्गशीर्ष मास के व्रत

1. काल भैरवाष्टमी – भगवान शिव के दो रूप हैं। इस दिन उपवास करके काल भैरव के समीप जागरण करते हैं। इससे मनुष्य सर्व पापों से मुक्त हो जाता है।

2. गीता जयन्ती – मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निमित्त बनाकर गीता का उपदेश दिया था, अत: इस महीने में उत्पन्ना एकादशी, मोक्षदा एकादशी, मार्गशीर्ष पूर्णिमा आदि व्रत भी प्रचलित हैं।

पौष मास के व्रत

1. सफला एकादशी – पौष कृष्णा ग्यारस सफला एकादशी कहलाती है। इस दिन उपवास व्रत करते हैं।

2. सुरूपा द्वादशी – पौष कृष्णा बारस के दिन पुष्य नक्षत्र का योग हो तो विशेष फलदायी होता है। इस दिन व्रत करने से सुख, सन्तान, सौन्दर्य और सौभाग्य की प्राप्ति होती है।

3. पुत्रदा एकादशी – पौष शुक्ला एकादशी के दिन उपवास करने से सुलक्षण पुत्र की प्राप्ति होती है। इसी भाँति आरोग्य व्रत, मार्तण्ड सप्तमी, पौष पूर्णिमा स्नान आदि व्रत किये जाते हैं।

माघ मास के व्रत

धार्मिक दृष्टिकोण से इस मास का अत्यधिक महत्त्व है। इस महीने में दान, स्नान, उपवास और भगवान माधव की पूजा अत्यन्त फलदायी होती है। इस महीने में एक समय भोजन करने से धनवान कुल में जन्म होता है। इस मास में निम्न व्रतों का प्रचलन है–

1. मकर संक्रान्ति – इस दिन सूर्य मकर राशि में प्रवेश करता हुआ उत्तरायण होता है। इस दिन गंगा स्नान, तिल दान, तप-जप, श्राद्ध आदि का विशेष महत्त्व है।

2. मौनी अमावस्या – माघ मास की अमावस्या तिथि के दिन मौन व्रत रखते हुए मुनियों के समान आचरण करते हैं। इसका अत्यधिक महत्त्व माना गया है।

3. अचला सप्तमी व्रत – पुराणों में यह सप्तमी रथ, सूर्य, भानु, अर्क, महती व पुत्र सप्तमी के नाम से विख्यात है। इस दिन सूर्य की आराधना तथा व्रत के रूप में नमक रहित एकासना अथवा फलाहार करते हैं।

4. माघ पूर्णिमा – माघ मास में स्नान करने का अत्यन्त महत्त्व है। इस दिन पूरे दिन का व्रत रखते हुए दान-स्नान आदि क्रियाएँ करते हैं।

इस माह में शीतला षष्ठी, षट्लिता एकादशी, बसन्त पंचमी, सूर्य सप्तमी, भीष्माष्टमी, जया एकादशी आदि व्रत करने का भी निर्देश किया गया है।

फाल्गुन मास के व्रत

1. महाशिवरात्रि व्रत – यद्यपि किसी भी मास के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी शिवरात्रि कही जाती है, किन्तु फाल्गुन के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी महाशिवरात्रि कहलाती है। इस दिन व्रती उपवास करके बिल्व पत्रों से शिव की पूजा-अर्चना करता है और रात्रि भर जागरण करता है। फलत: भगवान शिव प्रसन्न होकर व्रती को नरक से बचाते हैं और आनन्द एवं मोक्ष प्रदान करते हैं। यह व्रत सभी के लिए अक्षय पुण्य फल देने वाला है। साथ ही नित्य एवं काम्य दोनों कोटियों का है।

इनके अतिरिक्त जानकी नवमी, विजया एकादशी, आमलकी एकादशी आदि कई अन्य व्रत भी किये जाते हैं। बारह महीनों के अलावा सात वारों से

सम्बन्धित व्रत की परिपाटी भी इस परम्परा में प्रचलित है।

तुलना – यदि हिन्दू धर्म में परिगणित व्रतों की तुलना जैन धर्म में मान्य व्रतों के साथ की जाए तो अवबोध होता है कि इसमें प्रचलित अधिकांश व्रत भौतिक उपलब्धियों की पूर्ति हेतु किये जाते हैं। कुछ व्रत एवं पर्व लौकिक दृष्टि से जैन परम्परा में भी मान्य हैं जैसे– धनतेरस, रक्षा बंधन आदि। कुछ व्रत जैन मत से साम्यता भी रखते हैं उदाहरणार्थ– जैन ग्रन्थों में वर्णित चान्द्रायण व्रत की भाँति इस परम्परा में भी चान्द्रायण व्रत करने वाला मयूर के अण्डे के बराबर ग्रास बनाकर शुक्लपक्ष में तिथि की वृद्धि के अनुसार एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए और कृष्णपक्ष में तिथि के अनुसार एक-एक घटाते हुए भोजन करता है एवं अमावस्या के दिन उपवास करता है।[3]

इस प्रकार हिन्दू व्रत एवं जैन व्रत में किंचित समानता और अधिक असमानता है।

बौद्ध धर्म में व्रत पर्वोत्सव

विभिन्न सम्प्रदायों से जुड़े लोग अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार वर्षभर में अनेक पर्व तथा उत्सव आयोजित करते हैं। विश्व के अधिकांश भागों में रहने वाले बौद्ध-धर्मावलम्बी लोग भी बड़े हर्षोल्लास के साथ कई उत्सव मनाते हैं, जो उनके सामाजिक परिदृश्यों तथा भगवान गौतम बुद्ध के जीवन-दर्शन पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

लुम्बिनी, बोधगया, सारनाथ और कुशीनगर – ये चार ऐसे स्थान हैं जो गौतम बुद्ध के जन्म, ज्ञान प्राप्ति, प्रथम उपदेश और महापरिनिर्वाण से सम्बन्धित होने के कारण बौद्धों के लिए पवित्र तीर्थ बन गये हैं। इसी प्रकार श्रावस्ती, संकास्य, राजगृही और वैशाली भी बौद्धों के तीर्थ स्थान के रूप में माने जाते हैं; क्योंकि महात्मा बुद्ध ने इन स्थानों पर अपने चार मुख्य चमत्कारों का प्रदर्शन किया था। इन सभी पावन तीर्थों में श्रद्धालुजन अनेक अवसरों पर एकत्र होते हैं और हार्दिक श्रद्धा के साथ उल्लासपूर्ण वातावरण में पर्व मनाते हैं।

बौद्ध धर्म के दोनों सम्प्रदायों– हीनयान और महायान में कतिपय विभिन्नताओं के साथ समान रूप से पर्व मनाने की प्रथा प्रचलित है। इनमें कुछ लोग पर्वों के अवसर पर प्रदर्शित होने वाले संगीत तथा नृत्य को आडम्बर की संज्ञा देते हुए इसका निषेध करते हैं। उनका मानना है कि बौद्ध धर्म एक विशुद्ध

अध्यात्म है, जिसमें नृत्य तथा संगीत आदि के साथ उत्सव मनाना अनुचित है जबकि कुछ लोग इसे भी धार्मिक प्रक्रिया से जोड़कर नाच-गान के साथ उत्सव मनाते हैं।

बौद्ध-धर्मावलम्बियों का सबसे प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण उत्सव वैशाख पूर्णिमा के दिन आयोजित किया जाता है, जिसे वे शाक्यमुनि के जन्म-दिवस के रूप में मनाते हैं। इसी दिन महात्मा बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ था और आज ही के दिन उनका महाप्रयाण भी हुआ था। अतएव यह दिन उनके परिनिर्वाण-दिवस के रूप में भी मनाया जाता है। इस अवसर पर लोग प्रभातफेरी करते हैं, गौतम बुद्ध की प्रतिमा के समक्ष प्रार्थना-पूजन करते हैं और बौद्ध भिक्षुओं को भोजन कराते हैं। सायंकाल मन्दिरों में दीपक और मोमबत्ती जलाते हैं। इस महोत्सव में श्रीलङ्का, थाईलैण्ड, बर्मा, मलेशिया, जापान, नेपाल, कम्बोडिया, ताईवान, चीन, तिब्बत, कोरिया तथा अन्य देशों के बौद्ध-धर्मानुयायी साथ-साथ शामिल होकर इसे मनाते हैं। विभिन्न देशों के श्रद्धालुओं द्वारा इस उत्सव के मनाये जाने का तरीका एक समान नहीं होता है, अपितु वे अपने देश के रीति-रिवाज के अनुसार मनाते हैं। यद्यपि यह उत्सव हर्षोल्लास का प्रतीक है; किन्तु लोग इस आनन्द का अनुभव अत्यन्त शान्तिपूर्ण तरीके से करते हैं। श्रद्धालुजन बुद्ध के उपदेशों तथा उनके ईश्वरीय चरित्रों को अपने मन में धारण कर विश्व शान्ति के लिए प्रार्थना करते हैं।

बौद्ध भिक्षुओं के तीन माह के 'वस्सावास' (वर्षाकालीन निवास) की अवधि के अनन्तर कार्तिक पूर्णिमा के दिन एक अन्य आध्यात्मिक पर्व मनाया जाता है। वर्षा ऋतु में बौद्ध भिक्षु मठों में निवास करते हैं और इस अवधि के बाद ही वे बाहर निकलते हैं। इस दिन लोग प्रातःकालीन प्रार्थना-पूजन के पश्चात् दोपहर से पूर्व ही भिक्षुओं को भोजन कराते हैं और उन्हें उपहार स्वरूप वस्त्र प्रदान करते हैं। इसे 'चीवरदान' (वस्त्रदान) कहा जाता है। तत्पश्चात् लोग दिन का शेष भाग ध्यान तथा पूजन में व्यतीत करते हैं और शाम को मन्दिरों तथा स्तूपों पर दीपक एवं मोमबत्तियाँ जलाते हैं।

बौद्धों के द्वारा एक अन्य महत्त्वपूर्ण उत्सव आषाढ़ पूर्णिमा के दिन मनाया जाता है। इस दिन को अपार श्रद्धा के साथ पर्व रूप में मनाने के दो मूलभूत कारण हैं। पहला तो यह कि इसी दिन महात्मा बुद्ध सत्य की खोज में महान्

त्याग की भावना से युक्त होकर राजमहल से निकल पड़े थे और दूसरा यह कि उन्होंने आज ही के दिन सारनाथ में अपने शिष्य कौण्डिन्य तथा ज्ञान प्राप्ति के पूर्व बोध गया में साथ रह चुके चार अन्य को चार आर्य सत्यों का उपदेश प्रदान किया। यह उत्सव अत्यन्त सादगी के साथ मनाया जाता है। सारनाथ स्थित 'धम्मेक स्तूप' जहाँ गौतम बुद्ध ने उपदेश दिया था, वहाँ पर पूजा की जाती है और दीपक तथा मोमबत्तियाँ जलायी जाती हैं।[4]

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म में धार्मिक व्रत एवं उत्सव को तप के समकक्ष माना गया है। यद्यपि इस परम्परा में जैन धर्म की भाँति उपवास, आयम्बिल, एकासन आदि रूप तप का प्रचलन नहीं है। यहाँ तपोनुष्ठान के रूप में प्रार्थना, दीपक मोमबत्ती प्रज्वलन, पूजन, ध्यान, वस्त्रदान आदि सुकृत कर्म किये जाते हैं।

दूसरा तथ्य यह है कि जैसे अर्हत् धर्म में तीर्थङ्करों के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण आदि पाँच को कल्याणक स्वरूप माना गया है और उन दिनों तीर्थङ्करकृत तप के अनुसार तप करने की भी परम्परा है वैसे ही बौद्ध-परम्परा में भी बुद्ध के जन्म, ज्ञान प्राप्ति, प्रथम उपदेश एवं निर्वाण दिन को पवित्र दिवस के रूप में स्वीकार किया गया है तथा उन दिनों विशेष उत्सव मनाते हैं और पूजन आदि धार्मिक कृत्य सम्पन्न करते हैं।

इस प्रकार जैन और बौद्ध धर्म की व्रत-प्रक्रिया में किञ्चित साम्य है।

मसीही (ईसाई) धर्म के पर्वोत्सव

हिन्दू और मुस्लिम भाईयों की तरह मसीही भी अपने पर्वों को बड़े ही उल्लास से मनाते हैं। ये लोग प्रत्येक रविवार को गिरजाघर में सामूहिक आराधना करते हैं जिसमें बाइबिल का पाठ, भजन एवं प्रार्थनाएँ की जाती हैं और धर्माचार्यों द्वारा बाइबिल की शिक्षा पर प्रवचन होता है। तदनन्तर आशीर्वचनों से आराधना समाप्त होती है।

पर्वों में विशेष रूप से ख्रीस्तजयन्ती (बड़ा दिन), खजूर का इतवार, शुभ शुक्रवार और ईस्टर को प्रोटेस्टेण्ट और कैथोलिक दोनों लोग बड़े हर्षोल्लास के साथ मनाते हैं। यहाँ संक्षेप में इनका परिचय दिया जा रहा है–

1. ख्रीस्तजयन्ती या बड़ा दिन – यह पर्व 25 दिसम्बर से 31 दिसम्बर तक मनाया जाता है, जो 24 दिसम्बर की मध्य रात्रि से ही आरम्भ हो जाता है।

24 दिसम्बर की रात्रि से ही नवयुवकों की टोली जिन्हें कैरल्स कहा जाता है। यीशु मसीह के जन्म से सम्बन्धित गीतों को प्रत्येक मसीही के घर जाकर गाते हैं। 25 दिसम्बर की सुबह गिरजाघरों में विशेष आराधना होती है, जिसे 'क्रिसमस सर्विस' कहा जाता है। इस आराधना में धर्माचार्य यीशु के जीवन से सम्बन्धित प्रवचन करते हैं। आराधना के पश्चात् मसीही बन्धु एक-दूसरे का अभिवादन करते हुए बड़ा दिन मुबारक (Wish you a Happy Cristmas) कहते हैं। एक-दूसरे को भेंट देते हैं और घर आने वालों का सत्कार करते हैं। क्रिसमस से एक सप्ताह पहले मसीही बन्धु अपने रिश्तेदारों एवं मिलने वाले लोगों को जो अन्यत्र रहते हैं, क्रिसमस ग्रीटिंग कार्ड भेजते हैं। यह पर्व यीशु के जन्म का स्मरण कराता है। वास्तव में यह पर्व मसीहियों का हृदय है।

2. खजूर का इतवार – यह पर्व यीशु के विजयोल्लास के साथ येरुशलम नगर में प्रवेश का पर्व है, जिसका वर्णन (मत्तीरचित सुसमाचार 21:1-11, मरकुसरचित ससमाचार 11:1-11, लूकारचित सुसमाचार 19:29-44 और यूहन्नारचित सुसमाचार 12:12-19) में पाया जाता है।

इस पर्व को मनाते समय मसीही भाई-बहन, बच्चे अपने-अपने हाथों में खजूर की डाल रखते हैं, जुलूस निकालते हैं, धर्माचार्य उनकी अगुवाई करते हैं और दाऊद की सन्तान को होशन्ना पुकारते हैं। जुलूस की समाप्ति पर पुनः आराधनालय (चर्च) में एकत्र होकर ईश्वर की भक्ति की जाती है। खजूर की डाल के विषय में यूहन्नारचित सुसमाचार में लिखा है – 'यह सुनकर कि यीशु येरुशलम को आता है, खजूर की डालियाँ लीं और उससे भेंट करने को निकले और पुकारने लगे कि होशन्ना धन्य इस्राइल का राजा, जो प्रभु के नाम से आता है।'[5]

3. दुःख भोग का सप्ताह – शुभ शुक्रवार का पर्व मनाने के एक सप्ताह पहले दुःख भोग का सप्ताह मनाया जाता है। इसे पेशेन्स वीक (Patience Week) कहा जाता है। सोमवार से लेकर गुरुवार तक सन्ध्या समय मसीही भाई-बहन आराधनालय में एकत्र होते हैं और धर्माचार्य अथवा अन्यत्र स्थान से बुलाए गये मेहमान जो मसीही शिक्षा में दक्ष होते हैं, प्रवचन करते हैं और उन दिनों का स्मरण करते हैं जब प्रभु यीशु ने मानव जाति को पाप से बचाने हेतु कितना दुःख उठाया था। गुरुवार के दिन प्रभु भोज की विधि (Lord's Supper) भी मनायी जाती है।

प्रभु भोज की विधि मनाने का आधार यीशु द्वारा अपने शिष्यों के साथ अन्तिम भोज पर कहे गये वचन हैं जो पौलुस ने 1 करिन्थियो 11:23-26 में लिखे हैं – 'प्रभु यीशु को जिस रात पकड़वाया गया तो प्रभु ने रोटी ली एवं धन्यवाद कहते हुए उसे तोड़ा और कहा – यह मेरी देह है जो तुम्हारे लिए है, मेरे स्मरण के लिए यह किया करो।'

इस भोजन को 'पवित्र सहभागिता' (Holy Communion) भी कहते हैं। इस भोज के द्वारा मसीहियों का विश्वास दृढ़ होता है, प्रेम और भक्ति बढ़ती है, प्रभु के आज्ञा-पालन करने की प्रेरणा मिलती है और अनन्त जीवन की आशा बँधती है।

4. शुभ शुक्रवार (Good Friday)– शुभ शुक्रवार मसीहियों के लिए आनन्द मनाने का पर्व नहीं है, बल्कि यह दिन प्रभु यीशु के क्रूस पर चढ़ाये जाने और पापियों के लिए प्राण देने की स्मृति में मनाया जाता है। इस दिन से पहले 40 दिनों तक बहुत से मसीही व्रत रखते हैं। शुभ शुक्रवार को विशेष आराधना का आयोजन किया जाता है, जिसमें यीशु के दुःख उठाने एवं 'क्रूस पर सात वाणी' आदि पर प्रवचन होते हैं। वे सात वाणियाँ निम्नाङ्कित हैं –

1. 'हे पिता! इन्हें क्षमाकर; क्योंकि ये जानते नहीं कि यह क्या कर रहे हैं।'[6]

2. 'मैं तुझ से सच-सच कहता हूँ कि आज ही मेरे साथ स्वर्गलोक में होगा (यह शब्द एक डाकू से कहे गये थे, जो उनके साथ क्रूस पर टँगा था)।'[7]

3. 'हे नारी! देख, तेरा पुत्र (माता मरियम से कहा) और देख तेरी माता' (यूहन्ना चेले से कहा)।[8]

4. 'हे मेरे परमेश्वर! हे मेरे परमेश्वर! तूने मुझे क्यों छोड़ दिया' (क्योंकि उस समय यीशु मानव रूप में था)।[9]

5. 'मैं प्यासा हूँ।'[10]

6. 'पूरा हुआ।'[11]

7. 'हे पिता! मैं अपनी आत्मा तेरे हाथों में सौंपता हूँ।'[12]

शुभ शुक्रवार की आराधना दिन में 12 बजे से 3 बजे तक होती है। इस पर्व को शुभ शुक्रवार इसलिए कहा जाता है कि यीशु ने पापियों के लिए क्रूस पर प्राण देकर समस्त मानव जाति के लिए उद्धार का मार्ग खोल दिया। यूहन्ना

3:16 में लिखा है– 'क्योंकि परमेश्वर ने जगत् से ऐसा प्रेम रखा कि उसने अपना इकलौता पुत्र दे दिया ताकि जो कोई उस पर विश्वास करे, वह नष्ट न हो, परन्तु अनन्त जीवन पाये।'

5. ईस्टर अथवा पुनरुत्थान-दिवस – ईस्टर मसीहियों के लिए हर्षोल्लास का पर्व है, जो शुभ शुक्रवार के बाद आने वाले रविवार को मनाया जाता है। इस दिन यीशु पुनः जीवित हुए थे। यीशु के क्रूस पर चढ़ाये जाने की घटना जितनी दुःखद थी,उसके विपरीत पुनरुत्थान-दिवस आनन्ददायक एवं इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना थी। यीशु के जीवित होने का वर्णन मत्तीरचित सुसमाचार में बहुत ही मार्मिक ढंग से किया गया है। वहाँ लिखा है–

'देखो, एक बड़ा भूडोल हुआ; क्योंकि प्रभु का एक दूत स्वर्ग से उतरा और पास आकर उसने पत्थर को (जो क्रूस पर था) लुढ़का दिया और उस पर बैठ गया। उसका रूप बिजली का-सा और उसका वस्त्र पाले की तरह उज्ज्वल था। उसके भय से पहरुए काँप उठे और मृतक के समान हो गये' (मत्ती, 28:1-4)। इस अवसर पर मरियम मगदलीनी और दूसरी मरियम कब्र पर पहुँची थीं। वे इस घटना को देखकर डर गयी। तब देवदूत ने कहा था, 'तुम मत डरो। मैं जानता हूँ कि तुम यीशु को जो क्रूस पर चढ़ाया गया था ढूँढ़ती हो, वह यहाँ नहीं है, परन्तु अपने वचन के अनुसार जी उठा है' (मत्ती, 28:5-7)। इन स्त्रियों ने ये बातें ग्यारह चेलों को बतायीं; किन्तु उन्होंने प्रतीति नहीं की। पतरस उठकर कब्र पर दौड़ गया और झुककर केवल कपड़े पड़े देखे तथा जो हुआ था उस पर अचम्भा करते हुए अपने घर चला गया (लूका, 24:9-12)।

यूहन्ना लिखता है कि यीशु ने सबसे पहले मरियम को दर्शन दिये, किन्तु उसने मरियम को अपने- आपको छूने नहीं दिया और यह कहा – 'मुझे मत छू; क्योंकि मैं अब तक पिता के पास ऊपर नहीं गया' (यूहन्ना, 20:17)। इस घटना के बाद यीशु इम्माउस गाँव को जाते हुए दो भक्तों को मिला (लूका 24:13-35)। सन्ध्या के समय दस शिष्यों को (थोपा उस समय वहाँ नहीं था) दिखायी दिया (लूका, 24:26-43)। सात दिन के बाद ग्यारह चेलों को दिखायी दिया और उस समय थोपा भी था (यूहन्ना, 20:24-29)। तब यीशु पुनः गलील के पर्वत पर ग्यारह चेलों को दिखायी दिया और उसने आदेश दिया कि 'तुम जाकर सब जातियों के लोगों को चेला बनाओ और उन्हें पिता और पुत्र तथा

पवित्र आत्मा के नाम से बपतिस्मा दो।' (मत्ती, 28:16-20) पौलुस प्रेरित 1 करिन्थियो 15:7-9 में कहता है – 'फिर याकूब को दिखायी दिया, तब सब प्रेरितों को दिखायी दिया और सबके बाद मुझको भी दिखायी दिया जो मानो अधूरे दिनों का जन्मा हूँ; क्योंकि मैं प्रेरितों में सबसे छोटा हूँ वरन् प्रेरित कहलाने के योग्य भी नहीं; क्योंकि मैंने परमेश्वर की कलीसिया को सुनाया था।

इस अद्वितीय घटना का स्मरण करते हुए मसीही ईस्टर का पर्व मनाते और एक-दूसरे को 'प्रभु जी उठा है' बोलकर अभिवादन करते तथा मुबारकवाद देते हैं। कुछ लोग 'ईस्टर मुबारक' (Wish you a happy Easter) भी कहते हैं।

6. पिन्तेकुसका पर्व – कुछ मसीही सम्प्रदाय यीशु के जीवित होने के 50 दिन बाद पिन्तेकुसका पर्व मनाते हैं। यह पर्व इसलिए मनाया जाता है कि यीशु के स्वर्गारोहण के बाद उसी दिन पवित्र आत्मा का अवतरण चेलों पर हुआ था। जिसका वर्णन 'प्रेरितों के काम' अध्याय 2:1-4 में निम्न रूप से किया गया है –

'जब पिन्तेकुसका दिन आया तो वे सब एक जगह इकट्ठे थे और एकाएक आकाश से बड़ी आँधी की-सी सनसनाहट का शब्द हुआ और उससे सारा घर जहाँ वे बैठे थे, गूँज उठा और उन्हें आग की-सी जीभें फटती हुई दिखायी दीं और उनमें से हर एक पर आ ठहरीं तथा वे सब पवित्र आत्मा से भर गये और जिस प्रकार आत्मा ने उन्हें बोलने की सामर्थ्य दी, वे अन्य-अन्य भाषा बोलने लगे।' प्रत्येक मसीही पवित्र आत्मा का वरदान चाहता है और इसलिए परमेश्वर से प्रार्थना भी करता है,जिनको पवित्र आत्मा का वरदान प्राप्त हो जाता है, वे प्रभु यीशु मसीह के नाम में प्रार्थना द्वारा चंगाई का कार्य एवं भविष्यवाणी करने लगते हैं।[13]

उक्त वर्णन के आधार पर माना जा सकता है कि ईसाई धर्म में जैन धर्म के समान उपवास, एकासन आदि के रूप में तप-व्यवस्था नहीं है। वहाँ मनाये जाने वाले धार्मिक पर्वोत्सव को तपस्या का एक पक्ष कहा जा सकता है, क्योंकि इस परम्परा में धर्म जनित उत्सव को व्रत सदृश स्वीकारते हैं।

दूसरा तथ्य यह है कि इस धर्म में मान्य सभी पर्व प्राय: यीशु मसीह के जन्म, विजय, अन्तिम भोजन, उपदेश, क्रूस आरोहण, पुनर्जीवन आदि से ही

सम्बन्धित हैं और उनमें भगवान के रूप में यीशु का स्मरण एवं उनके उपदेशों का श्रवण आदि किया जाता है। इन पर्व दिनों में कायिक स्थिरता, प्रभु समर्पण, स्वदोष अवलोकन, बाईबिल का पाठ आदि कृत्य जैन धर्म में मान्य बाह्य एवं आभ्यन्तर तपों के प्रकार-काय क्लेश, विनय, प्रायश्चित्त, ध्यान आदि से सादृश्य रखते हैं। इस प्रकार अप्रकट रूप से मसीही धर्म में आज भी तप का स्वरूप जीवन्त है।

मुस्लिम धर्म में व्रतोत्सव

भारत विभिन्न धर्मों तथा संस्कृतियों वाला देश है। इस देश में अनेक धर्म-सम्प्रदायों के लोग अपनी-अपनी परम्पराओं के अनुसार उत्सव तथा पर्व मनाते हैं। इनमें मुस्लिम समुदाय वर्ष भर में अनेक पर्व मनाता है, जिनसे उनकी सामाजिक तथा धार्मिक भावनाओं का प्रकटीकरण होता है। मुहर्रम, रमजान, ईद-उल-फ़ितर, ईद-उल-जुहा, शब-ऐ-बरात, बारावफ़ात आदि ऐसे ही अनेक उत्सव हैं जिनसे उनकी धार्मिक, सामाजिक तथा वैचारिक जीवन शैली साफ-साफ परिलक्षित होती है–

मुहर्रम – मुहर्रम मुस्लिम कैलेण्डर का पहला महीना है।यह मुस्लिमों और उनमें भी विशेष रूप से शिया सम्प्रदाय के लोगों के लिए अपने शोक-उद्‌गार का पर्व है। सऊदी अरब में मक्का में कर्बला की दुःखान्त घटना की याद में यह पर्व मनाया जाता है, जिसमें अल्लाह के देवदूत मोहम्मद साहब की पुत्री फ़ातिमा के दूसरे बेटे इमाम हुसैन का निर्दयता पूर्वक कत्ल कर दिया गया था। मुस्लिम समुदाय इस महीने के दस दिन हज़रत इमाम हुसैन की शहादत की यादगार में तथा उनके प्रति शोक प्रकट करने में व्यतीत करता है। यज़ीद की सेना के विरुद्ध जंग करते हुए इमाम हुसैन के पिता हज़रत अली का सम्पूर्ण परिवार मौत के घाट उतार दिया गया था और मुहर्रम के दसवें दिन इमाम हुसैन भी इस युद्ध में शहीद हो गये थे।

इसी दु:खद घटना के शोक में यह पर्व भारतवर्ष ही नहीं, अपितु अन्य कई देशों में भी बड़े ही आकर्षक रूप में मनाया जाता है। इस अवसर पर देश के तमाम शहरों तथा कस्बों में विविध रंग-रूपों वाले ताज़िये निकाले जाते हैं। लकड़ी, बाँस तथा चाँदी से निर्मित और कीमती धातुओं तथा रंग-बिरंगे कागजों से सुसज्जित ये ताज़िये हज़रत इमाम हुसैन के मक़बरे के प्रतीक के रूप में माने

जाते हैं। इसी जुलूस में इमाम हुसैन के सैन्य बल के प्रतीक स्वरूप कुछ लोग अनेक विध शस्त्रों के साथ युद्ध की कलाबाजियाँ प्रदर्शित करते हैं। मुहर्रम के जुलूस में लोग इमाम हुसैन के प्रति अपनी संवेदना दर्शाने के लिए बाजों पर शोक-धुन बजाते हैं और शोक-गीत (मर्शिया) गाते हैं। लोग शोकाकुल होकर आँसू बहाते हुए विलाप करते हैं तथा अपनी छाती पीट-पीट कर 'हाय हुसैन', 'हाय हुसैन' के आर्त स्वर से पूरे वातावरण को करुण रस से सिक्त कर देते हैं। मुहर्रम के दसवें दिन ताजियादारी की यह परम्परा बगद्राद के ख़लीफ़ा मजुद्दौला के द्वारा हिजरी सन् 352 में चालू की गयी। भारत में इस परम्परा की शुरुआत चौदहवीं शताब्दी में मुहम्मद तुगलक के समय में तैमूरलंग के द्वारा की गयी।

रमज़ान – मुस्लिम महीने रमज़ान के प्रथम दिन से ही यह पर्व आरम्भ हो जाता है। यह रमज़ान का महीना सभी मुस्लिम महीनों में पवित्रतम माना गया है, क्योंकि हज़रत जिब्राइल इसी महीने में अल्लाह के द्वारा पृथ्वी पर भेजे गये थे। इन्हीं के माध्यम से अल्लाह के द्वारा प्रेषित पावन ग्रन्थ 'कुरान' मोहम्मद साहब को उस समय हस्तगत हुआ था, जब वे मक्का में कठोर तपस्या कर रहे थे।

रमज़ान के दौरान पूरे दिन मुसलमान लोग उपवास करते हैं और इस अवधि में वे आत्म-नियन्त्रण को अल्लाह का आदेश समझकर समस्त प्रकार की दुर्वृत्तियों से अपने को दूर रखते हैं। इस पवित्र महीने में मुस्लिम समुदाय के लोग भोर में (उषाकाल के पूर्व) उठकर दिन का उपवास-व्रत आरम्भ करने के पहले अल्पाहार करते हैं। पूरे दिन शुभ विचारों तथा धार्मिक भावनाओं में मन को केन्द्रित करके उपवास-व्रत का दृढ़ संकल्प के साथ पालन करने वाले मुस्लिम लोग मस्जिदों में कुरान की आयतों का पाठ करते हैं। इस प्रकार रमज़ान महीने में कठोर उपवास, कुरान-पाठ, आत्म-नियन्त्रण, परस्पर भाईचारे की भावना आदि के द्वारा मुसलमान बन्धु नैसर्गिक मानवीय गुणों से ओत-प्रोत हो जाते हैं।

ईद-उल-फ़ितर – मुस्लिम समुदाय द्वारा सम्पूर्ण विश्व में मनाया जाने वाला यह सबसे बड़ा पर्व है। यह हिजरी सन् के दसवें महीने 'शव्वाल' की पहली तारीख़ को मनाया जाता है। रमज़ान के दौरान तीस दिनों के कठोर उपवास के बाद महान् हर्ष तथा उल्लास के साथ लोग नये-नये रंग-बिरंगे भव्य

परिधानों में सज-धज़कर बड़ी संख्या में मस्जिदों तथा ईदगाहों में जाते हैं और वहाँ ईद की नमाज़ अदा करते हैं। आज के दिन हिन्दू तथा मुसलमान आपसी भाईचारे की भावना की अभिवृद्धि के उद्देश्य से एक-दूसरे को गले लगाते हैं। इस अवसर पर मुस्लिम नारियाँ सुन्दर वस्त्रों तथा यथा सामर्थ्य क़ीमती आभूषणों से सुसज्जित होकर एक-दूसरे के घर पहुँचकर शुभकामनाएँ व्यक्त करती हैं। आज के दिन का प्रमुख आकर्षण घरों में तैयार की गयी अति स्वादिष्ट 'सेवइयाँ' रहती हैं।

ईद-उल-जुहा – यह पर्व मुस्लिम महीने 'जिल-हिज्ज' की दसवीं तिथि को बड़े धूमधाम से मनाया जाता है। यह पर्व हज़रत इब्राहिम की कठोरतम परीक्षा के यादगार में सर्वत्र मनाया जाता है। एक बार उन्हें स्वप्न में सर्व शक्तिमान् अल्लाह से आदेश मिला कि वे अपने सबसे प्रिय पुत्र इस्माइल की बलि चढ़ाये। इब्राहिम के लिए यह कठिन अग्नि परीक्षा थी। अल्लाह में दृढ़ विश्वास रखने वाले हज़रत इब्राहिम ने इसके लिए अपने पुत्र इस्माइल से पूछा और उसके तत्काल राज़ी हो जाने पर उसकी बलि चढ़ाने को तैयार हो गये। हज़रत इब्राहिम ने अपनी तलवार ज्यों ही बेटे की गर्दन पर रखी, उसी समय सर्वव्यापी अल्लाह ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया और कहा कि मैं तो केवल अल्लाह के प्रति आपकी भक्ति तथा विश्वास और उनके द्वारा आपको प्रदत्त आदेश की परीक्षा ले रहा था।

इस दिन लोग प्रातःकाल बिना नाश्ता किये नमाज़ के लिए जाते हैं। आज के दिन मुस्लिम बन्धु एक-दूसरे को अपने घर भोजन के लिए आमन्त्रित करते हैं।

शब-ऐ-बरात – यह पर्व प्रतिवर्ष मुस्लिम महीने - 'शाबान' की पन्द्रहवीं रात को पूरे देश में मनाया जाता है। विश्वास के साथ ऐसा माना जाता है कि महात्मा मोहम्मद साहब ने इस दिन को उपवास तथा प्रार्थना के लिए निर्धारित किया है, क्योंकि आज की रात सर्व व्यापक अल्लाह सभी लोगों की नेकी तथा बदी का हिसाब तैयार करते हैं।

ऐसी धारणा है कि प्रत्येक व्यक्ति के अच्छे तथा बुरे कार्यों की निगरानी के लिए अल्लाह ने दो फ़रिश्ते नियुक्त किये हैं, जो आदमी के दाहिने तथा बायें कन्धे पर सदा विराजमान रहते हैं। दाहिने कन्धे पर 'केरावन' तथा बायें कन्धे

पर 'कातेबीन' स्थित रहते हैं जो क्रमशः नेकी तथा बदी का लेखा-जोखा बनाते हैं। इन दोनों के द्वारा पूरे साल का बनाया गया लेखा-जोखा इसी रात अल्लाह के समक्ष पेश किया जाता है। मनुष्य के अच्छे तथा बुरे कार्यों के अनुसार अल्लाह उसके भाग्य का निर्धारण करते हैं।

आज के दिन मुस्लिम लोग पूरी रात जागकर अल्लाह से प्रार्थना करते हैं तथा पवित्र कुरान की आयतों का पाठ करते हैं। इस रात लोग अपने मृतक सम्बन्धियों के उद्धार तथा उनकी शान्ति के लिए 'फ़ातिहा' भी पढ़ते हैं।[14]

उक्त वर्णन के अनुसार कहा जा सकता है कि इस्लाम धर्म आत्म समर्पण का धर्म है। इस्लाम का अर्थ है - ईश्वर के प्रति प्रणति (Submission to God)। इस धर्म में पाँच मुख्य कर्त्तव्यों में से चौथे कर्त्तव्य के रूप में रोजा आवश्यक माना गया है। उनकी मान्यतानुसार वर्ष भर में रोजा कभी भी रख सकते हैं, परन्तु रमजान को पवित्रतम महीने में (जब कुरान को मुहम्मद साहब के पास उतारा गया था, उस माह में) करने का विशेष महत्त्व है। उन दिनों (30 दिन) प्रत्येक मुस्लिम सूर्योदय से सूर्यास्त अन्न जल का त्याग रखते हैं। साथ ही धूम्रपान, मदिरा, टी.वी. आदि अनैतिक कार्य आदि का भी त्याग रखते हैं तथा शरीर के प्रति निर्ममत्व भाव एवं इन्द्रिय नियन्त्रण रखते हुए सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त रहते हैं। इस माह में दान की विशेष प्रवृत्ति देखी जाती है तथा यह तप रोगी, वृद्ध, यात्री, गर्भवती स्त्री, आठ-दस साल से छोटे बालकों के अतिरिक्त सभी के लिए अनिवार्य माना है।

यदि रोजा की तुलना जैन धर्म के उपवास आदि से करें तो इनमें दिन भर की प्रवृत्ति तो चौविहार उपवास के समान है पर जैन सिद्धान्तों के विपरीत यहाँ पर रात्रिभोजन की प्रवृत्ति देखी जाती है। इसके अतिरिक्त अन्य पर्वों में भी उपवास, प्रार्थना, अतिथि-सत्कार आदि की प्रवृत्ति है जिससे सिद्ध होता है कि यहाँ अन्य रूप में ही सही तप को स्थान दिया गया है।

सन्दर्भ-सूची

1. *व्रतपर्वोत्सव विशेषांक, पृ. 16*
2. *मनुस्मृति, 12/5-6*
3. *व्रतपर्वोत्सव विशेषांक, पृ. 486*
4. *वही, पृ. 477*

5. यूहन्ना, 12/12-13
6. लूका, 23:24
7. वही, 23:43
8. यूहन्ना, 19:26
9. मत्ती, 27:46; मरकुस, 15:34
10. यूहन्ना, 19:28
11. वही, 19:30
12. लूका, 23:46
13. व्रतपर्वोत्सव विशेषांक, पृ. 479-481
14. वही, पृ. 481-482

●

अध्याय-6

तपोयोग का ऐतिहासिक अनुशीलन एवं तुलनात्मक अध्ययन

तप साधना की आत्मा है, साधना की आधारभूमि है, साधना का ओज है। तप शून्य साधना खोखली है। साधना का विशाल प्रासाद तपस्या की ठोस बुनियाद पर ठहरा हुआ है। साधना प्रणाली, चाहे वह पूर्व में विकसित हुई हो या पश्चिम में, हमेशा तप से ओत-प्रोत रही है। कोई भी जीवन प्रणाली या साधना पद्धति तप शून्य नहीं हो सकती है।

जहाँ तक भारतीय साधना पद्धतियों का प्रश्न है, उनमें से लगभग सभी का जन्म 'तपस्या' की गोद में हुआ है। वे उसी में पली एवं विकसित हुई हैं। यहाँ तो भौतिकवादी अजित केस-कम्बलि और नियतिवादी गोशालक भी तप साधना में प्रवृत्त परिलक्षित होते हैं, फिर दूसरी विचार सरणियों में तो तप के महत्त्व पर शंका करने का प्रश्न ही नहीं उठता। हम जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं के आधार पर इस सम्बन्ध में चर्चा कर चुके हैं।

तप साधना की ऐतिहासिक विकास-यात्रा

यदि इस विषयक विस्तृत वर्णन अपेक्षित हो तो इसके क्रमिक विकास पर दृष्टिपात करना होगा। पौराणिक ग्रन्थों एवं जैन-बौद्ध आगमों में तपस्या का स्वरूप और ऐतिहासिक विकास उपलब्ध भी होता है। पं. सुखलालजी तप स्वरूप के ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में लिखते हैं कि तप का स्वरूप स्थूल से सूक्ष्म की ओर क्रमशः विकसित होता गया है और उसके स्थूल-सूक्ष्म अनेक प्रकार साधकों ने अपनाये। तपो मार्ग को वैकासिक दृष्टि से चार भागों में बाँटा जा सकता है – 1. अवधूत साधना 2. तापस साधना 3. तपस्वी साधना और 4. योग साधना। इनमें क्रमशः तप के सूक्ष्म प्रकारों का उपयोग होता गया, साधना देह-दमन से चित्तवृत्ति निरोध की ओर बढ़ती गयी।[1]

जैन साधना तपस्वी एवं योग साधना का समन्वित रूप में प्रतिनिधित्व करती है जबकि बौद्ध एवं गीता के आचारदर्शन योग-साधना का प्रतिनिधित्व करते हैं। फिर भी वे सभी अपने विकास के मूल केन्द्र से पूर्ण अलग नहीं हैं। जैन आगम आचारांगसूत्र का धूत अध्ययन, बौद्ध ग्रन्थ विशुद्धिमग्ग का धूतंगनिद्देस और हिन्दू साधना की अवधूत गीता आचार-दर्शनों के किसी एक ही मूल केन्द्र की ओर इंगित करते हैं। जैन साधना का तपस्वी मार्ग तापस-मार्ग का ही अहिंसक संस्करण है।[2]

बौद्ध एवं जैन दर्शन में जो विचार-भेद हैं, उसके पीछे एक ऐतिहासिक कारण है। यदि मज्झिमनिकाय में वर्णित बुद्ध के उस कथन का ऐतिहासिक मूल्य समझा जाये तो यह प्रतीत होता है कि बुद्ध ने प्रारम्भिक साधकीय जीवन में कई कठोर तप किये थे।

पं. सुखलालजी कहते हैं कि अवधूत मार्ग (तप का अत्यन्त स्थूल रूप) में जिस प्रकार के तपो मार्ग का आचरण किया जाता था बुद्ध ने वैसे ही उग्र तप किये थे।[3] भगवान महावीर और गौशालक तपस्वी तो थे ही, किन्तु उनकी तपश्चर्या में न अवधूतों की तपश्चर्या का अंश था और न ही तापसों की, वे तो यौगिक साधक थे।

गीता में भी तप के योगात्मक स्वरूप पर ही अधिक बल दिया गया है। गीताकार ने 'तपस्विभ्योऽधिकोयोगी' कहकर इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट कर दिया है। बौद्ध-परम्परा और गीता तप के योग पक्ष पर अधिक बल देती है जबकि जैन दर्शन में उसके पूर्व रूप भी स्वीकृत रहे हैं।

यदि कालक्रम की दृष्टि से विचार करते हैं तो प्रत्येक तीर्थङ्करों के शासनकाल में तप का अस्तित्व विद्यमान रहता है। तप (व्रत) के अभाव में धर्म की कोई भी परम्परा टिक नहीं सकती। तप है तो धर्म, धर्म है तो तीर्थङ्कर, तीर्थङ्कर है तो मोक्षमार्ग और मोक्षमार्ग है तो आत्मस्वरूप की उपलब्धि है।

यदि आगम साहित्य या प्राचीन साहित्य की अपेक्षा विचार करते हैं तो आचारांगसूत्र के उपधानश्रुत नामक नौवें अध्ययन में भगवान महावीर के तपोमय, त्यागमय जीवन का सजीव चित्रण किया गया है। तदनन्तर सूत्रकृतांगसूत्र, स्थानांगसूत्र, भगवतीसूत्र, उपासकदशासूत्र आदि में तप के विविध पहलुओं पर विचार किया गया है। इसी तरह अन्य आगम ग्रन्थों में भी

तप साधना की आवश्यक चर्चाएँ की गयी हैं।

यदि तप-विधियों को लेकर कहना चाहें तो सर्वप्रथम अन्तकृत्दशासूत्र में रत्नावली, मुक्तावली, कनकावली, भद्रोत्तर प्रतिमाएँ आदि किञ्चित तपों का सविधि वर्णन प्राप्त होता है जिन्हें वर्तमान में आचरित करना प्राय: अशक्य है। तत्पश्चात् दशाश्रुतस्कन्ध में बारह भिक्षु प्रतिमाओं का, उपासकदशा में ग्यारह उपासक प्रतिमाओं का, उत्तराध्ययनसूत्र में श्रेणी तप आदि का समुचित उल्लेख किया गया है। जैनागमों में वर्णित किञ्चित् तप दुष्कर हैं तो कुछ वर्तमान में बहु प्रचलित भी हैं। इनकी आगमिक टीकाओं में भी तत्सम्बन्धी विशद वर्णन परिलक्षित होता है।

यदि पूर्ववर्ती आचार्य रचित ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में मनन करें तो हमें आचार्य हरिभद्र (वि. 8वीं शती) के पंचाशकप्रकरण में लगभग 30 तपों का विधिवत विवरण प्राप्त होता है। उसके बाद आचार्य नेमिचन्द्र रचित प्रवचनसारोद्धार (वि. 10वीं शती), तिलकाचार्य सामाचारी (वि. 13वीं शती), सुबोधासामाचारी (वि. 12वीं शती), विधिमार्गप्रपा (14वीं शती), आचारदिनकर (15वीं शती) इत्यादि में क्रमश: बढ़ती हुई संख्या में तप विधियों का वर्णन किया गया है। आचारदिनकर ने तो समग्र तपों को तीन भागों में भी वर्गीकृत किया है। इन्हीं उक्त ग्रन्थों के आधार पर अब तक कई संकलित पुस्तकें भी सामने आई हैं जिनमें देश-काल के अनुसार बहुत से नये तपों का भी समावेश कर दिया गया है।

यदि भारतीय-परम्परा की दृष्टि से अवलोकन करें तो विश्व की मूल नींव के रूप में प्रवाहित जैन, हिन्दू व बौद्ध त्रिविध धाराओं में तप का यथोचित स्वरूप एवं महिमा गान का चित्रण उपस्थित होता है।

इस तरह तपश्चरण प्राणी मात्र की निजी सम्पदा है। इसका प्रयोग मोक्षार्थी जीवों द्वारा प्रत्येक कालखण्ड में किया जाता है और यह विश्व की तमाम संस्कृतियों में अल्पाधिक रूप से ही सही परिव्याप्त है।

उद्यापन क्या, क्यों और कब?

संस्कृत व्याकरण के अनुसार उद्+यम् से 'उद्यम' शब्द निष्पन्न है और उसी का प्राकृत रूप 'उज्जम' बनता है। यह उद्यापन शब्द प्राकृत के 'उज्जमण' शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है। उद्यापन को लोक व्यवहार में 'उजमणा' कहते हैं।

किये हुए तप का सम्यक् प्रकार से अनुमोदन करना, उसे शोभित करना, कीर्तित करना, प्रशंसित करना उजमणा कहलाता है। एक जगह कहा गया है कि

चैत्ये यथास्यात्कलशाधिरोपे, भुक्तः परं पूगफलादि दानम् ।
स्थालेऽक्षतानां च फलोपरोप, उद्यापनं तद्वदिहास्तु सत्त ।।

जिस प्रकार चैत्य (जिनालय) के निर्माण के पश्चात् कलश चढ़ाया जाता है, भोजन के पश्चात मुखवास आदि दिया जाता है, अक्षत के थाल पर फल रखा जाता है वैसे ही तप के पूर्ण होने पर उसके मंगल के रूप में उद्यापन करना आवश्यक है।

उपाध्याय वीरविजयजी ने लिखा है कि

उजमणाथी तपफल वाधे, इम भाखे जिनरायो
ज्ञान गुरु उपकरण करावो, गुरुगम विधि विरचायो रे
महावीर जिनेश्वर गायो .....

उद्यापन से तप के फल में अभिवृद्धि होती है। तद्हेतु गुरुगम से विधिपूर्वक ज्ञान और गुरु के उपकरण करवाने चाहिए और तप का उद्यापन सम्यक् प्रकार से करना चाहिए, ऐसा परम पिता महावीर स्वामी कहते हैं।

उद्यापन की मूल्यवत्ता को दिग्दर्शित करते हुए पं. पद्मविजयजी लिखते हैं कि

उजमणा तप केरा करतां, शासन सोह चढ़ाया हो
वीर्य उल्लास वधे तेणे कारण, कर्म निर्जरा पाया
तपस्या करतां हो, के डंका जोर बजाया हो।।

उद्यापन करने से शासन शोभा में अभिवृद्धि होती है, वीर्योल्लास (आत्मिक उत्साह) बढ़ता है और उससे कर्मों की निर्जरा होती है। भगवान महावीर ने कितनी घोर तपश्चर्या की? साढ़े बारह वर्ष तक मौन में रहे, न बैठे, न सोये और न ही निद्रा ली। उन्होंने ध्यान और तपश्चर्या की अग्नि शिखा को इतना तीव्र रूप में प्रगट किया कि कर्म जलकर खाक हो गये और पांचवाँ ज्ञान केवलज्ञान प्रकट हो गया। ऐसे उग्र तपश्चर्या के परिणाम स्वरूप केवलज्ञान को प्राप्त भगवान महावीर के चरण-कमलों में हमारा कोटिशः वन्दन हो, क्योंकि वीर प्रभु ने घोर तपश्चर्या द्वारा केवलज्ञान का डंका जोर से बजाया है।

वस्तुतः उद्यापन तपश्चर्या की अनुमोदना का ही एक कार्य है। उद्यापन

करने से तप फल में वृद्धि होती है। कहा भी गया है कि **"तप फल वाधे रे उजमणा थकी जिम जल पंकज नाल"** जैसे पानी से कमलनाल की वृद्धि होती है वैसे ही उजमणा से तप के फल में वृद्धि होती है।

उपदेशप्रासाद (भा. 4, पृ. 98) में उद्यापन के मूल्य की चर्चा करते हुए कहा गया है कि

वृक्षो यथा दोहद पूरणेन, देहो यथा षडरस भोजनेन।
शोभां लभते यथोक्तेनोद्यापनैव तथा तपोऽपि।।

जैसे दोहद पूर्ण करने से वृक्ष और षड्रस के भोजन से शरीर विशेष शोभा को प्राप्त होता है उसी प्रकार विधिपूर्वक उद्यापन करने से तप विशेष शोभा को प्राप्त होता है।

इसी क्रम में उद्यापन से होने वाले लाभ के विषय में बताया गया है कि

लक्ष्मीः कृतार्था सफलं तपेऽपि,
ध्यानं सदोच्चैर्जिन बोधिलाभः।
जिनस्य भक्तिर्जिनशासन श्रीर्गुणाः,
स्युरद्यापनतो नराणाम्।।

विधिपूर्वक उद्यापन करने से लक्ष्मी कृतार्थ होती है, तप सफल हो जाता है, उच्च प्रकार का ध्यान प्राप्त होता है, बोधिलाभ होता है, रत्नत्रय की भक्ति से पुण्यानुबंधी पुण्य बंधता है, जिनाज्ञा का पालन करने से महाधर्म होता है, जिनशासन की शोभा में वृद्धि होती है तथा भव्य जीवों के लिए धर्म प्राप्ति में निमित्त बनता है।

इतिहास में उद्यापन सम्बन्धी उल्लेख सम्प्राप्त होते हैं। नवकार मन्त्र की तपाराधना के परिपूर्ण होने पर पेथड़शाह ने बहुत भव्य उद्यापन किया था जिसमें उन्होंने दर्शन-ज्ञान-चारित्र के 68-68 उपकरण रखे। जैसे– 68 चांदी के कलश, 68 चांदी की थाल-कटोरी, 68 सोने की थाली, 68 जरी के रुमाल, 68 रत्न, 68 रत्नजडित ध्वजाएँ आदि। उन उपकरणों में कोई चांदी के, कोई सोने के, तो कोई हीरे मोती के थे।

कहने का भावार्थ यह है कि जिस प्रकार पेथड़शाह ने जिनाज्ञा का पालन करते हुए यथाशक्ति उद्यापन कर्म किया, उसी प्रकार हमें भी 'आणाए धम्मो' की उक्ति को आत्मसात करते हुए उद्यापन का भव्य उत्सव करना चाहिए। इसका

मूल हार्द यह है कि जिनप्रासाद चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो, किन्तु जब तक उस पर कलश न चढ़े तब तक उस मन्दिर की शोभा द्विगुणित नहीं होती है, दूध चाहे कितना भी पौष्टिक क्यों न हो, किन्तु शक्कर के बिना उसकी मिठास में अभिवृद्धि नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार से तप चाहे कितना सुन्दर एवं उत्कृष्ट क्यों न हो, किन्तु उद्यापन के बिना उसमें भव्यता नहीं आती है। उद्यापन के बिना तप जैसा उत्तम अनुष्ठान भी अधूरा है। वस्तु स्थिति यह है कि तप का उद्यापन बोधि बीज के अंकुर के समान है। उससे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त हो तो तप निर्मल बनता है।

जैन दर्शन में करना, करवाना और अनुमोदन करना – इन तीनों क्रियाओं को समान फलदाता माना गया है। कहा भी गया है–

''करण करावण ने अनुमोदन, सरखा फल निपजाया
महावीर जिनेश्वर गायो।''

तपस्वी यदि उजमणा करने में समर्थ नहीं है और करवाने में भी समर्थ नहीं है तो उसकी अनुमोदना अवश्य करनी चाहिए। अनुमोदना में कुछ भी द्रव्य व्यय नहीं होता, सिर्फ उस तरह के अध्यवसायों की भूमिका निर्मित करनी होती है। श्राद्धविधि और धर्मसंग्रहटीका में उद्यापन को श्रावक का जन्म कर्त्तव्य एवं वार्षिक कर्त्तव्य बतलाया गया है। उद्यापन हेतु गृहस्थ को प्रेरित करना सद्गुरु का लक्षण कहा गया है।

भौतिक स्तर पर जीने वाले कुछ लोग उद्यापन आदि कार्यों एवं अन्य धार्मिक कार्यक्रमों में खर्च को व्यर्थ तथा धन का अपव्यय मानते हैं। कुछ सामर्थ्यवान् न होने से तपस्या ही नहीं करते, कुछ दिखावे के लिए उद्यापन करते हैं। इनका सीधा सा जवाब यह है कि 'उजमणा' न धन खर्च ने के लिए किया जाता है और न ही लोक प्रदर्शन हेतु, यह तो व्रत समाप्ति का कार्य है जिसे तप को महिमा मण्डित एवं लोक विश्रुत करने के उद्देश्य से करते हैं। साथ ही जो बाह्य वैभव से सम्पन्न हो, धर्म के प्रति रुचिवन्त हो, तप के प्रति श्रद्धानिष्ठ हो, उसी के लिए यह आवश्यक माना गया है।

हाँ! यदि कोई साधन सम्पन्न हो और तप करने की शक्ति वाला भी हो, उपरान्त तप या उद्यापन न करे तो उसे वीर्याचार का विराधक माना गया है। उद्यापनकर्त्ता को इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि यदि कोई तप अथवा

उद्यापन में समर्थ होने के बावजूद भी वैसा सुकृत कर्म न करें तो उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। प्रत्युत स्वशक्ति के अनुसार उद्यापन करना चाहिए।

उद्यापन सम्बन्धी सामग्री

किसी भी व्रत-तप के पूर्ण होने पर उसकी ख्याति एवं उसे आत्मस्थ करने के लिए यथानिर्दिष्ट संख्या में अथवा यथाशक्ति ज्ञान-दर्शन-चारित्र के उपकरण जिनशासन के आराधकों को अर्पित करने चाहिए। उद्यापन में स्थूल रूप से यही विधि की जाती है। साथ ही साधर्मिक वात्सल्य एवं संघ पूजा भी करते हैं।

यह उद्यापन स्वगृह, उपाश्रय अथवा विशाल जिनमन्दिर आदि में सजावट पूर्वक करना चाहिए।

सामान्यतया उद्यापनकर्त्ता को त्रिगड़ा बनवाना चाहिए क्योंकि स्नात्रपूजा आदि के समय पंचधातु की प्रतिमा इसमें विराजमान करते हैं। पंचधातु की प्रतिमा को विराजित करने के लिए छोटा-सा सिंहासन निर्मित करवाना चाहिए। यदि शक्ति हो तो जितने छोड़ का उजमणा हो उतनी ही संख्या में त्रिगड़े बनवाने चाहिए। इससे स्व की आराधना तथा दूसरों को अनुमोदन का अवसर प्राप्त होता है।

उद्यापनकर्त्ता को आवश्यकतानुसार उपाश्रय निर्माण अथवा उसकी व्यवस्था हेतु कुछ राशि का उपयोग करना चाहिए। उपाश्रय भाव आराधना का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। वहाँ गृहस्थ एवं मुनियों के द्वारा नियमित रूप से सामायिक, पौषध, स्वाध्याय आदि कई धार्मिक आराधनाएँ की जाती हैं। शास्त्रीय नियमानुसार उपाश्रय का निर्माण श्रावकों के उद्देश्य से करवाना चाहिए, साधुओं के निमित्त नहीं। उपाश्रय होने से जिनवाणी श्रवण का लाभ सहज मिल जाता है।

उद्यापनकर्त्ता को सम्यग्दर्शन की आराधना हेतु नूतन चैत्य का निर्माण, जीर्णोद्धार, प्रतिमा निर्माण, प्रतिष्ठा कार्य आदि में राशि का सद्व्यय करना चाहिए। इसी तरह सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र के साधन भी निर्मित करने चाहिए।

उद्यापन निमित्त अर्पित किये जाने वाले द्रव्य (राशि) को निम्न चार हिस्सों में बांट देना चाहिए – दर्शन, ज्ञान, चारित्र और उनके आराधक साधर्मिक गृहस्थ एवं मुनियों के लिए। जिनशासन का मूल श्रुतज्ञान है तथा उस ज्ञान की भक्ति परमावश्यक है अतः सम्यक् ज्ञान की आराधना हेतु आगम-शास्त्र लिखवाने चाहिए, ज्ञान सामग्री रखने हेतु चन्दन-काष्ठादि के सुन्दर कपाट

बनवाने चाहिए, साधु-साध्वियों के लिए योग्य पण्डितों की व्यवस्था करनी चाहिए, शिक्षण केन्द्र खुलवाने चाहिए आदि। इसी तरह चारित्र के उपकरण संगृहीत कर यथायोग्य साधकों को अर्पित करने चाहिए।

उद्यापन में चंदवा-पूठिया बनवाना चाहिए। किसी ग्रन्थ में 10 प्रकार के चंदोवा-पूठिया का निर्देश है। यहाँ यह उपकरण जिनालय एवं साधु-साध्वियों के लिए उपयोगी जानना चाहिए। साक्षात् तीर्थङ्कर के पृष्ठ भाग पर भामण्डल होता है। आज उसी के प्रतीक रूप में चंदोवा बांधते हैं।

तीर्थङ्कर के शासनकाल में दूसरे प्रहर में गणधर मुनि देशना देते हैं तब राजा-महाराजा उनके लिए सिंहासन लाते हैं। यदि कोई लाने वाला न हो तो परमात्मा के लिए निर्मित रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठकर देशना देते हैं। अत: आचार्यों के पीछे भी चंदोवा-पूठिया बांधा जाता है। उद्यापनकर्त्ता को यह उपकरण अपने हस्तगत न रखकर जिनमन्दिर या उपाश्रय आदि में सुपुर्द कर देना चाहिए। वर्तमान में चंदोवा-पूठिया पर पूज्य पुरुषों का आलेख किया जाता है जो अनुचित है, क्योंकि साधु-साध्वियों के ऊपर पूज्य पुरुषों से आलेखित चंदोवा बांधने पर उनको पीठ आती है, इसलिए इस तरह के चंदोवा-पूठिया नहीं बांधने चाहिए। वास्तविक रूप से चंदोवा-पूठिया में इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, अष्टप्रातिहार्य या वैराग्यदर्शक आलेख आदि करने चाहिए। यह सामान्यतया तीर्थङ्कर परमात्मा एवं आचार्यों के बहुमानार्थ बांधा जाता है।

इसके अतिरिक्त शेष उपकरण लघु-बृहद् तपश्चर्याओं के अनुसार निर्मित एवं अर्पित करने चाहिए। प्रत्येक अध्याय में उल्लिखित तप की उद्यापन विधि प्राय: उसी के साथ दे दी गयी है। फिर भी सर्व सामान्य उद्यापन में रखने योग्य सामग्री की संयुक्त सूची इस प्रकार है–

• बड़े हेंडल वाला दीपक– दो स्टेन्ड युक्त • छोटे हेंडल वाला दीपक • दर्पण • चामर (चाँदी का) • घंटा • चाँदी के कलश • चाँदी के पंखे • चांदी की आरती • चाँदी का मंगल कलश • भंडार • जर्मन की बाल्टी • पीतल की बाल्टी • जर्मन की नली • पीतल की नली • केसर घिसने का ओरसिया (पत्थर) • घिसा हुआ चन्दन डालने के लिए बड़े कटोरे • घिसा चंदन लेने हेतु चम्मच • वासक्षेप के लिए डिब्बी • वासक्षेप की डिब्बी रखने हेतु सर्प और शंख के आकृति की टेबल • धूपदानी– स्टेन्ड युक्त (पीतल) • दीपक– स्टेन्ड

युक्त (पीतल) • जर्मन थाली (पूजा हेतु) • जर्मन कटोरी • पूजा की जोड़ी • सामायिक की जोड़ी • पुस्तक रखने की ठवणी • अंगलूछण वस्त्र • ऊनी कंबली • दंडा • दंडासन की डंडी • मोर पींछी • साधु– साध्वियों के उपयोगी पात्र आदि।

उद्यापनकर्त्ता को कुछ निर्देश

• जीतव्यवहार के अनुसार हर एक तपस्या में प्रतिदिन परमात्म पूजा, ज्ञान-ज्ञानियों की भक्ति, साधर्मिक सुश्रुषा, चारित्रधारियों का विनय-वैयावृत्य आदि करना चाहिए, इससे त्याग भाव का पोषण और तप साधना का सौन्दर्य खिलता है।

• यदि प्रतिकूलता या असमर्थतावश तप की पूर्णाहुति पर अधिक कुछ न कर पायें तो कम से कम स्वशक्ति के अनुसार जिनेश्वर प्रभु की आडम्बर पूर्वक पूजा करें। ज्ञान के उत्तमोत्तम साधनों को एकत्रित करें। गुरु भगवन्तों को स्व नगर में आमन्त्रित कर तथा साधर्मिकों को स्व घर में बुलाकर अन्नादि, धन-धान्यादि, वस्त्र-अलंकार आदि के द्वारा उनकी भक्ति-सेवा प्रत्येक प्रकार से करें।

• उद्यापन तप पूर्ण होने के बाद ही किया जाता हो ऐसा नहीं है, उसे आदि, मध्य या अंत में यथा संयोग कर सकते हैं।

• उद्यापन में रखी गई सामग्री गुरु और संघ की साक्षी से श्रीसंघ को सुपुर्द कर देनी चाहिए, उन उपकरणों का स्वयं के लिए उपयोग नहीं कर सकते हैं जितनी शीघ्र हो उतनी जल्दी वह सामग्री सुयोग्य स्थान पर दे देनी चाहिए।

• उद्यापन में जो कुछ सामग्री रखी जाये वह असली, प्रशस्त एवं शुभ भाव उत्पन्न हो वैसी होनी चाहिए। देव-गुरु और संघ की आशातना अथवा लघुता हो वैसी कोई सामग्री नहीं रखनी चाहिए।

हिन्दू-परम्परा में भी व्रत-उद्यापन की परम्परा मौजूद है। यहाँ भी अधिकांश तपों (व्रतों) का अपनी-अपनी विधि के अनुसार उद्यापन किया जाता है। इस विषयक विस्तृत जानकारी हेतु हिन्दू धर्म के नारदीय पुराण, संहिता, उपनिषद् आदि ग्रन्थों का आलोडन करना चाहिए।[4]

तुलनात्मक अध्ययन

भगवान महावीर ने तप का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि तप आत्मा के परिशोधन की प्रक्रिया है, आबद्ध कर्मों के क्षय करने की पद्धति है, तप से पूर्व

सञ्चित कर्म विनष्ट होते हैं तथा तपश्चरण राग-द्वेष जन्य पाप कर्मों के बन्धन को क्षीण करने का मार्ग है।

जैन-साधना में तप के बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दो भेद किये गये हैं। पुनः प्रत्येक के छह-छह भेद भी बताये गये हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन कर चुके हैं। हिन्दू-साधना में गीताकार ने तप के तीन प्रकार प्रस्तुत किये हैं – 1. शारीरिक 2. वाचिक और 3. मानसिक।[5] गीताकार की दृष्टि से देव, द्विज, गुरुजन और ज्ञानीजनों का पूजन-सत्कार एवं सेवा करना, शरीर की शुद्धि एवं आचरण की पवित्रता रखना, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन करना शारीरिक तप है। हितकारी, प्रिय और यथार्थ सम्भाषण करना तथा स्वाध्याय एवं अध्ययन में रहना वाचिक तप है। मन की प्रसन्नता, शान्त भाव, मौन, मनोनिग्रह और भाव विशुद्धि मानसिक तप है।

तप की शुद्धता एवं सार्थकता की दृष्टि से गीता में निम्न तीन विभाग भी किये गये हैं[6]–

1. सात्त्विक तप 2. राजस तप और 3. तामस तप।

उपरोक्त तीनों प्रकारों का तप श्रद्धा पूर्वक फल की आकांक्षा से रहित निष्काम भाव से किया जाता है, तब वह सात्विक तप कहा जाता है। जब यही तप सत्कार, मान-प्रतिष्ठा अर्जन या लोक प्रदर्शन के लिए पाखण्ड पूर्वक किया जाता है तो वह राजस तप कहा जाता है। जिस तप में मूढ़ता पूर्वक हठ से स्वयं को भी कष्ट दिया जाता है, दूसरे को भी कष्ट दिया जाता है तथा दूसरे का अनिष्ट करने के उद्देश्य से ही किया जाता है वह तामस तप कहलाता है।

वर्गीकरण की दृष्टि से हिन्दू और जैन विचारणा में प्रमुख अन्तर यह है कि गीता- अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य एवं इन्द्रिय निग्रह आदि को भी तप की कोटि में मानती है, जबकि जैन विचारणा इन्हें पाँच महाव्रतों एवं दस यति धर्मों के अन्तर्गत स्वीकार करती हैं। इसी प्रकार गीता में जैन धर्म के द्वारा मान्य छह बाह्य तपों पर विशेष विचार नहीं किया गया है। जैन मत में स्वीकृत आभ्यन्तर तपों में केवल स्वाध्याय को ही वहाँ तप रूप में माना गया है। ध्यान और कायोत्सर्ग को योग के रूप में, वैयावृत्य को लोकसंग्रह, विनय को गुण रूप तथा प्रायश्चित्त को शरणागति स्वरूप स्वीकारा गया है। वैसे जैन-परम्परा का तप वर्गीकरण हिन्दू-साधना में किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकृत रहा है।

बौद्ध-साहित्य में स्वतन्त्र रूप से तप का कोई वर्गीकरण उपलब्ध नहीं होता है यद्यपि मज्झिमनिकाय के कन्दरकसुत्त में एक वर्गीकरण देखा जाता है जो मनुष्य की श्रेष्ठता एवं निकृष्टता को उजागर करता है। वह चतुर्विध मनुष्य की अपेक्षा इस प्रकार है –

1. कुछ मानव आत्म तपस्वी हैं, परन्तु पर तपी नहीं हैं। इस वर्ग के अन्दर कठोर तपश्चर्या करने वाले तपस्वीगण आते हैं, जो स्वयं को कष्ट देते हैं लेकिन दूसरे को नहीं।

2. कुछ मनुष्य पर-तपी हैं आत्म-तपी नहीं। इस वर्ग में बधिक एवं पशुबलि देने वाले आते हैं, जो दूसरों को ही कष्ट देते हैं।

3. तीसरी श्रेणी के मनुष्य आत्म-तपी भी होते हैं और पर-तपी भी। इस वर्ग में तपश्चर्या सहित यज्ञ-याज्ञ करने वाले लोग आते हैं जो स्वयं भी कष्ट उठाते हैं और दूसरे को भी कष्ट देते हैं।

4. चौथी श्रेणी के मनुष्य न आत्म-तपी होते हैं और न ही पर-तपी अर्थात् न तो स्वयं को कष्ट देते हैं और न औरों को ही कष्ट देते हैं।

बुद्ध ने उक्त चतु: प्रकारों में से अन्तिम प्रकार को श्रेष्ठ माना है। उन्होंने इस सम्बन्ध में उपदेश देते हुए कहा है कि वही तप लाभदायी है जिसमें न तो स्व-पीड़न हो और न ही पर-पीड़न।

जहाँ तक जैन विचारणा का प्रश्न है, वह उपरोक्त वर्गीकरण में पहले और चौथे को स्वीकार करेगी और कहेगी कि यदि स्वयं के कष्ट उठाने से दूसरों का हित होता हो और हमारी मानसिक शुद्धि होती हो, तो पहला वर्ग ही सर्वश्रेष्ठ है और चौथा वर्ग मध्यम-मार्ग है।

यदि हम जैन धर्म और गीता में वर्णित तप के विभिन्न प्रभेदों पर विचार करके देखें, तो उनमें से अधिकांश बौद्ध-परम्परा में मान्य है। डॉ. सागरमल जैन के अनुसन्धानात्मक दृष्टिकोण के अनुसार जैन-परम्परा द्वारा आचरणीय तप के 12 प्रभेदों में से 11 बौद्ध-परम्परा में मान्य प्रतीत होते हैं।[7]

1. बौद्ध भिक्षुओं के लिए अति भोजन वर्जित है। साथ ही केवल एक समय भोजन करने का आदेश है जो जैन मत के ऊनोदरी तप से मिलता है। गीता में भी योग-साधना के लिए अति भोजन वर्जित है।

2. बौद्ध भिक्षुओं के लिए रसासक्ति का निषेध है जो जैन मत के रस परित्याग के समकक्ष है।

3. बौद्ध-साधना में विभिन्न सुखासनों की साधना का विधान मिलता है जो

जैन विचारणा के कायक्लेश तप को स्पष्ट करता है। यद्यपि बौद्ध-विचारणा में आसनों की साधना एवं शीत-ताप सहन करने की धारणा उतनी कठोर नहीं है जितनी जैन-परम्परा में है।

4. भिक्षाचर्या तप, जैन और बौद्ध दोनों आचार-प्रणालियों में स्वीकृत है, यद्यपि भिक्षा नियमों की कठोरता जैन-साधना में अधिक है।

5. विविक्त शयनासन तप भी बौद्ध विचारणा में स्वीकृत है। बौद्ध ग्रन्थों में अरण्यनिवास, वृक्ष मूल-निवास, श्मशान निवास करने वाले (जैन परिभाषा के अनुसार विविक्त शयनासन तप करने वाले) धुतंग भिक्षुओं की प्रशंसा की गयी है।

पूर्व की भाँति आभ्यन्तरिक तप के छह भेद भी बौद्ध-परम्परा में मान्य रहे हैं जैसे –

6. प्रायश्चित्त, बौद्ध-परम्परा और वैदिक-परम्परा उभय में स्वीकृत रहा है। बौद्ध ग्रन्थों में प्रायश्चित्त के लिए प्रवारणा आवश्यक मानी गयी है।

7. विनय तप के सम्बन्ध में दोनों ही धर्म परम्पराएँ एकमत हैं।

8. जैन विचारणा की भाँति बौद्ध-परम्परा में भी बुद्ध, धर्म, संघ, रोगी, वृद्ध एवं शिक्षार्थी भिक्षुक की सेवा का विधान है।

9. बौद्ध-परम्परा में स्वाध्याय एवं उसके विभिन्न अंगों का विवेचन भी उपलब्ध होता है। बुद्ध ने वाचना, पृच्छना, परावर्तना एवं चिन्तन को समान महत्त्व दिया है।

10. व्युत्सर्ग के सम्बन्ध में यद्यपि बुद्ध का दृष्टिकोण मध्यममार्गी है तथापि वे इसे अस्वीकार नहीं करते हैं। व्युत्सर्ग के आन्तरिक प्रकार तो बौद्ध-परम्परा में भी उसी प्रकार स्वीकृत रहे हैं जिस प्रकार वे जैन दर्शन में हैं।

11. ध्यान के सम्बन्ध में बौद्ध दृष्टिकोण जैन-परम्परा के निकट ही आता है। वहाँ चार प्रकार के ध्यान इस प्रकार माने गये हैं –

(i) सवितर्क-सविचार-विवेकजन्य प्रीति सुखात्मक, प्रथम ध्यान।

(ii) वितर्क-विचार रहित समाधिज प्रीति सुखात्मक, द्वितीय ध्यान।

(iii) प्रीति और विराग से उपेक्षक हो स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त उपेक्षा स्मृति सुख विहारी, तृतीय ध्यान।

(iv) सुख-दुःख एवं सौमन्य-दौर्मनस्य से रहित असुख-दुःखात्मक उपेक्षा

एवं परिशुद्धि से युक्त, चतुर्थ ध्यान।

इस प्रकार चारों ध्यान जैन-परम्परा में भी थोड़े शाब्दिक अन्तर के साथ उपस्थित हैं।

योग-परम्परा में भी समापत्ति के चार प्रकार बतलाये हैं जो कि जैन-परम्परा के समान ही लगते हैं। वे चतुर्विध समापत्तियाँ निम्नानुसार हैं–

(i) सवितर्का, (ii) निर्वितर्का, (iii) सविचारा, (iv) निर्विचारा।

इस विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन-साधना में जिस सम्यक् तप का विधान है वह अन्य भारतीय आचार दर्शनों में भी सामान्यतया स्वीकृत रहा है।

जैन, बौद्ध और गीता- इन त्रिविध परम्पराओं में सर्वाधिक मत वैभिन्य उपवास तप या अनशन तप को लेकर है। बौद्ध और हिन्दू के आचार-दर्शन उपवासों की लम्बी तपस्या को इतना महत्त्व नहीं देते जितना कि जैन विचारणा देती है। इसका मूल कारण यह है कि उक्त दोनों परम्पराओं ने तप की अपेक्षा योग को अधिक महत्त्व दिया है यद्यपि जैन दर्शन की तप-साधना योग-साधना से भिन्न नहीं है। पतञ्जलि ने जिस अष्टांगयोग मार्ग का उपदेश दिया वह कुछ तथ्यों को छोड़कर जैन-विचारणा में भी उपलब्ध है।[8]

सन्दर्भ-सूची

1. *समदर्शी हरिभद्र, पृ. 67*
2. *वही, पृ. 67*
3. *वही, पृ. 67-68*
5. *गीता, 17, 14-16*
6. *वही, 17, 17-19*
7. *जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भा. 2, पृ. 111*
8. *वही, पृ. 112-114*

अध्याय-7

उपसंहार

मानव मात्र का अन्तिम लक्ष्य आत्म शुद्धि होना चाहिए। मोक्षार्थी साधक की समस्त क्रियाओं का मूल लक्ष्य स्वरूप दशा को प्राप्त करना ही होता है। तप इस लक्ष्य की पूर्ति का श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट साधन है तथा निर्विवादत: उसका फल अचिन्त्य और असीम है जैसे– कल्पवृक्ष से मनोवांछित किसी भी वस्तु को प्राप्त कर सकते हैं, चिन्तामणि रत्न के प्रभाव से चित्त अवधारित सभी संकल्प पूर्ण हो जाते हैं वैसे ही तप के प्रभाव से समग्र इच्छाएँ फलीभूत होती हैं। इसीलिए तप को सर्व सम्पत्तियों की 'अमरबेल' कहा है। भगवान महावीर ने तो यहाँ तक कह दिया है कि– **''भव कोडी संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ''** करोड़ों भवों के संचित कर्म तप से क्षीण/निर्जरित हो जाते हैं।

आगमवाणी का अनुसरण करते हुए एक कवि ने तप को और भी अद्‌भुत बतलाया है कि– **''कर्म निकाचित पण क्षय जाये, क्षमा सहित जे करतां''** यदि तपस्या समताभाव पूर्वक की जाये तो उससे निकाचित (अत्यन्त क्लिष्ट) कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

उक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि रत्नत्रय की आराधना निकाचित (जिन कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है) कर्मों को साफ नहीं कर सकती, किन्तु तप-साधना में तो ऐसी शक्ति है कि वह निकाचित कर्मों का भी सफाया कर देती है। अन्यत्र भी कहा गया है कि **''तप करिये समता राखी घटमां''** दिल में अपार और वास्तविक समता भाव रखते हुए तप करना चाहिए। इस तरह का तप निश्चित ही निकाचित, अनिकाचित और अर्धनिकाचित सभी प्रकार के कर्मों का क्षय कर सकता है। इसीलिए रत्नत्रयी की आराधना भी तप के बिना अधूरी है। दर्शन से श्रद्धा, ज्ञान से यथार्थ जानकारी, चारित्र से कर्म का संवर यानी कि कर्मबन्ध पर अंकुश लगता

है, किन्तु कर्मों की निर्जरा (आत्मा से कर्म समूह का पृथक् होना) तप द्वारा ही होती है। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है – **''तपसा निर्जरा च''** तप से निर्जरा होती है।

चतुर्विध मोक्षमार्ग को उदाहरण के द्वारा अधिक स्पष्ट समझा जा सकता है। कल्पना कीजिए, एक बहुत बड़ा हॉल है, उसकी सभी खिड़कियाँ और दरवाजे खुले हैं। यदि उस समय अचानक तूफानी हवा या आँधी आ जाये तो क्या होगा? वह हॉल धूल से भर जायेगा। तब ऐसा समझिये कि हॉल खुला है और आंधी आई है। इस तरह की अनुभूति करना दर्शन है। इस तूफान से हॉल में कचरा और धूल भर रही है, यह दरवाजे या खिड़की के खुले होने से हो रहा है, यह समझना ज्ञान है। उस वक्त दरवाजे और खिड़कियों को जल्दी से बन्द कर देना चारित्र है। चारित्र से कर्मों का आना रुकता है, किन्तु जो कचरा हॉल में प्रवेश कर चुका है उसको बाहर करने के लिए झाड़ू लगानी ही पड़ेगी। बस, ठीक वैसे ही तप भी झाड़ू की तरह अन्दर के कचरे को साफ करने का कार्य करता है। अनादिकाल से जो पाप कर्म हमारी अन्तर आत्मा पर लगे हुए हैं, जमे हुए हैं, उन्हें साफ करने के लिए तप आवश्यक है।

यहाँ प्रश्न होता है कि तप कैसा हो? वास्तविक तप कौन सा है? उपाध्याय यशोविजयजी ने नवपद पूजा में कहा है कि

इच्छा रोधे संवरी, परिणति समता योगे रे ।
तप ते एहिज आतमा, वर्ते निज गुण भोगे रे ।।

इच्छा का निरोध करने वाला, संवर रूप परिणति को उत्पन्न करने वाला और समता योग से प्रवर्तित होने वाला तप ही वास्तविक तप है। इस प्रकार का तप करने वाली आत्मा ही स्वयं में रमण करती है और अपने आत्मिक गुणों का आस्वादन करती है।

यदि तप करते हुए इच्छा का निरोध न हो, अध्यवसाय संवर रूप न हो और समत्व की स्थिति न हो तो शास्त्रों में बताया गया है कि बड़ी-बड़ी तपश्चर्या करने वाले भी संसार में भटक जाते हैं तथा प्रतिदिन आहार करने वाले केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं।

जैन आगमों में कूरगडू मुनि का दृष्टान्त आता है। उस मुनि के विषय में कहा गया है कि उन्हें हर रोज सुबह होते ही क्षुधा-वेदनीय भयंकर सताती थी। एक बार संवत्सरी का दिन आया, उनके सहवर्ती सभी साधु दीर्घ तपश्चर्या कर रहे हैं, किसी के मासक्षमण है, किसी के अट्ठाई है, किसी के तेला है और आज उपवास तो सभी ने किया ही है। संवत्सरी का दिन, खाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता? परंतु कुरगडू मुनि भूखे नहीं रह सकते थे। उनका कूरगडू नाम इसीलिए पड़ा कि कूर यानी चावल और गडू यानी घड़ा-प्रतिदिन एक घड़ा भरकर चावल खाने के कारण उन्हें कूरगडू कहते थे। कूरगडू मुनि ने संवत्सरी के दिन भी चावल लाये, साध्वाचार के नियमानुसार वहाँ उपस्थित सर्व साधुओं को आहार ग्रहण करने का निवेदन किया। उस वक्त सभी तपस्वी साधुओं ने उनकी निन्दा की, किन्हीं ने धिक्कारते हुए उस पात्र में थूंक दिया तो किसी ने गहरी अवमानना की, किन्तु इतना सब होते हुए भी कूरगडू मुनि अपने आत्म-ध्यान में लीन रहे। वे किसी को दोषी न ठहराते हुए अपने आपकी निन्दा कर रहे थे कि मैं कैसा पापी हूँ? आज महान पर्व के दिन भी खाने का मोह छोड़ नहीं सका और ये सभी तो कितने महान तपस्वी? चलो, इन्होंने थूंक दिया तो क्या? अच्छा ही हुआ घी नहीं डलवाया था, यह तपस्वियों का थूंक घी का काम करेगा। इस प्रकार सहवर्ती तपस्वियों के तप की प्रशंसा और आत्म निन्दा करते हुए उस मुनि को खाते-खाते केवलज्ञान हो गया और बड़े-बड़े ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी सब देखते रह गये।

जैन शासन की यही विशिष्टता है कि यहाँ खाते-खाते भी पा जाते हैं और तप करते-करते भी रह जाते हैं। ठीक इसके विपरीत शास्त्रों में तामली तापस का उदाहरण आता है कि उसने 60 हजार वर्ष तक घोर तप किया, छट्ठ के पारणे छट्ठ (बेला) और पारणे में 21 बार धोए हुए चावल आयंबिल के रूप में लेते थे। ऐसा कठोर तप करने पर भी उस तापस का कल्याण नहीं हुआ। अतः तप सम्यक् एवं शुद्ध आशय वाला होना चाहिए।

एक युवक ने प्रश्न पूछा – तप से क्या होता है? जवाब दिया– तप से क्या नहीं होता है? तप धर्म के सेवन से सब कुछ हो सकता

है। उस युवा ने दूसरा प्रश्न पूछा – तप में क्या है ? उत्तर दिया – तप में क्या नहीं है? यदि हमारी श्रद्धा हो तो तप में सब कुछ है। उसने पुनः प्रश्न किया – तप क्या देता है? इसके समाधान में कहा गया कि तप से सब कुछ मिलता है। तप नर सुख, सुर सुख और शिव सुख तीनों ही उपलब्ध करवाता है। जब तक आत्मा का मोक्ष नहीं होता, तब तक मनुष्यलोक और देवलोक के समस्त सुख आपके कदमों में रहते हैं। इसका अनुबन्ध (Agreement) तप द्वारा मिलता है। उदयरत्नजी महाराज तप पद की सज्झाय में कहते हैं –

तीर्थङ्कर पद पामीये रे, नासे सघला रोग।
रूप लीला सुख साहिबी रे, ए सवि तप संजोग।।

संसार से जब तक मोक्ष नहीं होता तब तक भौतिक सभी सुखों की प्राप्ति तप से ही होती है जैसे कि तीर्थङ्कर पद (सर्वोत्कृष्ट पुण्य भोग) की प्राप्ति होती है, सभी रोगों का नाश होता है, सौन्दर्य आदि सुख बढ़ते जाते हैं। इससे भी अधिक कहें तो

"लब्धि अट्ठावीस उपजे रे, मनवांछित फल थाय"

तप की आराधना से अट्ठाईस प्रकार की लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं तथा मनोवांछित फलीभूत होते हैं। इतना ही नहीं, तप के प्रभाव से देवी-देवता भी आकर्षित होकर पृथ्वीलोक पर चले आते हैं।

सामान्य रूप से जैन-आगमों में साधना का त्रिविध-मार्ग प्रतिपादित है, लेकिन उत्तराध्ययनसूत्र (28/23,35) एवं दर्शनपाहुड (32) में एक जगह चतुर्विध मार्ग का भी वर्णन मिलता है। साधना का चौथा अंग 'सम्यक् तप' कहा गया है जैसे गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग के साथ-साथ ध्यानयोग का भी निरूपण है वैसे ही जैन-परम्परा में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के साथ-साथ सम्यक् तप का भी उल्लेख है। परवर्ती परम्पराओं में ध्यानयोग का अन्तर्भाव कर्मयोग में और सम्यक् तप का अन्तर्भाव सम्यक्चारित्र में हो गया। यद्यपि प्राचीन युग में जैन-परम्परा में सम्यक् तप का, बौद्ध-परम्परा में समाधि मार्ग का तथा गीता में ध्यानयोग का स्वतन्त्र स्थान रहा है।

तीर्थङ्कर परमात्मा ने जगत के प्राणिमात्र के हितार्थ चार प्रकार के धर्म का उपदेश दिया है – दान, शील, तप और भावना। इसका तात्पर्य है कि जितने भी तीर्थङ्कर पुरुष हुए हैं सभी ने धर्म का सामान्य स्वरूप दान, शील, तप और भावना- ऐसे चार प्रकार का ही वर्णित किया है। यहाँ 'दान' शब्द से अभयदान, ज्ञानदान, सुपात्रदान और अनुकम्पादान का उपदेश किया। 'शील' शब्द से विरति, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान या संयम की देशना दी। 'तप' शब्द से शरीर, मन और आत्मा की शुद्धि करने वाली विविध क्रियाओं का विधान किया और 'भाव' शब्द से चैतसिक परिणामों को चढ़ते हुए रखने का अनुरोध किया। इस प्रकार धर्म के मुख्य अंगों में तप को विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

मोक्षमार्ग का निरूपण करते समय भी जैन महर्षियों ने तप का खास निर्देश किया है। जैसे कि–

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
पयमग्गमणुपत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं।।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप – इस मार्ग को प्राप्त हुए जीव मोक्ष में जाते हैं।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि सबसे पहले मुमुक्षु को जीव अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञान होना चाहिए, फिर तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए, फिर चारित्र अर्थात् वीतराग प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए और अन्त में इच्छा निरोध रूप तप भी करना चाहिए। उस स्थिति में ही साधक मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।

जैन धर्म में नवपद आराधना को अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है उसके निमित्त चैत्र और आश्विन महीने में नौ-नौ दिन पर्यन्त आयंबिल की तपस्या की जाती है। इस नवपद में निम्न पदों का अन्तर्भाव होता है–

1. अरिहन्त, 2. सिद्ध, 3. आचार्य, 4. उपाध्याय, 5. साधु, 6. दर्शन, 7. ज्ञान, 8. चारित्र और 9. तप।

तात्पर्य है कि नव आराध्य पदों में तप को विशिष्ट स्थान दिया गया है।

जैन धर्म यह मानता है कि जो आत्मा बीस स्थानों से सम्बन्धित एक

या अधिक स्थानों का समुचित रूप से स्पर्श करता है वह तीर्थङ्कर गोत्र बांधता है और भविष्य में निश्चित रूप से तीर्थङ्कर बनता है। इन बीसस्थानक पदों में भी तप के दर्शन होते हैं। बीस पदों के नाम इस प्रकार हैं–

1. अरिहन्त पद	2. सिद्ध पद	3. प्रवचन पद
4. आचार्य पद	5. स्थविर पद	6. उपाध्याय पद
7. साधु पद	8. ज्ञान पद	9. दर्शन पद
10. विनय पद	11. चारित्र पद	12. ब्रह्मचर्य पद
13. क्रिया पद	14. तप पद	15. गौतम पद
16. जिन पद	17. संयम पद	18. अभिनव ज्ञान
19. श्रुत पद	20. तीर्थ पद।	

इसमें तप पद की ओली उपवास के पारणे आयंबिल करते हुए की जाती है।

प्रत्येक पर्व का उद्यापन तप द्वारा ही किया जाता है। इससे यह निर्णीत है कि जैन धर्म में तप का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

यदि तपोयोग का समीक्षात्मक अध्ययन करें तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि यह साधना भारतीय संस्कृति की सभी परम्पराओं में किसी न किसी रूप में आज भी परिलक्षित होती है। कई आरामवादी एवं आहार लोलुपी यह तर्क देते हैं कि जिन्दगी मिली है तो "खाओ–पीयो, ऐश करो" तप-त्याग करने से क्या मिलेगा? यदि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करें तो तप मनुष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह इच्छाओं को वश करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। तप का अभिप्राय मात्र भोजन नियन्त्रण ही नहीं, अपितु शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक नियन्त्रण से है और इन पर नियन्त्रण करने से अनुपम मानसिक शान्ति की उपलब्धि होती है। आहार का सर्वाधिक प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है अतः आहार संयम के हेतु से तप करने पर मात्र मन ही नहीं, शरीर भी स्वस्थ रहता है।

वैज्ञानिक शोधों के अनुसार शरीर के सभी अंगों में प्राण ऊर्जा का प्रवाह प्रत्येक समय एक समान नहीं रहता, अतः प्रत्येक समय शरीर से

किये गये हर कार्य की लाभ-हानि एक सी नहीं रहती, जैसे– भोजन का पाचन आदि कार्य दिन के समय में जितना अच्छे से होता है रात्रि में अधिक शक्ति का व्यय होकर भी उतना शारीरिक लाभ प्राप्त नहीं होता। उपवास करने से शारीरिक प्रतिरोधात्मक शक्ति (Emunity) का जागरण होता है। इससे फेगोसाइव्स और लिम्फोसाइट्स की क्षमता में वृद्धि होती है जो कि रोग प्रतिरोधात्मक शक्ति के रूप में विजातीय तत्त्वों का प्रतिकार करते हैं। इससे वृद्धावस्था भी जल्दी नहीं आती।

जिस प्रकार पूरा सप्ताह काम करने के बाद रविवार को अवकाश आवश्यक प्रतीत होता है जिससे एक दिन आराम मिल सके तथा अपूर्ण कार्य पूर्ण किये जा सकें, वैसे ही सप्ताह में एक दिन उपवास करने से पाचन तन्त्र सम्बन्धी रोगों पर नियन्त्रण किया जा सकता है। उससे पाचन तन्त्र की सफाई एवं रक्त की शुद्धि हो जाती है। आहार जहाँ शरीर को आवश्यक ऊर्जा एवं गर्मी प्रदान करता है वहीं उपवास शरीर को आरोग्य और शुद्धि देता है।

एकासना, ऊनोदरी आदि तप करने पर अर्थात् भूख से कम आहार करने पर आयु में वृद्धि होती है, शरीर स्वस्थ रहता है तथा शरीर में वृद्धावस्था के लक्षण जल्दी नहीं आते, क्योंकि भूख से कम खाने से शरीर में एकत्रित ग्लाइकोसायलेशन एण्ड प्रोडक्ट नामक रसायन जो कि अधिक एकत्रित होने पर शरीर की कार्य क्षमता को कम कर देता है उसका उपयोग हो जाता है। कायक्लेश, प्रतिसंलीनता, रस परित्याग से इन्द्रियाँ वश में रहती हैं और शारीरिक ऊर्जा का अनावश्यक अपव्यय नहीं होता। शरीर को विकृत करने वाले मधु, मांस, मक्खन और मदिरा इन चार का पूर्ण त्याग तथा दूध, दही, घी, तेल आदि का आंशिक त्याग कर आयंबिल आदि तप करने से रोगों पर नियन्त्रण, रक्त एवं पाचन वृद्धि तथा मोटापा, मधुमेह आदि नियन्त्रित होते हैं।

आभ्यन्तर तप के माध्यम से अहंकार, अविवेक, असजगता, प्रमाद को कम कर क्रोध आदि कषायों को नियन्त्रित किया जा सकता है जिससे ग्रन्थियों के स्त्राव सन्तुलित होते हैं तथा प्रशान्त भावों की जागृति होती है। फलस्वरूप मन एवं दिमाग शान्त रहता है, जिससे शारीरिक ऊर्जा एवं

समय का सृजनात्मक कार्यों में उपयोग हो सकता है।

यदि प्रबन्धन के दृष्टिकोण से तप की समीक्षा करें तो तप के द्वारा जीवन प्रबन्धन, स्व प्रबन्धन, कषाय प्रबन्धन, शरीर प्रबन्धन, समाज प्रबन्धन आदि कई कार्यों में विशेष सहायता प्राप्त होती है। बाह्य तप विशेष रूप से शरीर प्रबन्धन, स्व प्रबन्धन, समाज प्रबन्धन में निमित्तभूत है। जैसे कि उपवास, ऊनोदरी, रस परित्याग आदि के माध्यम से आहार वृत्ति पर नियन्त्रण रहता है। इसके कारण शरीर सन्तुलित एवं रोगमुक्त रहता है। सात्विक आहार करने से मन के परिणाम भी शुद्ध बनते हैं जिससे क्रोधादि कषाय नियन्त्रित रहते हैं। शारीरिक और मानसिक स्वस्थता जीवन के सर्वाङ्गीण विकास में सहायक बनती है। कायक्लेश, प्रतिसंलीनता, वृत्ति संक्षेप से प्रतिकूल परिस्थिति में रहने का अभ्यास सधता है। अध्ययन, व्यापार, नौकरी आदि के निमित्त बाहर रहते हुए विपरीत परिस्थितियाँ निर्मित हो जाएँ तो भी व्यक्ति उनमें सफलता प्राप्त कर लेता है। यदि समाज व्यवस्था का चिन्तन करें तो आहार के प्रति आसक्ति नहीं होगी और आसक्ति नहीं होगी तो उसका अनावश्यक संचय भी नहीं होगा। अत: समाज में खाद्यान्न सामग्री की अव्यवस्था रूप असन्तुलन सन्तुलित हो जाता है।

इसी तरह आभ्यन्तर तप प्रायश्चित्त के द्वारा व्यक्ति को अपने दोषों का, दुर्गुणों का एहसास होता है जिससे वह जीवन को दोष मुक्त बनाने का प्रयास करता है। विनय एवं वैयावृत्य के द्वारा समाज में सेवा, सौहार्द, मेल-जोल, आपसी तालमेल आदि में वृद्धि होती है जिससे सामाजिक व्यवस्थाओं का निर्वाह सम्यक् प्रकार से होता है। स्वाध्याय के माध्यम से सद्ज्ञान का विकास एवं आदान-प्रदान होने से सांस्कृतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना होती है। ध्यान एवं कायोत्सर्ग की साधना से मन,वाणी एवं काय तीनों की एकाग्रता सधती है, तनाव से मुक्ति मिलती है तथा कई मानसिक एवं शारीरिक रोगों का उपशमन स्वयमेव हो जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तप सन्तुलन एवं व्यवस्था का प्रमुख सूत्र है तथा प्रत्येक प्रकार के प्रबन्धन में सहयोगी है।

यदि तप की समीक्षा वर्तमान जगत् की समस्याओं के सन्दर्भ में की जाय तो तप के माध्यम से कई समस्याओं का समाधान प्राप्त हो सकता

है। वैयक्तिक समस्याओं में मुख्य रूप से शरीर सम्बन्धी समस्याएँ जैसे कि मोटापा, पाचन तन्त्र की गड़बड़ी से उद्भूत समस्याएँ, अनिद्रा, अतिनिद्रा, मधुमेह, हृदय आदि कई बीमारियों का नियन्त्रण, विगय त्याग, अनशन, ऊनोदरी के माध्यम से किया जा सकता है। समभाव एवं स्वरमणता से पारिवारिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक क्लेश उत्पन्न नहीं होते। समाज एवं परिवार में सुख, शान्ति और सौहार्द की स्थापना होती है जिससे समाज एवं राष्ट्र उत्तरोत्तर प्रगति करते हैं। समाज में व्याप्त आहार-सम्बन्धी समस्याएँ जैसे कि भूखमरी, अति आहार, विषाक्त आहार के कारण बढ़ते रोग एवं मृत्युदर को कम किया जा सकता है।

पाश्चात्य अनुकरण के कारण चटपटे भोजन या त्वरित भोजन (Fast Food) में बढ़ रही आसक्ति को नियन्त्रित किया जा सकता है। समाज में बढ़ रहे अपराधों पर प्रायश्चित्त के द्वारा आत्म जागृति प्रकट कर उन्हें कम कर सकते हैं। बढ़ते महिलाश्रम, वृद्धाश्रम, विधवाश्रम एवं अनाथाश्रमों को रोकने हेतु वर्तमान पीढ़ी में विनय, वैयावच्च, सेवा आदि के संस्कारों का निर्माण आवश्यक है। आज व्यक्ति ज्ञान के क्षेत्र में विकास तो कर रहा है पर वह मात्र एक तरफा विकास है जिसके कारण स्वार्थवृत्ति, अहंकार, आग्रहवाद आदि में वृद्धि हो रही है। स्वाध्याय के द्वारा सद्ज्ञान का विकास कर जीवन को एक सही दिशा एवं दशा प्रदान की जा सकती है। इस प्रकार अनेक समस्याओं के समाधान में तप बहुत सहायक हो सकता है।

●

सहायक ग्रन्थ सूची

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
1.	अभिधान चिन्तामणि कोश	संपा. विजयकस्तूरसूरि	सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद	वि.सं. 2013
2.	अभिधानराजेन्द्रकोश (भा.4)	आचार्य राजेन्द्रसूरि	अभिधान राजेन्द्र कोष प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद	1986
3.	अन्तकृतदशांगसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1990
4.	अनुत्तरोपपातिकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1981
5.	अथर्ववेद संहिता	अग्निमहर्षि	हरियाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर, रोहतक	वि.सं. 2043
6.	अष्टकप्रकरण	संपा.डॉ. सागरमल जैन	पार्श्वनाथ विद्यापीठ,बनारस	2000
7.	आचारसार	वीरनन्दी सैद्धान्तिक चक्रवर्ती	माणकचन्द्र दि. जैन ग्रंथमाला, बम्बई	वि.सं. 1974
8.	आचारांगसूत्र (भा.1-2)	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1980
9.	आचारांगनिर्युक्ति (निर्युक्ति-संग्रह)	आचार्य भद्रबाहु स्वामी	हर्षपुष्पामृत जैन ग्रंथमाला, जामनगर	1989
10.	आवश्यकनिर्युक्ति	संपा. मधुकरमुनि	श्री भेरुलाल कनैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट,मुंबई	वि.सं. 2038

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
11.	आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति (भा.1-2)	देवचन्द्र लालभाई	श्री भेरुलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट,मुंबई	वि.सं. 2038
12.	आवश्यक मलयगिरिवृत्ति	—	आगमोदय समिति, बम्बई	1928
13.	आवश्यक चूर्णि (भा.1-2)	—	ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम	1928 -29
14.	उत्तराध्ययनसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1985
15.	उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य बृहद्वृत्ति	—	जैन पुस्तकोद्धार भाण्डागार संस्था, बम्बई	वि.सं. 1973
16.	उपासकाध्ययन	आचार्य सोमदेवसूरि	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	1964
17.	ऋग्वेदसंहिता	अग्निमहर्षि	हरियाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर, रोहतक	वि.सं. 2041
18.	ओघनिर्युक्ति	—	आगमोदय समिति, मुंबई	1919
19.	ओघनिर्युक्ति भाष्य	—	आगमोदय समिति, मुंबई	1919
20.	ओघनिर्युक्ति वृत्ति	—	आगमोदय समिति, मुंबई	1919
21.	औपपातिकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1982
22.	अंगुत्तरनिकाय (1-3)	अनु. आनंद कौशल्यायन	महाबोधि सभा, कोलकाता	

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
23.	कल्पसूत्र (हिन्दी)	अनु. देवेन्द्र मुनि	तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर	1968
24.	गोपथ ब्राह्मण-भाष्यम्	क्षेमकरणदास त्रिवेदी संपा. डॉ. प्रज्ञा देवी	चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी	1977
25.	चारित्रसार	रचित चामुण्डराय	माणकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	1974
26.	चन्द्रप्रज्ञप्तिसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1995
27.	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1986
28.	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वृत्ति	संपा. शान्तिचन्द्र	जैन पुस्तकोद्धार फंड,बम्बई	1920
29.	जिनगुण स्वाध्याय (वीतरागस्तोत्र)	संपा. रश्मिरत्नविजय	जिनगुण आराधक ट्रस्ट, मुंबई	
30.	जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप	देवेन्द्रमुनि शास्त्री	श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर	1982
31.	जैन धर्म में तप स्वरूप और विश्लेषण	मुनि मिश्रीमलजी संपा. श्रीचन्द्र सुराना 'सरस'	श्री मरूधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर	1972
32.	जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (भा.1-2)	डॉ. सागरमल जैन	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	1982

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
33.	तत्त्वार्थसूत्र	पं. सुखलाल संघवी	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी	1976
34.	तत्त्वार्थवार्तिक (1-2)	आचार्य अकलंकदेव संपा. महेन्द्र कुमार जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	1953 1957
35.	तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक	आचार्य विद्यानंद	निर्णयसागर यंत्रालय, बंबई	1918
36.	तिलोय पण्णती	यति वृषभाचार्य अनु. पं. बालचन्द्र सिद्धांत शास्त्री	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	1956
37.	त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र (1,10)	आचार्य हेमचन्द्रसूरि	जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर	वि.सं. 1961 1965
38.	तत्त्वसार	श्री देवसेन	माणकचन्द दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई	वि.सं. 1975
39.	तैतिरीयोपनिषद्भाष्यम्	संपा. दिनकर विष्णु गोखले मणिलाल इच्छाराम देसाई	गुज. मुद्रण यंत्रालय, मुंबई	1914
40.	तैत्तिरीय ब्राह्मणम्(भा.2)	सायणाचार्य	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली	1938
41.	दशवैकालिकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1985

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
42.	दशवैकालिक वृत्ति	आचार्य हरिभद्र	जैन पुस्तकोद्धार फंड,बंबई	1918
43.	दशवैकालिक निर्युक्ति	—	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद	1973
44.	दशवैकालिक चूर्णि	जिनदासगणि	ऋषभदेव केशरीमल श्वेता. संस्था, रतलाम	1933
45.	दशवैकालिकचूर्णि	अगस्त्यसिंह	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद	1973
46.	दशाश्रुतस्कंध (त्रीणि छेदसूत्राणि)	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1992
47.	द्वादशानुप्रेक्षा	कुन्दकुन्दाचार्य	माणकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि.सं. 1987
48.	धर्मसंग्रह स्वोप्रज्ञ वृत्ति युक्त (भा.3)	मुनि मानविजय संपा. मुनि चन्द्रविजय	श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, भूलेश्वर, मुम्बई	1984
49.	धर्मरत्नप्रकरण	शांतिसूरि रचित	जैन आत्मानंद सभा, भावनगर	वि.सं. 1982
50.	धम्मपद	अनु. राहुल सांस्कृत्यायन	भिक्षु ग. प्रज्ञानन्द बुद्ध विहार, लखनऊ	1957
51.	निशीथचूर्णि (भा. 1-4)	—	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1982

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
52.	नीतिवाक्यामृत	सोमदेवसूरि	माणकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि.सं. 1979
53.	पद्मनन्दि-पंचविंशति	पद्मनन्दी मुनि	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	1962
54.	पातंजलयोगदर्शन	संपा. डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य	मोतीलाल बनारसीदास, बनारस	1953
55.	पिण्डनिर्युक्ति मलयगिरि वृत्ति	देवचन्द्र लालभाई जैन	पुस्तकोद्धार फंड, सूरत	1919
56.	प्रवचनसारोद्धार (भा.1-2)	आचार्य नेमिचन्द्रसूरि अनु.साध्वी हेमप्रभा श्री	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	2000
57.	प्रवचनसार वृत्ति	जयसेनाचार्य	परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई	वि.सं. 1969
58.	प्रवचनसारोद्धार वृत्ति	आचार्य सिद्धसेनसूरि	जीवनचन्द साकरचन्द जवेरी, बम्बई	1926
59.	बृहत्कल्पसूत्र (त्रीणि छेदसूत्राणि)	संपा. मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1992
60.	बृहत्कल्पभाष्य (भा.1-2)	संपा. मुनि दुलहराज	जैन विश्वभारती, लाडनूं	2007
61.	मनुस्मृति	पं. गोपालशास्त्री नेने	चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी	1970

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
62.	महाभारत (आदि पर्व)	अनु. पं. रामनारयण दत्त शास्त्री	गीता प्रेस, गोरखपुर	वि.सं. 2012
63.	मुण्डकोपनिषद्	—	गीता प्रेस, गोरखपुर	वि.सं. 2016
64.	मूलाचार टीका– वसुनन्दिकृत आचारवृत्ति सहित	संपा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ,नई दिल्ली	1992
65.	भगवतीसूत्र (भा.1)	टीका. अभयदेवसूरि	निर्णय सागर प्रेस, मुंबई	वि.सं. 1974
66.	भगवती आराधना (विजयोदया टीका)	अपराजित सूरि	बलात्कारजैन पब्लिकेशन सोसायटी, कारंजा	1935
67.	भगवती आराधना	शिवकोटि आचार्य	बलात्कार जैन पब्लिकेशन सोसायटी, कारंजा	1935
68.	योगशास्त्र टीका	संपा. मुनि जम्बूविजय	शंखेश्वर तीर्थ	वि.सं. 2032
69.	योगशास्त्रविवरण	हेमचन्द्राचार्य	जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर	1926
70.	योगवासिष्ठ: (भा.2)	अनु. डॉ. महाप्रभुलाल गोस्वामी	तारा बुक एजेंसी, बनारस	1989

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
71.	विशुद्धिमार्ग (भा. 1)	आ.बुद्धघोष, अनु.भिक्षु धर्मरक्षित	महोबोधि सभा	1956
72.	विदुरनीति	विदुराचार्य	गुजराती यंत्रालय, मुम्बई	1890
73.	विशेषावश्यक भाष्य	—	दिव्य दर्शन कार्यालय, अहमदाबाद	वि.सं. 2489
74.	व्यवहारभाष्य	संपा.समणी कुसुमप्रज्ञा	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1996
75.	व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र-खंड-1-4)	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1982 -86
76.	शतपथ ब्रह्मणम्(भा.2)	—	सायणाचार्य विरचित, नाग प्रकाशक, दिल्ली	1990
77.	सर्वार्थसिद्धि	पूज्यपाद, अनु. पं. फूलचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1999
78.	समवायांगसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1990
79.	समवायांग वृत्ति	अभयदेवसूरि	झवेरचन्द्र ठे. भट्टीनीवारी, अहमदाबाद	1938
80.	स्थानांगसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
81.	स्थानांग वृत्ति	अभयदेवसूरि	आगमोदय समिति, मुम्बई	वि.स. 1975
82.	सुत्तनिपात	अनु. भिक्षु धर्मरत्न	महोबोधि, सभा, बनारस	1950
83.	सूत्रकृतांगसूत्र (भा. 1)	संपा. मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1982
84.	सूत्रकृतांग (खंड-3)	शीलांकाचार्य वृत्ति. संपा. पं. अम्बिकादत्त ओझा	श्री महावीर जैन ज्ञानोदय सोसाइटी, राजकोट	वि.सं. 1995
85.	षट्खंडागम टीका (धवला)	वीरसेनाचार्य	जैन साहित्योद्धारक फंड, अमरावती	1939 -58
86.	क्षत्र चूड़ामणि	वादीभसिंह सूरि	टी.एस. कुप्पूस्वामी शास्त्री, तंजोर	1903
87.	ज्ञानसार	उपाध्याय यशोविजय	आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि.सं. 1671
88.	ज्ञानार्णव	अनु. पन्नालाल बाकलीवाल	श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास	1981
89.	ज्ञाताधर्मकथासूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1981

●

सज्जनमणि ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित साहित्य का संक्षिप्त सूची पत्र

क्र.	नाम	ले./संपा./अनु.	मूल्य
1.	सज्जन जिन वन्दन विधि	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
2.	सज्जन सद्ज्ञान प्रवेशिका	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
3.	सज्जन पूजामृत (पूजा संग्रह)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
4.	सज्जन वंदनामृत (नवपद आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
5.	सज्जन अर्चनामृत (बीसस्थानक तप विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
6.	सज्जन आराधनामृत (नव्वाणु यात्रा विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
7.	सज्जन ज्ञान विधि	साध्वी प्रियदर्शनाश्री	सदुपयोग
		साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
8.	पंच प्रतिक्रमण सूत्र	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
9.	तप से सज्जन बने विचक्षण	साध्वी मणिप्रभाश्री	सदुपयोग
	(चातुर्मासिक पर्व एवं तप आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
10.	मणिमंथन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
11.	सज्जन सद्ज्ञान सुधा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
12.	चौबीस तीर्थंकर चरित्र (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
13.	सज्जन गीत गुंजन (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
14.	दर्पण विशेषांक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
15.	विधिमार्गप्रपा (सानुवाद)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
16.	जैन विधि-विधानों के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध सार	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
17.	जैन विधि विधान सम्बन्धी साहित्य का बृहद् इतिहास	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
18.	जैन गृहस्थ के सोलह संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00

19.	जैन गृहस्थ के व्रतारोपण सम्बन्धी संस्कारों का प्रासंगिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
20.	जैन मुनि के व्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों की त्रैकालिक उपयोगिता, नव्ययुग के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
21.	जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
22.	जैन मुनि की आहार संहिता का समीक्षात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
23.	पदारोहण सम्बन्धी विधियों की मौलिकता, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
24.	आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
25.	तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन, आगमों से अब तक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
26.	प्रायश्चित्त विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
27.	षडावश्यक की उपादेयता, भौतिक एवं आध्यात्मिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
28.	प्रतिक्रमण, एक रहस्यमयी योग साधना	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
29.	पूजा विधि के रहस्यों की मूल्यवत्ता, मनोविज्ञान एवं अध्यात्म के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
30.	प्रतिष्ठा विधि का मौलिक विवेचन आधुनिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
31.	मुद्रा योग एक अनुसंधान संस्कृति के आलोक में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00

32.	नाट्य मुद्राओं का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
33.	जैन मुद्रा योग की वैज्ञानिक एवं आधुनिक समीक्षा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
34.	हिन्दू मुद्राओं की उपयोगिता, चिकित्सा एवं साधना के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
35.	बौद्ध परम्परा में प्रचलित मुद्राओं का रहस्यात्मक परिशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
36.	यौगिक मुद्राएँ, मानसिक शान्ति का एक सफल प्रयोग	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
37.	आधुनिक चिकित्सा में मुद्रा प्रयोग क्यों, कब और कैसे?	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
38.	सज्जन तप प्रवेशिका	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
39.	शंका नवि चित्त धरिए	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00

●

विधि संशोधिका का अणु परिचय

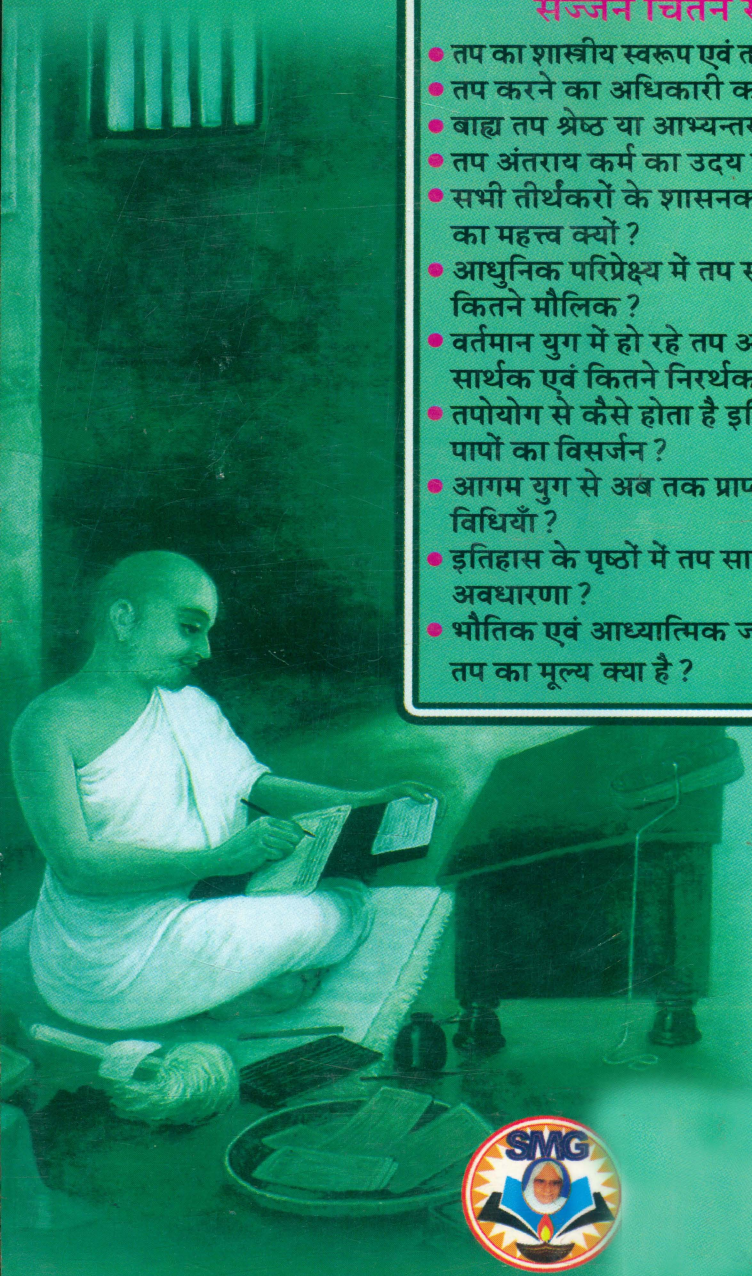


डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी (D.Lit.)

नाम	:	नारंगी उर्फ निशा
माता-पिता	:	विमलादेवी केसरीचंद छाजेड
जन्म	:	श्रावण वदि अष्टमी, सन् 1971 गढ़ सिवाना
दीक्षा	:	वैशाख सुदी छट्ठ, सन् 1983, गढ़ सिवाना
दीक्षा नाम	:	सौम्यगुणा श्री
दीक्षा गुरु	:	प्रवर्त्तिनी महोदया प. पू. सज्जनमणि श्रीजी म. सा.
शिक्षा गुरु	:	संघरत्ना प. पू. शशिप्रभा श्रीजी म. सा.
अध्ययन	:	जैन दर्शन में आचार्य, विधिमार्गप्रपा ग्रन्थ पर Ph.D. कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, नंदीसूत्र आदि आगम कंठस्थ, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, राजस्थानी भाषाओं का सम्यक् ज्ञान।
रचित, अनुवादित एवं सम्पादित साहित्य	:	तीर्थंकर चरित्र, सद्ज्ञानसुधा, मणिमंथन, अनुवाद-विधिमार्गप्रपा, पर्युषण प्रवचन, तत्वज्ञान प्रवेशिका, सज्जन गीत गुंजन (भाग : १-२)
विचरण	:	राजस्थान, गुजरात, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, थलीप्रदेश, आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, महाराष्ट्र, मालवा, मेवाड़।
विशिष्टता	:	सौम्य स्वभावी, मितभाषी, कोकिल कंठी, सरस्वती की कृपापात्री, स्वाध्याय निमग्ना, गुरु निश्रारत।
तपाराधना	:	श्रेणीतप, मासक्षमण, चत्तारि अट्ठ दस दोय, ग्यारह, अट्ठाई बीसस्थानक, नवपद ओली, वर्धमान ओली, पखवासा, डेढ़ मासी, दो मासी आदि अनेक तप।

सज्जन चिंतन रश्मियाँ

- तप का शास्त्रीय स्वरूप एवं तात्त्विक परिभाषाएं ?
- तप करने का अधिकारी कौन ?
- बाह्य तप श्रेष्ठ या आभ्यन्तर तप ?
- तप अंतराय कर्म का उदय है या उदीरणा ?
- सभी तीर्थंकरों के शासनकाल में तप साधना का महत्त्व क्यों ?
- आधुनिक परिप्रेक्ष्य में तप साधना के उद्देश्य कितने मौलिक ?
- वर्तमान युग में हो रहे तप आयोजन कितने सार्थक एवं कितने निरर्थक ?
- तपोयोग से कैसे होता है इन्द्रिय नियंत्रण एवं पापों का विसर्जन ?
- आगम युग से अब तक प्राप्त मौलिक तप विधियाँ ?
- इतिहास के पृष्ठों में तप साधना की क्रमिक अवधारणा ?
- भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत में द्वादशविध तप का मूल्य क्या है ?



SAJJANMANI GRANTHMALA
Website : www.jainsajjanmani.com,E-mail : vidhiprabha@gmail.com
ISBN 978-81-910801-6-2 (IX)